केनोपनिषद्

सानुवाद शाङ्करभाष्यसहित

[पद-भाष्य एवं वाक्य-भाष्य]

प्रकाशक-

गीताप्रेस, गोरखपुर

मुद्रक तथा प्रकाशक
घनश्यामदास जालान
गीताप्रेस, गोरखपुर

सं० १९९२
प्रथम संस्करण
३२५०

मूल्य ।।) आठ आना

निवेदन

केनोपनिषद् सामवेदीय तलवकार ब्राह्मणके अन्तर्गत है। इसमे आरम्भसे लेकर अन्तपर्यन्त सर्वप्रेरक प्रभुके ही स्वरूप और प्रभावका वर्णन किया गया है। पहले दो खण्डोमे सर्वाधिष्ठान परब्रह्मके पारमार्थिक स्वरूपका लक्षणासे निर्देश करते हुए परमार्थज्ञानकी अनिर्वचनीयता तथा ज्ञेयके साथ उसका अभेद प्रदर्शित किया है। इसके पश्चात् तीसरे और चौथे खण्डमे यक्षोपाख्यानद्वारा भगवान्का सर्वप्रेरकत्व और सर्वकर्तृत्व दिखलाया गया है। इसकी वर्णनशैली बड़ी ही उदात्त और गम्भीर है। मन्त्रोके पाठमात्रसे ही हृदय एक अपूर्व मस्तीका अनुभव करने लगता है। भगवती श्रुतिकी महिमा अथवा वर्णन-शैलीके सम्बन्धमे कुछ भी कहना सूर्यको दीपक दिखाना है।

इस उपनिषद्का विशेष महत्त्व तो इसीसे प्रकट होता है कि भगवान् भाष्यकारने इसपर दो भाष्य रचे है। एक ही ग्रन्थपर एक ही सिद्धान्तकी स्थापना करते हुए एक ही ग्रन्थकारद्वारा दो टीकाएँ लिखी गयी हो—ऐसा प्रायः देखा नहीं जाता। यहाँ यह शङ्का होती है कि ऐसा करनेकी उन्हे क्यों आवश्यकता हुई? वाक्य-भाष्यपर टीका आरम्भ करते हुए श्रीआनन्दगिरि स्वामी कहते है—'*केनेषितामित्यादिकां सामवेदशाखा-भेदब्राह्मणोपनिषदं पदशो व्याख्यायापि न तुतोष भगवान् भाष्यकारः शारीरकैर्न्यायैरनिर्णीतार्थत्वादिति न्यायप्रधानश्रुत्यर्थसंग्राहकैर्वाक्यैर्व्याचिख्यासुः*.........' अर्थात् 'केनेषितं' इत्यादि सामवेदीय शाखान्तर्गत ब्राह्मणोपनिषद्की पदशः व्याख्या करके भी भगवान् भाष्यकार सन्तुष्ट नहीं हुए, क्योंकि उसमे उसके अर्थका शारीरकशास्त्रानुकूल युक्तियोसे निर्णय नहीं किया गया था, अतः अब श्रुत्यर्थका निरूपण करनेवाले न्यायप्रधान वाक्योंसे व्याख्या करनेकी इच्छासे आरम्भ करते है।

इस उद्धरणसे सिद्ध होता है कि भगवान् भाष्यकारने पहले पद-भाष्यकी रचना की थी। उसमे उपनिपदर्थकी पदशः व्याख्या तो हो गयी थी; परन्तु युक्तिप्रधान वाक्योसे उसके तात्पर्यका विवेचन नही हुआ था। इसीलिये उन्हे वाक्य-भाष्य लिखनेकी आवश्यकता हुई। पद-भाष्यकी रचना अन्य भाष्योके ही समान है। वाक्य-भाष्यमे जहाँ-तहाँ और विशेषतया तृतीय खण्डके आरम्भमे युक्ति-प्रयुक्तियोद्वारा परमतका खण्डन और स्वमतका स्थापन किया गया है। ऐसे स्थानोमे भाष्यकारकी यह शैली रही है कि पहले शङ्का और उसके उत्तरको एक सूत्रसदृश वाक्यसे कह देते है और फिर उसका विस्तार करते हैं; जैसे प्रस्तुत पुस्तकके पृष्ठ ३ पर 'कर्मविषये चानुक्तिः तद्विरोधित्वात्' ऐसा कहकर फिर 'अस्य विजिज्ञासितव्यस्यात्मतत्त्वस्य कर्मविपयेऽवचनम्' इत्यादि ग्रन्थसे इसीकी व्याख्या की गयी है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पद-भाष्यमे प्रधानतया मूलकी पदशः व्याख्या की गयी है और वाक्य-भाष्यमे उसपर विशेष ध्यान न देकर विपयका युक्तियुक्त विवेचन करनेकी चेष्टा की गयी है। अँग्रेजी और बँगलामे जो उपनिषद्-भाष्यके अनुवाद प्रकाशित हुए है उनमे केवल पद-भाष्यका ही अनुवाद किया गया है, पण्डितवर श्रीपीताम्बरजीने जो हिन्दी-अनुवाद किया था उसमे भी केवल पद-भाष्य ही लिया गया था। मराठी-भापान्तरकार परलोकवासी पूज्यपाद पं० श्रीविष्णुवापट शास्त्रीने केवल वाक्य-भाष्यका अनुवाद किया है। हमे तो दोनों ही उपयोगी प्रतीत हुए; इसलिये दोनोहीका अनुवाद प्रकाशित किया जा रहा है। अनुवादोकी छपाईमे जो क्रम रक्खा गया है उससे उन दोनोंको तुलनात्मक दृष्टिसे पढ़नेमे बहुत सुभीता रहेगा। आशा है, हमारा यह अनधिकृत प्रयास पाठकोको कुछ रुचिकर हो सकेगा।

विनीत,

अनुवादक

श्रीहरिः

विषय-सूची

—⟩*⟨—

चतुर्थ खण्ड

उमा और इन्द्र

ॐ

तत्सद्ब्रह्मणे नमः

केनोपनिषद्

मन्त्रार्थ, शाङ्करभाष्य और भाष्यार्थसहित

येनेरिताः प्रवर्तन्ते प्राणिनः स्वेषु कर्मसु ।
तं वन्दे परमात्मानं स्वात्मानं सर्वदेहिनाम् ॥
यस्य पादांशुसम्भूतं विश्वं भाति चराचरम् ।
पूर्णानन्दं गुरुं वन्दे तं पूर्णानन्दविग्रहम् ॥

शान्तिपाठ

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु ।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

मेरे अङ्ग पुष्ट हो तथा मेरे वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, बल और सम्पूर्ण इन्द्रियाँ पुष्ट हो । यह सब उपनिषद्वेद्य ब्रह्म है । मै ब्रह्मका निराकरण न करूँ । ब्रह्म मेरा निराकरण न करे [अर्थात् मै ब्रह्मसे विमुख न होऊँ और ब्रह्म मेरा परित्याग न करे] इस प्रकार हमारा परस्पर अनिराकरण हो, अनिराकरण हो । उपनिषदोमे जो धर्म है वे आत्मा (आत्मज्ञान) मे लगे हुए मुझमे हो, वे मुझमे हो । त्रिविध तापकी शान्ति हो ।

प्रथम खण्ड

सम्बन्ध-भाष्य

पद-भाष्य

उपक्रमणिका

'केनेषितम्' इत्याद्योपनिषत् परब्रह्मविषया वक्तव्या इति नवमस्याध्यायस्य आरम्भः। प्रागेतस्मात्कर्माणि अशेषतः परिसमापितानि, समस्तकर्माश्रयभूतस्य च प्राणस्योपासनान्युक्तानि, कर्माङ्गसामविषयाणि

अत्र 'केनेषितम्' इत्यादि परब्रह्मविषयक उपनिषत् कहनी है इसलिये इस नवम अध्यायका * आरम्भ किया जाता है। इससे पूर्व सम्पूर्ण कर्मोंके प्रतिपादनकी सम्यक्रूपसे समाप्ति की गयी है, तथा समस्त कर्मोंके आश्रयभूत प्राणकी उपासना एवं कर्मकी अङ्गभूत सामोपासनाका वर्णन किया गया है। उसके पश्चात् जो गायत्रसाम-

वाक्य-भाष्य

उपक्रमणिका

समाप्तं कर्मात्मभूतप्राणविषयं विज्ञानं कर्म चानेकप्रकारम्, ययोर्विकल्पसमुच्चयानुष्ठानाद्दक्षिणोत्तराभ्यां सृतिभ्यामावृत्त्यनावृत्ती भवतः। अत ऊर्ध्वं फलनिरपेक्षज्ञानकर्मसमुच्चयानुष्ठानात्कृतात्मसंस्कारस्योच्छिन्नात्मज्ञानप्रतिबन्धकस्य

इससे पूर्व-ग्रन्थमे कर्मोंके आश्रयभूत प्राणविज्ञान तथा अनेक प्रकारके कर्मका निरूपण समाप्त हुआ, जिनके विकल्प[1] और समुच्चयके[2] अनुष्ठानसे दक्षिण और उत्तर मार्गोंद्वारा क्रमशः आवृत्ति' (आवागमन) और अनावृत्ति (क्रममुक्ति) हुआ करती है। इसके आगे देवता-ज्ञान और कर्मोंके समुच्चयका निष्काम भावसे अनुष्ठान करनेसे जिसने अपना चित्त शुद्ध कर लिया है, जिसका आत्मज्ञानका प्रतिबन्धकरूप

---

* यह उपनिषद् सामवेदीय तलवकार शाखाका नवम अध्याय है।

१. दोनोंमेंसे केवल एक। २. एक साथ दोनों।

पद-भाष्य

च। अनन्तरं च गायत्रसामविषयं दर्शनं वंशान्तमुक्तं कार्यम्।

सर्वमेतद्यथोक्तं कर्म च ज्ञानं च सम्यगनुष्ठितं निष्कामस्य मुमुक्षोः सत्त्वशुद्ध्यर्थं भवति।

विषयक विचार और शिष्यपरम्परारूप वंशके वर्णनमे समाप्त होनेवाले ग्रन्थसे कहा गया है वह कार्यरूप वस्तुका ही वर्णन है।

ऊपर बतलाया हुआ यह सम्पूर्ण कर्म और ज्ञान सम्यक् प्रकारसे सम्पादन किये जानेपर निष्काम मुमुक्षुकी तो चित्तशुद्धिके कारण होते है। तथा

वाक्य-भाष्य

द्वैतविषयदोषदर्शिनो निर्ज्ञाताशेषबाह्यविषयत्वात्संसारबीजमज्ञानमुच्चिच्छित्सतः प्रत्यगात्मविषयजिज्ञासोः केनेषितमित्यात्मस्वरूपतत्त्वविज्ञानायायमध्याय आरभ्यते। तेन च मृत्युपदम् अज्ञानमुच्छेत्तव्यं तत्तन्त्रो हि संसारो यतः। अनधिगतत्वाद् आत्मनो युक्ता तदधिगमाय तद्विषया जिज्ञासा।

दोष नष्ट हो गया है, जो द्वैतविषयमे दोष देखने लगा है तथा सम्पूर्ण बाह्य विषयोका तत्त्व जान लेनेके कारण जो संसारके बीजस्वरूप अज्ञानका उच्छेद करना चाहता है, उस आत्मतत्त्वके जिज्ञासुको आत्मस्वरूपके तत्त्वका ज्ञान करानेके लिये 'केनेषितम्' आदि मन्त्रसे यह (नवॉ) अध्याय आरम्भ किया जाता है। उस आत्मतत्त्वके ज्ञानसे ही मृत्युके कारणरूप अज्ञानका उच्छेद करना चाहिये, क्योंकि यह ससार अज्ञानमूलक ही है। आत्मतत्त्व अज्ञात है, इसलिये उसका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये आत्मविषयक जिज्ञासा उचित ही है।

ज्ञानकर्मविरोधः

कर्मविषये चानुक्तिः; तद्विरोधित्वात्। अस्य विजिज्ञासितव्यस्य आत्मतत्त्वस्य कर्मविषयेऽवचनम्।

कर्मकाण्डमें आत्मतत्त्वका निरूपण नहीं किया गया क्योंकि यह उसका विरोधी है। इस विशेषरूपसे जाननेयोग्य आत्मतत्त्वका कर्मकाण्डमें विवेचन नहीं किया जाता। यदि कहो

पद-भाष्य

सकामस्य तु ज्ञानरहितस्य केवलानि श्रौतानि स्मार्तानि च कर्माणि दक्षिणमार्गप्रतिपत्तये पुनरावृत्तये च भवन्ति । स्वाभाविक्या त्वशास्त्रीयया प्रवृत्त्या पश्वादिस्थावरान्ता अधोगतिः स्यात् । "अथैतयोः पथोर्न कतरेण च न तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति जायस्व म्रियस्वेत्येतत्तृतीयꣳ स्थानम्" (छा० उ० ५ । १० । ८) इति श्रुतेः;

ज्ञानरहित सकाम साधकके केवल श्रौत और स्मार्त कर्म दक्षिण मार्गकी प्राप्ति और पुनरावर्तनके हेतु होते हैं । इनके सिवा अशास्त्रीय स्वच्छन्द वृत्तिसे तो पशुसे लेकर स्थावरपर्यन्त अधोगति ही होती है। "ये [स्वच्छन्द प्रवृत्तिवाले जीव उत्तरायण और दक्षिणायन] इन दोनोंमेंसे किसी मार्गसे नहीं जाते; वे निरन्तर आवर्तन करनेवाले क्षुद्र जीव होते हैं; उनका 'जन्म लो और मरो' यह तीसरा स्थान (मार्ग) है"

वाक्य-भाष्य

कस्मादिति चेदात्मनो हि यथावद्विज्ञानं कर्मणा विरुध्यते । निरतिशयब्रह्मस्वरूपो ह्यात्मा विजिज्ञापयिषितः, "तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदम्०" (के० उ० १ । ४) इत्यादिश्रुतेः । न हि स्वाराज्येऽभिषिक्तो ब्रह्मत्वं गमितः कञ्चन नमितुमिच्छत्यतो ब्रह्मास्मीति सम्बुद्धो न कर्म कारयितुं शक्यते । न ह्यात्मानम् अवाप्तार्थं ब्रह्म मन्यमानः प्रवृत्तिं प्रयोजनवतीं पश्यति । न च

कि क्यों ? तो उसका कारण यह है कि आत्माका यथार्थ ज्ञान कर्मका विरोधी है, क्योंकि जिसका ज्ञान कराना अभीष्ट है वह आत्मा तो सर्वोत्कृष्ट ब्रह्मस्वरूप ही है, जैसा कि "तदेव ब्रह्म त्व विद्धि नेदं यदिदमुपासते" इत्यादि श्रुतिका कथन है । जो पुरुष स्वाराज्यपर अभिषिक्त होकर ब्रह्मभावको प्राप्त हो गया है वह किसीके भी सामने झुकनेकी इच्छा नहीं करता । अतः जिसने यह जान लिया है कि 'मैं ब्रह्म हूँ' उससे कर्म नहीं कराया जा सकता । अपने आत्माको आप्तकाम ब्रह्म माननेवाला पुरुष किसी भी प्रवृत्तिको प्रयोजनवती नहीं देखता और कोई भी

पद-भाष्य

"प्रजा ह तिस्रोऽत्यायमीयुः" (ऐ० आ० २ । १ । १ । ४) इति च मन्त्रवर्णात् ।

इस श्रुतिसे और "तीन प्रसिद्ध प्रजाओंने धर्मत्याग किया" इस मन्त्रवर्णसे भी [यही बात सिद्ध होती है] ।

ज्ञानाधिकारि-निरूपणम्

विशुद्धसत्त्वस्य तु निष्कामस्य एव बाह्यादनित्यात् साध्यसाधनसम्बन्धाद् इह कृतात्पूर्वकृताद्वा संस्कार-विशेषोद्भवाद्विरक्तस्य प्रत्यगात्म-विषया जिज्ञासा प्रवर्तते । तदेतद्वस्तु प्रश्नप्रतिवचनलक्षणया

जो इस जन्म और पूर्व जन्ममें किये हुए कर्मोंके संस्कारविशेषसे उद्भूत बाह्य एवं अनित्य साध्य-साधनके सम्बन्धसे विरक्त हो गया है उस विशुद्धचित्त निष्काम पुरुष-को ही प्रत्यगात्मविषयक जिज्ञासा हो सकती है । यही बात 'केनेषितम्' इत्यादि प्रश्नोत्तररूपा

वाक्य-भाष्य

निष्प्रयोजना प्रवृत्तिरतो विरुध्यत एव कर्मणा ज्ञानम् । अतः कर्म-विषयेऽनुक्तिः,विज्ञानविशेषविषया एव जिज्ञासा ।

प्रवृत्ति बिना प्रयोजनके हो नहीं सकती, अतः कर्मसे ज्ञानका विरोध है ही । इसीलिये कर्मकाण्डमें आत्म-ज्ञानका उल्लेख नहीं है; अर्थात् जिज्ञासा किसी विज्ञानविशेषके सम्बन्धमें ही होती है ।

कर्मानारम्भ इति चेन्न; निष्कामस्य संस्कारार्थत्वात् ।

यदि कहो कि तब तो कर्मका आरम्भ ही न किया जाय तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि निष्काम कर्म पुरुषका संस्कार करनेवाला है ।

यदि ह्यात्मविज्ञानेनात्माविद्या-विषयत्वात्परितित्याजयिषितं कर्म, ततः "प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूराद-स्पर्शनं वरम्" (म० वन० २ । ४९)

पूर्व०—यदि आत्माके अज्ञानका कारण होनेसे आत्मज्ञानद्वारा कर्मका परित्याग कराना ही अभीष्ट है तो "कीचड़को धोनेकी अपेक्षा तो उसे दूरसे न छूना ही अच्छा है" इस

पद-भाष्य

श्रुत्या प्रदर्श्यते 'केनेषितम्' इत्याद्यया । काठके चोक्तम् "पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्। कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्" (क० उ० २।१।१) इत्यादि। "परीक्ष्यलोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो

श्रुतिद्वारा दिखलायी जाती है। कठोपनिषद्मे तो कहा है—"स्वयम्भू परमात्माने इन्द्रियोको बहिर्मुख करके हिंसित कर दिया है; इसलिये इन्द्रियाँ बाहरकी ओर ही देखती है, अन्तरात्माको नहीं देखती; किसी-किसी बुद्धिमान्ने ही अमरत्वकी इच्छा करते हुए अपनी इन्द्रियोको रोककर प्रत्यगात्माका साक्षात्कार किया है" इत्यादि। तथा अथर्ववेदीय (मुण्डक) उपनिषद्मे भी कहा है—"ब्रह्मनिष्ठ पुरुष कर्मद्वारा प्राप्त होनेवाले

वाक्य-भाष्य

इत्यनारम्भ एव कर्मणः श्रेयान्। अल्पफलत्वादायासबहुलत्वात् तत्त्वज्ञानादेव च श्रेयःप्राप्तेः; इति चेत्।

उक्तिके अनुसार कर्मको आरम्भ न करना ही उत्तम है क्योकि वह अल्प फलवाला और अधिक परिश्रमवाला है तथा आत्यन्तिक कल्याण तत्त्वविज्ञानसे ही होता है।

चित्तशुद्ध्यै कर्मावश्यकम् प्राप्तज्ञानस्य तु तदनारम्भः

सत्यम्; एतदविद्याविषयं कर्माल्पफलत्वादिदोषवद्बन्धरूपं च सकामस्य "कामान् यः कामयते" (मु० उ० ३।२।२) "इति नु कामयमानः" इत्यादिश्रुतिभ्यः; न निष्कामस्य। तस्य तु संस्कारार्थान्येव कर्माणि

सिद्धान्ती-ठीक है, परन्तु यह अविद्यामूलक कर्म "जो भोगोकी कामना करता है" तथा "इस प्रकार जो कामना करनेवाला है" इत्यादि श्रुतियोके अनुसार सकाम पुरुषके लिये ही अल्पफलत्वादि दोषोसे युक्त तथा बन्धनकारक है; निष्काम पुरुषके लिये नही। उसके लिये तो कर्म अपने निर्वर्तक (निष्पन्न करनेवाले) और आश्रयभूत प्राणोके विज्ञानके सहित

पद-भाष्य

निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन । तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्" (मु० उ० १ । २ । १२) इत्याद्याथर्वणे च ।

लोकोंकी परीक्षा कर वैराग्यको प्राप्त हो जाय, क्योंकि कृत (कर्म) के द्वारा अकृत (नित्यस्वरूप मोक्ष) प्राप्त नहीं हो सकता । उसका विशेष ज्ञान प्राप्त करनेके लिये तो उस (जिज्ञासु) को हाथमें समिधा लेकर श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरुके ही पास जाना चाहिये" इत्यादि ।

निवृत्ताज्ञानस्य कृतकृत्यता-प्रदर्शनम्

एवं हि विरक्तस्य प्रत्यगात्मविषयं विज्ञानं श्रोतुं मन्तुं विज्ञातुं च सामर्थ्यमुपपद्यते, नान्यथा । एतस्माच्च प्रत्यगात्म-

केवल इस प्रकारसे ही विरक्त पुरुषको प्रत्यगात्मविषयक विज्ञानके श्रवण, मनन और साक्षात्कारकी क्षमता हो सकती है, और किसी तरह नहीं । इस प्रत्यगात्माके

वाक्य-भाष्य

भवन्ति तन्निर्वर्तकाश्रयप्राणविज्ञानसहितानि । "देवयाजी श्रेयानात्मयाजी वा" इत्युपक्रम्यात्मयाजी तु करोति "इदं मेऽनेनाङ्गं संस्क्रियते इति" संस्कारार्थमेव कर्माणीति वाजसनेयके । "महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः" (मनु० २ । २८) "यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्" (गीता १८ । ५) इत्यादि स्मृतेश्च ।

संस्कारके ही कारण होते हैं । "देवयाजी श्रेष्ठ है या आत्मयाजी" इस प्रकार आरम्भ करके वाजसनेय श्रुतिमें कहा है कि आत्मयाजी अपने संस्कारके लिये ही यह समझकर कर्म करता है कि "इससे मेरे इस अंगका संस्कार होगा" । "यह शरीर महायज्ञ और यज्ञोंद्वारा ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिके योग्य किया जाता है ।" "यज्ञ, दान और तप—ये विद्वानोंको पवित्र करनेवाले ही हैं" इत्यादि स्मृतियोंसे भी यही बात सिद्ध होती है ।

प्राणादिविज्ञानं च केवलं कर्मसमुच्चितं वा सकामस्य प्राणात्म-

अकेला या कर्मके साथ मिला हुआ होनेपर भी प्राणादि विज्ञान सकाम

पद-भाष्य

ब्रह्मविज्ञानात्संसारबीजमज्ञानं कामकर्मप्रवृत्तिकारणमशेषतो निवर्तते, "तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः" (ई० उ० ७) इति मन्त्रवर्णात्, "तरति शोकमात्मवित्" (छा० उ० ७।१।३) इति, "भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे" (मु० उ० २।२।८) इत्यादिश्रुतिभ्यश्च ।

ब्रह्मतत्त्वविज्ञानसे ही कामना और कर्मकी प्रवृत्तिका कारण तथा संसारका बीजभूत अज्ञान पूर्णतया निवृत्त हो सकता है; जैसा कि "उस अवस्थामे एकत्व देखनेवाले पुरुषको क्या मोह और क्या शोक हो सकता है" इत्यादि मन्त्रवर्ण तथा "आत्मज्ञानी शोकको पार कर जाता है" "उस परावरको देख लेनेपर उसकी हृदय-ग्रन्थि टूट जाती है, सारे सन्देह नष्ट हो जाते है और समस्त कर्म क्षीण हो जाते है" इत्यादि श्रुतियोसे सिद्ध होता है ।

वाक्य-भाष्य

प्राप्त्यर्थमेव भवति । निष्कामस्य त्वात्मज्ञानप्रतिबन्धनिर्मार्ष्ट्यै भवति; आदर्शनिर्मार्जनवत् । उत्पन्नात्मविद्यस्य त्वनारम्भो निरर्थकत्वात् । "कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते । तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः" (महा० शा० २४२ । ७) इति । "क्रियापथश्चैव पुरस्तात्संन्यासश्च तयोः संन्यास एवात्यरेचयत्" इति

पुरुषके लिये तो प्राणत्व-प्राप्तिका ही कारण होता है, किन्तु निष्काम पुरुषके लिये वह दर्पणके मार्जनके समान आत्मज्ञानके प्रतिबन्धकोका निवर्तक होता है । हॉ, जिसे आत्मज्ञान प्राप्त हो गया है उसके लिये निष्प्रयोजन होनेके कारण कर्मके आरम्भकी अपेक्षा नहीं है । जैसा कि "जीव कर्मसे बॅधता है और आत्मज्ञानसे मुक्त हो जाता है, इसलिये पारदर्शी यतिजन कर्म नही करते" "पूर्वकालमे कर्ममार्ग और संन्यास [दो मार्ग] थे उनमे-संन्यास ही उत्कृष्ट था" "किन्हीने त्यागसे

पद-भाष्य

कर्मसहितादपि ज्ञानादेतत् सिध्यतीति चेत् ?

न; वाजसनेयके तस्यान्य- कारणत्ववचनात् । "जाया मे स्यात्" (बृ० उ० १।४।१७) इति प्रस्तुत्य "पुत्रेणायं लोको जय्यो नान्येन कर्मणा, कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोकः" (बृ० उ० १।५।१६) इत्यात्मनोऽन्यस्य लोकत्रयस्य कारणत्वमुक्तं वाजसनेयके ।

समुच्चयवाद-खण्डनम्

पूर्व०—यह बात तो कर्मसहित ज्ञानसे भी सिद्ध हो सकती है न ?

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि वाजसनेय (बृहदारण्यक) श्रुतिमे उस (कर्मसहित ज्ञान) को अन्य फलका कारण बतलाया है । "मुझे स्त्री प्राप्त हो" इस प्रकार आरम्भ करके वाजसनेय श्रुतिमे "यह लोक पुत्रद्वारा प्राप्त किया जा सकता है और किसी कर्मसे नहीं; कर्मसे पितृलोक मिलता है और विद्या (उपासना) से देवलोक" इस प्रकार उसे आत्मासे भिन्न लोकत्रय-का ही कारण बतलाया है ।

वाक्य-भाष्य

"त्यागेनैके०" (कै० उ० १।२) "नान्यः पन्था विद्यते०" (श्वे० उ० ३।८) इत्यादिश्रुतिभ्यश्च ।

न्यायाच्च; उपायभूतानि हि कर्माणि संस्कारद्वारेण ज्ञानस्य । ज्ञानेन त्वमृतत्वप्राप्तिः, "अमृतत्वं हि विन्दते" (के० उ० २।४) "विद्यया विन्दतेऽमृतम्" (के० उ० २।४) इत्यादिश्रुतिस्मृति-भ्यश्च । न हि नद्याः पारगो नावं

[अमरत्व प्राप्त किया]" तथा "[इसके सिवा] और कोई मार्ग नहीं है" इत्यादि श्रुतियोंसे भी सिद्ध होता है ।

युक्तिसे भी [कर्म ज्ञानके साक्षात् साधन नहीं है ।] कर्म तो चित्तशुद्धिके द्वारा ज्ञानके साधन हैं । अमृतत्वकी प्राप्ति तो ज्ञानसे ही होती है जैसा कि "[ज्ञानसे] अमृतत्व ही प्राप्त कर लेता है" "विद्यासे अमृतको पा लेता है" इत्यादि श्रुति-स्मृतियोंसे प्रमाणित होता है । जो मनुष्य नदीके पार पहुँच गया है वह अपने अभीष्ट

पद-भाष्य

तत्रैव च पारिव्राज्यविधाने हेतुरुक्तः "किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्मायं लोकः" (बृ० उ० ४।४।२२) इति। तत्रायं हेत्वर्थः—प्रजाकर्मतत्संयुक्तविद्याभिर्मनुष्यपितृदेवलोकत्रयसाधनैरनात्मलोकप्रतिपत्तिकारणैः किं करिष्यामः। न चास्माकं लोकत्रयमनित्यं साधनसाध्यमिष्टम्, येषामस्माकं स्वाभा-

वहाँ (उस बृहदारण्यकोपनिषद्में) ही संन्यास ग्रहण करनेमें यह हेतु बतलाया है—"हम प्रजाको लेकर क्या करेंगे, जिन हमे कि यह आत्मलोक ही अभीष्ट है ?" उस हेतुका अभिप्राय इस प्रकार है—'मनुष्यलोक, पितृलोक और देवलोक—इन तीन लोकोके साधन अनात्मलोकोकी प्राप्तिके हेतुभूत प्रजा, कर्म और कर्मसहित ज्ञानसे हमे क्या करना है; क्योकि हमलोगोंको जिन्हे कि, स्वाभाविक, अजन्मा,

वाक्य-भाष्य

न मुञ्चति यथेष्टदेशगमनं प्रति स्वातन्त्र्ये सति।

स्थानपर जानेके लिये स्वतन्त्रता प्राप्त होनेपर भी नौकाको न छोड़े—ऐसा कभी नही होता।

आत्मनः अविकार्यत्वादिनिरूपणम्

न हि स्वभावसिद्धं वस्तु सिषाधयिषति साधनैः। स्वभावसिद्धश्चात्मा, तथा न आपिपयिषितः; आत्मत्वे सति नित्याप्तत्वात्। नापि विचिकारयिषितः; आत्मत्वे सति नित्यत्वादविकारित्वात् अविषयत्वादमूर्तत्वाच्च।

जो वस्तु स्वतः सिद्ध है उसे कोई भी पुरुष साधनोसे सिद्ध नही करना चाहता। आत्मा भी स्वभाव-सिद्ध है; और इसीलिये वह प्राप्त करनेकी इच्छा करने योग्य नही है, क्योंकि आत्मस्वरूप होनेके कारण वह नित्य-प्राप्त ही है। इसी प्रकार उसका विकार भी इष्ट नही है क्योंकि आत्मा होनेके साथ ही वह नित्य, अविकारी, अविषय तथा अमूर्त्त भी है।

पद-भाष्य

विक्रोऽजोऽजरोऽमृतोऽभयो न वर्धते कर्मणा नो कनीयान्नित्यश्च लोक इष्टः । स च नित्यत्वान्नाविद्यानिवृत्तिव्यतिरेकेणान्यसाधननिष्पाद्यः । तस्मात्प्रत्यगात्मब्रह्मविज्ञानपूर्वकः सर्वैषणासंन्यास एव कर्तव्य इति ।

अजर, अमर, अभय और जो कर्मसे घटता-बढ़ता नहीं है वह नित्यलोक ही इष्ट है, साधनद्वारा प्राप्त होनेवाला अनित्य लोकत्रय तो इष्ट है नहीं । और वह (आत्मलोक) तो नित्य होनेके कारण अविद्यानिवृत्तिके सिवा अन्य किसी भी साधनसे प्राप्त होने योग्य है नहीं । अतः हमको आत्मा और ब्रह्मके एकत्वज्ञानपूर्वक सब प्रकारकी एषणाओंका त्याग ही करना चाहिये ।

वाक्य-भाष्य

श्रुतेश्च "न वर्धते कर्मणा" (बृ० उ० ४ । ४ । २३) इत्यादि । स्मृतेश्च "अविकार्योऽयमुच्यते" (गीता २ । २५) इति । न च सञ्चिकीर्षितः "शुद्धमपापविद्धम्" (ई० उ० ८) इत्यादिश्रुतिभ्यः; अनन्यत्वाच्च; अन्येनान्यत्संस्क्रियते । न चात्मनोऽन्यभूता क्रिया अस्ति, न च स्वेनैवात्मना स्वमात्मानं सञ्चिकीर्षेत् । न च वस्त्वन्तराधानं नित्यप्राप्तिर्वा वस्त्वन्तरस्य

इसके सिवा श्रुतिसे "आत्मा कर्मसे बढ़ता नहीं है" इत्यादि और स्मृतिसे भी "यह आत्मा अविकार्य कहा जाता है" इत्यादि कहा गया है । "शुद्ध और पापरहित" इत्यादि श्रुतियोंसे [प्रकट होता है कि] आत्माका संस्कार करना भी अभीष्ट नहीं है । इसके सिवा अपनेसे अभिन्न होनेके कारण भी वह संस्कार्य नहीं है क्योंकि संस्कार अन्य वस्तुके द्वारा अन्यका ही हुआ करता है । आत्मासे भिन्न कोई क्रिया भी नहीं है; और स्वयं आत्माके योगसे ही आत्माके संस्कारकी इच्छा कोई न करेगा । एक वस्तुका दूसरी वस्तुपर आधान करना अथवा एक वस्तुको दूसरी वस्तुका प्राप्त होना नित्य नहीं हो

पद-भाष्य

ज्ञानकर्मविरोध-प्रदर्शनम्

कर्मसहभावित्वविरोधाच्च प्रत्यगात्मब्रह्मविज्ञानस्य । न ह्युपात्तकारकफलभेदविज्ञानेन कर्मणा प्रत्यस्तमितसर्वभेददर्शनस्य प्रत्यगात्मब्रह्मविषयस्य सहभावित्वम् उपपद्यते, वस्तुप्राधान्ये सति अपुरुषतन्त्रत्वाद्ब्रह्मविज्ञानस्य । तस्माद्दृष्टादृष्टेभ्यो बाह्यसाधनसाध्येभ्यो विरक्तस्य प्रत्यगात्मविषया ब्रह्मजिज्ञासेयम् 'केनेषितम्' इत्यादिश्रुत्या प्रदर्श्यते । शिष्याचार्यप्रश्नप्रतिवचनरूपेण कथनं तु सूक्ष्मवस्तुविषयत्वात् सुखप्रतिपत्तिकारणं भवति । केवलतर्कागम्यत्वं च दर्शितं भवति ।

इसके सिवा आत्मा और ब्रह्मके एकत्वज्ञानका कर्मके साथ-साथ होनेमे विरोध भी है । जिसमे [कर्ता-कर्मादि] कारक और [स्वर्गादि] फलका भेद स्वीकार किया गया है उस कर्मके साथ सम्पूर्ण भेददृष्टिसे रहित ब्रह्म और आत्माकी एकताके ज्ञानका रहना संगत नहीं है, क्योकि ब्रह्मज्ञान तो वस्तुप्रधान होनेके कारण पुरुष (कर्ता) के अधीन नहीं है । अत इस 'केनेषितम्' इत्यादि श्रुतिके द्वारा यह दृष्ट और अदृष्ट बाह्यसाधन एवं साध्योसे विरक्त हुए पुरुषकी ही प्रत्यगात्मविषयक ब्रह्मजिज्ञासा दिखलायी जाती है । शिष्य और आचार्यके प्रश्नोत्तररूपसे यह कथन वस्तुका सुगमतासे ज्ञान करानेमें कारण है क्योंकि यह विषय सूक्ष्म है । इसके सिवा केवल तर्कद्वारा इसकी अगम्यता भी दिखलायी गयी है ।

वाक्य-भाष्य

नित्या । नित्यत्वं चेष्टं मोक्षस्य । अत उत्पन्नविद्यस्य कर्मारम्भोऽनुपपन्नः, अतो व्यावृत्तबाह्यबुद्धेः आत्मविज्ञानाय केनेषितमित्याद्यारम्भः ।

सकती, और मोक्षकी नित्यता ही इष्ट है । इसलिये जिसे आत्मज्ञान हो गया है उसके लिये कर्मका आरम्भ नहीं बन सकता । अतः जिसकी बाह्य-बुद्धि निवृत्त हो गयी है उसे आत्मतत्त्वका ज्ञान करानेके लिये 'केनेषितम्' इत्यादि उपनिषद् आरम्भ की जाती है ।

१. अर्थात् आत्मापर परमानन्दत्व आदि गुणोका आधान या उसका ब्रह्माण्ड-बाह्य ब्रह्मको प्राप्त होना नित्य नहीं हो सकता ।

पद-भाष्य

"नैषा तर्केण मतिरापनेया" (क० उ० १।२।९) इति श्रुतेश्च। "आचार्यवान्पुरुषो वेद" (छा० उ० ६।१४।२) "आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापदिति" (छा० उ० ४।९।३) "तद्विद्धि प्रणिपातेन" (गीता ४।३४) इत्यादिश्रुतिस्मृतिनियमाच्च कश्चिद्गुरुं ब्रह्मनिष्ठं विधिवदुपेत्य प्रत्यगात्मविषयादन्यत्र शरणम् अपश्यन्नभयं नित्यं शिवमचलम् इच्छन्पप्रच्छेति कल्प्यते—

गुरूपसत्ति.

"यह बुद्धि तर्कद्वारा प्राप्त होने योग्य नही है" इस श्रुतिसे भी यही बात सिद्ध होती है। अतः "आचार्यवान् पुरुष [ब्रह्मको] जानता है" "आचार्यसे प्राप्त हुई विद्या ही उत्कृष्टताको प्राप्त होती है" "उसे साष्टाङ्ग प्रणामके द्वारा जानो" इत्यादि श्रुति-स्मृतिके नियमानुसार किसी शिष्यने प्रत्यगात्मविषयक ज्ञानके सिवा कोई और शरण (आश्रय) न देखकर उस निर्भय, नित्य, कल्याणमय अचल पदकी इच्छा करते हुए किसी ब्रह्मनिष्ठ गुरुके पास विधिपूर्वक जाकर पूछा—यही बात [आगेकी श्रुतिसे] कल्पना की जाती है—

वाक्य-भाष्य

प्रवृत्तिलिङ्गाद्विशेषार्थः प्रश्न उपपन्नः। रथादीनां हि चेतनावदधिष्ठितानां प्रवृत्तिर्दृष्टा न अनधिष्ठितानाम्। मन आदीनां च अचेतनानां प्रवृत्तिर्दृश्यते। तद्धि लिङ्गं चेतनावतोऽधिष्ठातुः अस्तित्वे। करणानि हि मन आदीनि नियमेन प्रवर्तन्ते।

[मन आदि अचेतन पदार्थोंकी] प्रवृत्तिरूप लिङ्गसे [उनकी प्रेरणा करनेवाले] किसी विशेष तत्त्वके विषयमे प्रश्न करना ठीक ही है, क्योंकि रथ आदि [अचेतन पदार्थों] की प्रवृत्ति भी चेतन प्राणियोंसे अधिष्ठित होकर ही देखी है, उनसे अधिष्ठित हुए विना नही देखी। मन आदि अचेतन पदार्थोंकी भी प्रवृत्ति देखी ही जाती है। यही उनके चेतन अधिष्ठाताके अस्तित्वका अनुमापक लिङ्ग है। मन आदि इन्द्रियाँ नियमसे

प्रेरकविषयक प्रश्न

ॐ केनेषितं पतति प्रेषितं मनः । केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः । केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति ॥ १ ॥

यह मन किसके द्वारा इच्छित और प्रेरित होकर अपने विषयोंमें गिरता है ? किससे प्रयुक्त होकर प्रथम (प्रधान) प्राण चलता है ? प्राणी किसके द्वारा इच्छा की हुई यह वाणी बोलते हैं ? और कौन देव चक्षु तथा श्रोत्रको प्रेरित करता है ? ॥ १ ॥

पद-भाष्य

केन इषितं केन कर्त्रा इषितम् इष्टमभिप्रेतं सत् मनः पतति

केन इषितम्—किस कर्ताके द्वारा इच्छित अर्थात् अभिप्रेत हुआ मन अपने विषयकी ओर जाता

वाक्य-भाष्य

तन्नासति चेतनावत्यधिष्ठातरि उपपद्यते । तद्विशेषस्य चानधिगमाच्चेतनावत्सामान्ये चाधिगते विशेषार्थः प्रश्न उपपद्यते ।

प्रवृत्त हो रही हैं उनकी प्रवृत्ति बिना किसी चेतन अधिष्ठाताके बन नहीं सकती । इस प्रकार सामान्य चेतनका ज्ञान होनेपर भी उसके विशेष रूपका ज्ञान न होनेके कारण यह विशेष-विषयक प्रश्न उचित ही है ।

केनेषितम् केनेष्टं कस्येच्छामात्रेण मनः पतति गच्छति स्वविषये नियमेन व्याप्रियत इत्यर्थः । मनुतेऽनेनेति विज्ञाननिमित्तमन्तःकरणं मनः प्रेषितम् इवेत्युपमार्थः । न त्विषित-

केन इषितम्—किससे इच्छा किया हुआ अर्थात् किसकी इच्छामात्रसे मन अपने विषयोंकी ओर गिरता अर्थात् जाता है ? यानी वह किसकी इच्छासे अपने विषयमें नियमानुसार व्यापार करता है ? जिससे मनन करते हैं वह विज्ञाननिमित्तक अन्तःकरण मन है । यहाँ 'किसके द्वारा प्रेषित हुआ-सा'—ऐसा उपमापरक अर्थ लेना चाहिये ।

पद-भाष्य

गच्छति स्वविषयं प्रतीति सम्बध्यते इषेराभीक्ष्ण्यार्थस्य गत्यर्थस्य चेहासम्भवादिच्छार्थस्यैवैतद्रूपमिति गम्यते। इषितमिति इट्प्रयोगस्तुच्छान्दसः। तस्यैव प्रपूर्वस्य नियोगार्थे प्रेषितमित्येतत्। तत्र प्रेषितमित्येवोक्ते प्रेषयितृप्रेषणविशेषविषयाकाङ्क्षा स्यात्—केन प्रेषयितृविशेषेण, कीदृशं वा प्रेषणमिति। इषितमिति तु विशेषणे सति तदुभयं निवर्तते, कस्येच्छामात्रेण प्रेषितमित्यर्थविशेषनिर्धारणात्।

है—यहाँ 'पतति' क्रियाके साथ 'स्वविषयं प्रति' का सम्बन्ध (अन्वय) है। यहाँ आभीक्ष्ण्य और गत्यर्थक * 'इष्' धातु सम्भव न होनेके कारण यह इच्छार्थक 'इष्' धातुका ही [इषितम्] रूप है—ऐसा जाना जाता है। ['इष्टम्' के स्थानमे 'इषितम्'] यह इट्-प्रयोग छान्दस (वैदिक)† है। उस प्र-पूर्वक 'इष्' धातुका ही प्रेरणा अर्थमे 'प्रेषितम्' रूप हुआ है। यदि यहाँ केवल 'प्रेषितम्' इतना ही कहा होता तो प्रेषण करनेवाले और उसके प्रेषण-प्रकारके सम्बन्धमे ऐसी शङ्का हो सकती थी कि किस प्रेषकविशेषके द्वारा और किस प्रकार प्रेषण किया हुआ? अतः यहाँ 'इषितम्' इस विशेषणके रहनेसे ये दोनो शङ्काएँ निवृत्त हो जाती है, क्योकि 'इससे किसीकी इच्छामात्रसे प्रेषित हुआ' यह विशेष अर्थ हो जाता है।

वाक्य-भाष्य

प्रेषितशब्दयोरर्थाविह सम्भवतः। न हि शिष्यानिव मन आदीनि

'इषित' और 'प्रेषित' शब्दोके मुख्य अर्थ यहाँके लिये सम्भव नही है, क्योकि आत्मा मन आदिको विषयोकी

* इष् धातुके अर्थ आभीक्ष्ण्य (बारम्बार होना) गति और इच्छा हैं।

† व्याकरणका यह सिद्धान्त है कि 'छन्दसि दृष्टानुविधिः' वेदमें जो प्रयोग जैसे देखे गये हैं वहाँके लिये उनका वैसा ही विधान माना गया है।

पद-भाष्य

यद्येषोऽर्थोऽभिप्रेतः स्यात्, केनेषितमित्येतावतैव सिद्धत्वात्प्रेषितमिति न वक्तव्यम् । अपि च शब्दाधिक्यादर्थाधिक्यं युक्तमिति इच्छया कर्मणा वाचा वा केन प्रेषितमित्यर्थविशेषोऽवगन्तुं युक्तः ।

मन्त्रार्थ-मीमांसा

न, प्रश्नसामर्थ्यात्; देहादिसंघातादनित्यात्कर्मकार्याद्विरक्तः

शङ्का—यदि यही अर्थ अभिमत था तो 'केनेषितम्' इतनेहीसे सिद्ध हो सकनेके कारण 'प्रेषितम्' ऐसा और नहीं कहना चाहिये था। इसके अतिरिक्त शब्दोंकी अधिकतासे अर्थकी अधिकता होनी उचित है इसलिये 'इच्छा' कर्म अथवा वाणी इनमेंसे किसके द्वारा प्रेषित, इस प्रकार प्रेषकविशेषका ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक होगा ।

समाधान—नहीं, प्रश्नकी सामर्थ्यसे यह बात प्रतीत नहीं होती; क्योंकि इससे यह निश्चय होता है कि जो पुरुष देहादि सङ्घातरूप अनित्य कर्म और कार्यसे विरक्त हो गया है

वाक्य-भाष्य

विषयेभ्यः प्रेषयत्यात्मा । विविक्तनित्यचित्स्वरूपतया तु निमित्तमात्रं प्रवृत्तौ नित्यचिकित्साधिष्ठातृवत् ।

और इस प्रकार नहीं भेजता जैसे गुरु शिष्योंको । वह तो सबसे विलक्षण और नित्य चित्स्वरूप होनेके कारण नित्य चिकित्साके अधिष्ठाता [चकोर पक्षी] के समान उनकी प्रवृत्तिमें केवल निमित्तमात्र है ।

१. राजा लोग जब भोजन करते हैं तो उसमें विष मिला हुआ तो नहीं है' इसकी परीक्षाके लिये उसे चकोरके सामने रख देते हैं । विषमिश्रित अन्नको देखकर चकोरकी आँखोंका रंग बदल जाता है । इस प्रकार चकोरकी केवल सन्निधिमात्रसे ही राजाकी भोजनमें प्रवृत्ति हो जाती है । इसके लिये उसे और कुछ नहीं करना पड़ता ।

पद-भाष्य

अतोऽन्यत्कूटस्थं नित्यं वस्तु बुभुत्समानः पृच्छतीति सामर्थ्यादुपपद्यते। इतरथा इच्छावाकर्मभिर्देहादिसंघातस्य प्रेरयितृत्वं प्रसिद्धमिति प्रश्नोऽनर्थक एव स्यात्।

और इनसे पृथक् कूटस्थ नित्य वस्तुको जाननेकी इच्छा करनेवाला है वही यह बात पूछ रहा है। अन्यथा इच्छा, वाक् और कर्मके द्वारा तो इस देहादि सङ्घातका प्रेरकत्व प्रसिद्ध ही है [अर्थात् इच्छा, वाणी और कर्मके द्वारा यह देहादि सङ्घात मनको प्रेरित किया करता है—इस बातको तो सभी जानते हैं]। अतः यह प्रश्न निरर्थक ही हो जाता।

एवमपि प्रेपितशब्दस्यार्थो न प्रदर्शित एव।

शङ्का—किन्तु इस प्रकार भी 'प्रेपित' शब्दका अर्थ तो प्रदर्शित हुआ ही नहीं।

न; संशयवतोऽयं प्रश्न इति प्रेपितशब्दस्यार्थविशेष उपपद्यते। किं यथाप्रसिद्धमेव कार्यकारणसंघातस्य प्रेपयितृत्वम्, किं वा संघातव्यतिरिक्तस्य स्वतन्त्रस्य इच्छामात्रेणैव मनआदिप्रेपयितृ-

समाधान—नहीं, यह प्रश्न किसी संशयालुका है इसीसे 'प्रेपित' शब्दका अर्थविशेष उपपन्न हो सकता है [अर्थात् जिसे ऐसा सन्देह है कि] यह प्रेरक-भाव सर्वप्रसिद्ध भूत और इन्द्रियोंके संघातरूप देहमें है, अथवा उस सङ्घातसे भिन्न किसी स्वतन्त्र वस्तुमें ही केवल इच्छामात्रसे मन आदिकी प्रेरकता है ? इस

वाक्य-भाष्य

प्राण इति नासिकाभवः; प्रकरणात्। प्रथमत्वं प्रचलनक्रियायाः प्राणनिमित्तत्वात्स्वतो

यहाँ प्रकरणवश 'प्राण' शब्दसे नासिकामें रहनेवाला वायु समझना चाहिये। चलन-क्रिया प्राण-निमित्तक होनेसे प्राणको प्रधान माना गया है।

पद-भाष्य

त्वम्, इत्यस्यार्थस्य प्रदर्शनार्थं केनेषितं पतति प्रेषितं मन इति विशेषणद्वयमुपपद्यते।

मन-प्रभृतीनां पारतन्त्र्य-प्रदर्शनम्

ननु स्वतन्त्रं मनः स्वविषये स्वयं पततीति प्रसिद्धम्; तत्र कथं प्रश्न उपपद्यत इति, उच्यते—यदि स्वतन्त्रं मनः प्रवृत्ति-निवृत्तिविषये स्यात्, तर्हि सर्वस्य अनिष्टचिन्तनं न स्यात्। अनर्थं च जानन्सङ्कल्पयति। अभ्यग्र-

प्रकार इस अभिप्रायको प्रदर्शित करनेके लिये ही 'किसके द्वारा इच्छित और प्रेपित किया हुआ मन [अपने विपयकी ओर] जाता है' ऐसे दो विशेपण ठीक हो सकते है।

यदि कहो कि यह बात तो प्रसिद्ध ही है कि मन स्वतन्त्र है और वह स्वयं ही अपने विपयोकी ओर जाता है; फिर उसके विषयमे यह प्रश्न कैसे बन सकता है? तो इसके उत्तरमें हमारा कहना है कि यदि मन प्रवृत्ति-निवृत्तिमे स्वतन्त्र होता तो सभीको अनिष्ट-चिन्तन होना ही नहीं चाहिये था। किन्तु मन जान-बूझकर भी अनर्थ-चिन्तन करता है और रोके

वाक्य-भाष्य

विषयावभासमात्रं करणानां प्रवृत्तिः। चलिक्रिया तु प्राणस्यैव मनआदिषु। तस्मात्प्राथम्यं प्राणस्य। प्रैति गच्छति युक्तः प्रयुक्त इत्येतत्। वाचो वदनं किं निमित्तं प्राणिनां चक्षुःश्रोत्रयोश्च को देवः प्रयोक्ता। करणानाम् अधिष्ठाता चेतनावान्यः स किं-विशेषण इत्यर्थः॥ १॥

इन्द्रियोकी स्वतः प्रवृत्ति तो केवल विषयोका प्रकाशनमात्र ही है। मन आदिमे चलन-क्रिया तो प्राण-हीकी है; इसीलिये प्राणकी प्रधानता है। वह प्राण किससे युक्त अर्थात् प्रेरित होकर गमन करता यानी चलता है। वाणीका भाषण भी किस निमित्तसे होता है? प्राणियोके नेत्र और श्रोत्रोको प्रेरित करनेवाला कौन देव है? अर्थात् जो चेतन तत्त्व इन्द्रियोका अधिष्ठाता है वह किन विशेषणोसे युक्त है?॥ १॥

पद-भाष्य

दुःखे च कार्ये वार्यमाणमपि प्रवर्तत एव मनः । तस्माद्युक्त एव केनेषितमित्यादिप्रश्नः ।

केन प्राणः युक्तः नियुक्तः प्रेरितः सन् प्रैति गच्छति स्वव्यापारं प्रति । प्रथम इति प्राणविशेषणं स्यात्, तत्पूर्वकत्वात् सर्वेन्द्रियप्रवृत्तीनाम् ।

केन इषितां वाचम् इमां शब्दलक्षणां वदन्ति लौकिकाः । तथा चक्षुः श्रोत्रं च स्वे स्वे विषये क उ देवः द्योतनवान् युनक्ति नियुङ्क्ते प्रेरयति ॥१॥

जानेपर भी अत्यन्त दुःखमय कार्यमे भी प्रवृत्त हो ही जाता है। अतः 'केनेषितम्' इत्यादि प्रश्न उचित ही है।

किसके द्वारा नियुक्त यानी प्रेरित हुआ प्राण अपने व्यापारमें प्रवृत्त होता है? 'प्रथम' यह प्राणका विशेषण हो सकता है, क्योंकि समस्त इन्द्रियोंकी प्रवृत्तियाँ प्राणपूर्वक ही होती है।

लौकिक पुरुष किसके द्वारा इच्छित यह शब्दरूपा वाणी बोलते है? तथा कौन देव—द्योतनवान् (प्रकाशमान्) व्यक्ति चक्षु एवं श्रोत्रेन्द्रियको अपने-अपने व्यापारमें नियुक्त—प्रेरित करता है ॥१॥

पद-भाष्य

एवं पृष्टवते योग्यायाह गुरुः । शृणु यत् त्वं पृच्छसि, मनआदिकरणजातस्य को देवः स्वविषयं प्रति प्रेरयिता कथं वा प्रेरयतीति ।

इस प्रकार पूछनेवाले योग्य शिष्यसे गुरुने कहा—तू जो पूछता है कि मन आदि इन्द्रियसमूहको अपने विषयोंकी ओर प्रेरित करनेवाला कौन देव है और वह उन्हे किस प्रकार प्रेरित करता है, सो सुन—

आत्माका सर्वनियन्तृत्व

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणश्चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्मा-ल्लोकादमृता भवन्ति ॥ २ ॥

जो श्रोत्रका श्रोत्र, मनका मन और वाणीका भी वाणी है वही प्राणका प्राण और चक्षुका चक्षु है [—ऐसा जानकर] धीर पुरुष संसारसे मुक्त होकर इस लोकसे जाकर अमर हो जाते है ॥ २ ॥

पद-भाष्य

श्रोत्रस्य श्रोत्रं शृणोत्यनेनेति श्रोत्रम्, शब्दस्य श्रवणं प्रति करणं शब्दाभिव्यञ्जकं श्रोत्र-मिन्द्रियम्, तस्य श्रोत्रं सः यस्त्वया पृष्टः 'चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति' इति ।

श्रोत्रस्य श्रोत्रम्—जिससे श्रवण करते है वह 'श्रोत्र' है अर्थात् शब्दके श्रवणमे साधन यानी शब्दका अभिव्यञ्जक श्रोत्रेन्द्रिय है। उसका भी श्रोत्र वह है जिसके विषयमे तूने पूछा है कि 'चक्षु और श्रोत्रको कौन देव नियुक्त करता है ?'

वाक्य-भाष्य

श्रोत्रस्य श्रोत्रम् इत्यादिप्रति-वचनं निर्विशेषस्य निमित्तत्वार्थम्। विक्रियादिविशेषरहितस्यात्मनो मनआदिप्रवृत्तौ निमित्तत्वम् इत्येतच्छ्रोत्रस्य श्रोत्रमित्यादिप्रति-वचनस्यार्थः; अनुगमात्। तदनु-गतानि ह्यत्रास्मिन्नर्थेऽक्षराणि।

'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' इत्यादि उत्तर देना निर्विशेष आत्माका निमित्तत्व बतलानेके लिये है। इस 'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' इत्यादि रूपसे उत्तर देनेका यही तात्पर्य है कि विक्रिया आदि समस्त विशेषोसे रहित आत्माका मन आदि-की प्रवृत्तिमे कारणत्व है[1] यही इससे जाना जाता है, क्योकि इस श्रुतिके अक्षर भी इसी अर्थमे अनुगत है।

१—अर्थात् वह सर्वथा निर्विकार और निर्विशेष होनेपर भी मन आदिको प्रेरित करनेवाला है।

पद-भाष्य

असावेवंविशिष्टः श्रोत्रादीनि नियुङ्क्त इति वक्तव्ये, नन्वेतदननुरूपं प्रतिवचनं श्रोत्रस्य श्रोत्रमिति ।

शङ्का—प्रश्नके उत्तरमे तो यह बतलाना चाहिये था कि इस प्रकारके गुणोंवाला व्यक्ति श्रोत्रादिको प्रेरित करता है; उसमे यह कहना कि वह श्रोत्रका श्रोत्र है—ठीक उत्तर नही है ।

नैष दोषः, तस्यान्यथाविशेषानवगमात् । यदि हि श्रोत्रादिव्यापारव्यतिरिक्तेन स्वव्यापारेण विशिष्टः श्रोत्रादिनियोक्ता अवगम्येत दात्रादिप्रयोक्तृवत्, तदेदमननुरूपं प्रतिवचनं स्यात् । न त्विह श्रोत्रादीनां प्रयोक्ता स्वव्यापारविशिष्टो लवित्रादिवदधिगम्यते । श्रोत्रादीनामेव तु संहतानां व्यापारेणालोचनसङ्कल्पाध्यवसायलक्षणेन फलाव-

समाधान—यह कोई दोष नही है, क्योंकि उस प्रेरकका और किसी प्रकार कोई विशेषरूप नही जाना जा सकता । यदि दराँती आदिका प्रयोग करनेवालेके समान श्रोत्रादि व्यापारसे अतिरिक्त किसी अपने व्यापारसे विशिष्ट कोई श्रोत्रादिका नियोक्ता ज्ञात होता तो यह उत्तर अनुचित होता । किन्तु यहाँ खेत काटनेवालेके समान कोई श्रोत्रादिका स्वव्यापारविशिष्ट प्रयोक्ता ज्ञात नहीं है । अवयव-सहयोगसे उत्पन्न हुए श्रोत्रादिका जो चिदाभासकी फलव्याप्तिका लिङ्गरूप आलोचना, सङ्कल्प एवं निश्चय आदिरूप व्यापार है उसीसे यह

वाक्य-भाष्य

कथम् ? शृणोत्यनेनेति श्रोत्रम्; तस्य शब्दावभासकत्वं श्रोत्रत्वम् । शब्दोपलब्धृरूपतयावभासकत्वं न स्वतः, श्रोत्रस्याचिद्रूपत्वात्, आत्मनश्च चिद्रूपत्वात् ।

कैसे ? [सो इस प्रकार कि] जिससे प्राणी सुनते हैं उसे 'श्रोत्र' कहते है । उसका जो शब्दको प्रकाशित करना है वह 'श्रोत्रत्व' है । श्रोत्रका जो शब्दके उपलब्धारूपसे प्रकाशकत्व है वह स्वतः नहीं है, क्योंकि वह अचेतन है और आत्मा चेतनरूप है ।

पद-भाष्य

सानलिङ्गेनावगम्यते—अस्ति हि श्रोत्रादिभिरसंहतः, यत्प्रयोजनप्रयुक्तः श्रोत्रादिकलापः गृहादिवदिति। संहतानां परार्थत्वाद् अवगम्यते श्रोत्रादीनां प्रयोक्ता। तस्मादनुरूपमेवेदं प्रतिवचनं श्रोत्रस्य श्रोत्रमित्यादि।

जाना जाता है कि गृह आदिके समान जिसके प्रयोजनसे श्रोत्रादि कारण-कलाप प्रवृत्त हो रहा है वह श्रोत्रादिसे असंहत (पृथक्) कोई तत्त्व अवश्य है। संहत पदार्थ परार्थ (दूसरेके साधनरूप) हुआ करते हैं; इसीसे कोई श्रोत्रादिका प्रयोक्ता अवश्य है—यह जाना जाता है। अतः यह 'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' इत्यादि उत्तर ठीक ही है।

आत्मनः श्रोत्रादिप्रकाशकत्वम्

कः पुनरत्र पदार्थः श्रोत्रस्य श्रोत्रमित्यादेः? न ह्यत्र श्रोत्रस्य श्रोत्रान्तरेणार्थः, यथा प्रकाशस्य प्रकाशान्तरेण।

शङ्का—किन्तु इस 'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' इत्यादि पदका यहाँ क्या अर्थ अभिप्रेत है? क्योंकि जिस तरह एक प्रकाशको दूसरे प्रकाशका प्रयोजन नहीं होता उसी तरह एक श्रोत्रको दूसरे श्रोत्रसे तो कोई प्रयोजन है ही नहीं।

वाक्य-भाष्य

यच्छ्रोत्रस्योपलब्धृत्वेनावभासकत्वं तदात्मनिमित्तत्वाच्छ्रोत्रस्य श्रोत्रमित्युच्यते; यथा क्षत्रस्य क्षत्रं यथा वोदकस्यौष्ण्यमग्निनिमित्तमिति दग्धुरप्युदकस्य दग्धाग्निरुच्यते; उदकमपि ह्यग्निसंयोगादग्निरुच्यते, तद्वद्

श्रोत्रका जो उपलब्धारूपसे अवभासकत्व है वह आत्मनिमित्तक होनेसे आत्माको 'श्रोत्रका श्रोत्र' ऐसा कहा जाता है, जैसे क्षत्रिय जातिका [नियामक कर्म] क्षत्र कहलाता है, अथवा जैसे [उष्ण] जलकी उष्णता अग्निके कारण होती है; इसलिये उस जलानेवाले जलको भी जलानेवाला अग्नि कहा जाता है; और अग्निके संयोगसे जल भी अग्नि कहा जाता है, उसी प्रकार [प्रमाता

पद-भाष्य

नैष दोषः। अयमत्र पदार्थः—श्रोत्रं तावत्स्वविषयव्यञ्जनसमर्थं दृष्टम्। तत्तु स्वविषयव्यञ्जनसामर्थ्यं श्रोत्रस्य चैतन्ये ह्यात्मज्योतिषि नित्येऽसंहते सर्वान्तरे सति भवति, न असति इति। अतः श्रोत्रस्य श्रोत्रमित्याद्युपपद्यते। तथा च श्रुत्यन्तराणि—"आत्मनैवायं ज्योतिषास्ते" (बृ० उ० ४।३।६) "तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" (क० उ० २।२।१५, श्वे० ६।१४, मु० २।२।१०) "येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः" (तै० ब्रा० ३।१२।९।७) इत्यादीनि।

समाधान—यह भी कोई दोष नहीं है। यहाँ इस पदका अर्थ इस प्रकार है—श्रोत्र अपने विषयको अभिव्यक्त करनेमे समर्थ है—यह देखा ही जाता है। किन्तु श्रोत्रका वह अपने विषयको अभिव्यक्त करनेका सामर्थ्य नित्य, असंहत, सर्वान्तर चेतन आत्मज्योतिके रहनेपर ही रह सकता है, न रहनेपर नहीं रह सकता। अतः उसे 'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' इत्यादि कहना उचित ही है। "यह अपने ही प्रकाशसे प्रकाशित है" "उसके प्रकाशसे ही यह सब प्रकाशित होता है" "जिस तेजसे प्रदीप्त हुआ सूर्य तपता है" इत्यादि श्रुतियाँ भी इसी अर्थकी द्योतक हैं। तथा

वाक्य-भाष्य

अनित्यं यत्संयोगादुपलब्धृत्वं तत्करणं श्रोत्रादि। उदकस्येव दग्धृत्वमनित्यं हि तत्र तत्। यत्र तु नित्यमुपलब्धृत्वमग्नाविवौष्ण्यं स नित्योपलब्धिस्वरूपत्वाद्दग्धेवोपलब्धोच्यते। श्रोत्रादिषु श्रोतृत्वाद्युपलब्धिरनित्या नित्या चात्मन्यतः श्रोत्रस्य

आत्मामे] जिनके संयोगसे अनित्य उपलब्धृत्व है वे श्रोत्रादि करण कहलाते है। जलके दाहकत्वके समान आत्मामे उपलब्धृत्व अनित्य ही है। जैसे अग्निमे नित्य उष्णता रहनेके कारण वह दग्धा कहलाता है उसी प्रकार जिसमे नित्य-उपलब्धृत्व रहता है वह नित्य उपलब्धिस्वरूप होनेके कारण उपलब्धा कहा जाता है। श्रोत्रादि निमित्तोंके होनेपर जो आत्मामे श्रोतृत्वादिकी उपलब्धि होती है वह अनित्य है और केवल आत्मामे वह नित्य है, अतः 'श्रोत्रस्य

पद-भाष्य

"यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्" (गीता १५।१२) "क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत" (गीता १३।३३) इति च गीतासु। काठके च "नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्" (२।२।१३) इति। श्रोत्राद्येव सर्वस्यात्मभूतं चेतनमिति प्रसिद्धम्; तदिह निवर्त्यते। अस्ति किमपि विद्वद्बुद्धिगम्यं सर्वान्तरतमं कूटस्थमजमजरममृतमभयं श्रोत्रादेरपि श्रोत्रादि तत्सामर्थ्यनिमित्तम् इति प्रतिवचनं शब्दार्थश्चोपपद्यत एव।

गीतामे भी कहा है—"जो तेज सूर्यमें स्थित होकर सम्पूर्ण जगत्को प्रकाशित करता है" "हे भारत ! इसी प्रकार सम्पूर्ण क्षेत्रको क्षेत्री प्रकाशित करता है।" कठोपनिषत्मे भी कहा है—"वह नित्योंका नित्य और चेतनोंका चेतन है" इत्यादि। श्रोत्रादि इन्द्रियवर्ग ही सबका आत्मभूत चेतन है—यह बात [लोकमे] प्रसिद्ध है। उस भ्रान्तिका इस पदसे निराकरण किया जाता है। अतः श्रोत्रादिका भी श्रोत्रादि अर्थात् उनकी सामर्थ्यका निमित्तभूत ऐसा कोई पदार्थ है जो आत्मवेत्ताओंकी बुद्धिका विषय, सबसे अन्तरतम, कूटस्थ, अजन्मा, अजर, अमर और अभयरूप है—इस प्रकार यह उत्तर और शब्दार्थ ठीक ही है।

वाक्य-भाष्य

श्रोत्रमित्याद्यक्षराणामर्थानुगमाद् उपपद्यते निर्विशेषस्योपलब्धिस्वरूपस्यात्मनो मनआदिप्रवृत्तिनिमित्तत्वमिति। मन आदिष्वेवं यथोक्तम्।

'श्रोत्रम्' इत्यादि अक्षरोंके अर्थके अनुगमसे नित्योपलब्धिस्वरूप निर्विशेष आत्माका मन आदिकी प्रवृत्तिमे कारण होना ठीक ही है। इसी प्रकार [जैसा कि 'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' के विषयमे कहा गया है] मन, वाक् और प्राणादिके सम्बन्धमे भी समझ लेना चाहिये।

पद-भाष्य

तथा मनसः अन्तःकरणस्य मनः। न ह्यन्तःकरणम् अन्तरेण चैतन्यज्योतिषो दीधितिं स्वविषयसङ्कल्पाध्यवसायादिसमर्थं स्यात्। तस्मान्मनसोऽपि मन इति। इह बुद्धिमनसी एकीकृत्य निर्देशो मनस इति।

इसी प्रकार वह मनका—अन्तःकरणका मन है, क्योंकि चिज्ज्योतिके प्रकाशके बिना अन्तःकरण अपने विषय सङ्कल्प और अध्यवसाय (निश्चय) आदिमे समर्थ नहीं हो सकता। अतः वह मनका भी मन है। यहाँ बुद्धि और मनको एक मानकर मनका निर्देश किया गया है।

यद्वाचो ह वाचम्; यच्छब्दो यस्मादर्थे श्रोत्रादिभिः सर्वैः सम्बध्यते—यस्माच्छ्रोत्रस्य श्रोत्रम्, यस्मान्मनसो मन इत्येवम्। वाचो ह वाचमिति द्वितीया प्रथमात्वेन विपरिणम्यते, प्राणस्य प्राण इति दर्शनात्। वाचो ह

यद्वाचो ह वाचम्—यहाँके 'यत्' शब्दका 'यस्मात्' अर्थ (हेत्वर्थ) मे 'क्योंकि वह श्रोत्रका श्रोत्र है, क्योंकि वह मनका मन है' इस प्रकार श्रोत्रादि सभी पदोसे सम्बन्ध है। 'वाचो ह वाचम्' इस पदसमूहमे 'वाचम्' पदकी द्वितीया विभक्ति प्रथमा विभक्तिके रूपमे परिणत कर ली जाती है, जैसा कि 'प्राणस्य प्राणः' मे देखा जाता है। यदि कहो कि 'वाचो

वाक्य-भाष्य

वाचो ह वाचं प्राणस्य प्राण इति विभक्तिद्वयं सर्वत्रैव द्रष्टव्यम्। कथम्? पृष्टत्वात्स्वरूपनिर्देशः, प्रथमयैव च निर्देशः। तस्य च

यहाँ 'वाचो ह वाचम्' तथा 'प्राणस्य प्राणः' इस प्रकार [पिछले पदमे] सर्वत्र ही [प्रथमा और द्वितीया] दो विभक्ति समझनी चाहिये, क्यो? क्योंकि आत्मा-विषयक प्रश्न होनेके कारण उसके स्वरूपका निर्देश किया गया है और निर्देश प्रथमा विभक्तिसे ही किया जाता है; तथा आत्मा ही

पद-भाष्य

वाचमित्येतदनुरोधेन प्राणस्य प्राणमिति कस्माद्द्वितीयैव न क्रियते ? न; बहूनामनुरोधस्य युक्तत्वात् । वाचमित्यस्य वागित्येतावद्वक्तव्यं स उ प्राणस्य प्राण इति शब्दद्वयानुरोधेन; एवं हि बहूनामनुरोधो युक्तः कृतः स्यात् ।

पृष्टं च वस्तु प्रथमयैव निर्देष्टुं युक्तम् । स यस्त्वया पृष्टः प्राणस्य प्राणाख्यवृत्तिविशेषस्य प्राणः तत्कृतं हि प्राणस्य प्राणनसामर्थ्यम् । न ह्यात्मनानधिष्ठितस्य प्राणनमुपपद्यते, "को ह्येवान्यात्कः

ह वाचम्' इस प्रयोगके अनुरोधसे 'प्राणस्य प्राणम्' इस प्रकार द्वितीया ही क्यों नहीं कर ली जाती ? तो ऐसा कहना उचित नहीं क्योंकि बहुतोंका अनुरोध मानना ही युक्तिसङ्गत है । अतः 'स उ प्राणस्य प्राणः' इस पदसमूहके [स और प्राणः] दो शब्दोंके अनुरोधसे 'वाचम्' इस शब्दको ही 'वाक्' इतना कहना चाहिये । ऐसा करनेसे ही बहुतोंका अनुरोध युक्त (स्वीकार) किया समझा जायगा ।

इसके सिवा, पूछी हुई वस्तुका निर्देश प्रथमा विभक्तिसे ही करना उचित है । [अभिप्राय यह कि] जिसके विषयमें तूने पूछा है वह प्राणका यानी प्राण नामक वृत्तिविशेषका प्राण है । उसके कारण ही प्राणका प्राणनसामर्थ्य है, क्योंकि आत्मासे अनधिष्ठित प्राणका प्राणन सम्भव नहीं है, जैसा कि

वाक्य-भाष्य

ज्ञेयत्वात्कर्मत्वमिति द्वितीया । अतो वाचो ह वाचं प्राणस्य प्राण इत्यस्मात्सर्वत्रैव विभक्तिद्वयम् ।

ज्ञेय है, इसलिये उसमें कर्मत्व रहनेके कारण द्वितीया भी ठीक है । अतः 'वाचो ह वाचम्' तथा 'प्राणस्य प्राणः' इस कथनके अनुसार सभी जगह दो विभक्ति समझनी चाहिये । [अर्थात् सभी पदोंमें ये दोनों विभक्तियाँ रह सकती हैं ।]

पद-भाष्य

प्राण्याद्यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्" (तै० उ० २।७।१) "ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति" (क० उ० २।२।३) इत्यादिश्रुतिभ्यः। इहापि च वक्ष्यते येन प्राणः प्रणीयते तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि इति।

"यदि यह आनन्दस्वरूप आकाश न होता तो कौन जीवित रहता और कौन श्वासोच्छ्वास करता" "यह प्राणको ऊपर ले जाता है तथा अपानको नीचेकी ओर छोड़ता है" इत्यादि श्रुतियोंसे सिद्ध होता है। यहाँ (इस उपनिषद्मे) भी यह कहेंगे ही कि जिसके द्वारा प्राण प्राणन करता है उसीको तू ब्रह्म जान।

श्रोत्रादीन्द्रियप्रस्तावे घ्राणस्यैव ग्रहणम् युक्तं न तु प्राणस्य।

शङ्का—परन्तु यहाँ श्रोत्रादि इन्द्रियोंके प्रसङ्गमे घ्राणको ही ग्रहण करना युक्तियुक्त है, प्राणको नहीं।

सत्यमेवम्; प्राणग्रहणेनैव तु घ्राणस्य ग्रहणं कृतमेव मन्यते श्रुतिः। सर्वस्यैव करणकलापस्य यदर्थप्रयुक्ता प्रवृत्तिः; तद्ब्रह्मेति प्रकरणार्थो विवक्षितः।

समाधान—यह ठीक है। किन्तु श्रुति, प्राणको ग्रहण करनेसे ही घ्राणका भी ग्रहण किया मानती है। इस प्रकरणको यही अर्थ बतलाना अभीष्ट है कि जिसके लिये सम्पूर्ण इन्द्रिय-समूहकी प्रवृत्ति है वही ब्रह्म है।

वाक्य-भाष्य

आत्मज्ञानेन अमृतत्व-निरूपणम्

यदेतच्छ्रोत्राद्युपलब्धिनिमित्तं श्रोत्रस्य श्रोत्रमित्यादिलक्षणं नित्योपलब्धिस्वरूपं निर्विशेषमात्मतत्त्वं तद्बुद्ध्वातिमुच्यानवबोधनिमित्ताध्यारोपिताद् बुद्ध्यादिलक्षणात्संसारान्मोक्षणं कृत्वा धीरा

यह जो श्रोत्रादिकी उपलब्धिका निमित्तभूत तथा 'श्रोत्रका श्रोत्र' इत्यादि लक्षणोंवाला नित्योपलब्धिस्वरूप निर्विशेष आत्मतत्त्व है उसे जानकर, अज्ञानके कारण आरोपित बुद्धि आदि लक्षणोंवाले संसारसे छूटकर—उससे मुक्त होकर, धीर—

पद-भाष्य

तथा चक्षुषश्चक्षू रूपप्रकाशकस्य चक्षुषो यद्रूपग्रहणसामर्थ्यं तदात्मचैतन्याधिष्ठितस्यैव। अतः चक्षुषश्चक्षुः।

तथा [वह ब्रह्म] चक्षुका चक्षु है। रूपको प्रकाशित करनेवाले चक्षु-इन्द्रियमें जो रूपको ग्रहण करनेका सामर्थ्य है वह आत्म-चैतन्यसे अधिष्ठित होनेके कारण ही है। इसलिये वह चक्षुका चक्षु है।

आत्मविदोऽमृतत्वनिरूपणम्

प्रष्टुः पृष्टस्यार्थस्य ज्ञातुमिष्टत्वात् श्रोत्रादेः श्रोत्रादिलक्षणं यथोक्तं ब्रह्म 'ज्ञात्वा' इत्यध्याह्रियते; अमृता भवन्ति इति फलश्रुतेश्च। ज्ञानाद्ध्यमृतत्वं प्राप्यते। ज्ञात्वा विमुच्यते इति सामर्थ्यात्। श्रोत्रादिकरणकलापमुज्झित्वा—श्रोत्रादौ ह्यात्मभावं कृत्वा, तदुपाधिः सन्, तदात्मना जायते म्रियते संसरति च।

प्रश्न-कर्ताको अपने पूछे हुए पदार्थको जाननेकी इच्छा हुआ ही करती है; अतः 'अमृता भवन्ति' (अमर हो जाते हैं) ऐसी फल-श्रुति होनेके कारण उपर्युक्त श्रोत्रादिके श्रोत्रादिरूप ब्रह्मको जानकर—इस प्रकार यहाँ 'ज्ञात्वा' क्रियाका अध्याहार किया जाता है, क्योंकि ज्ञानसे ही अमरत्वकी प्राप्ति होती है, जैसा कि '[ब्रह्मको] जानकर मुक्त हो जाता है' इस उक्तिकी सामर्थ्यसे सिद्ध होता है। जीव श्रोत्रादि करणकलापको त्यागकर—श्रोत्रादिमें ही आत्मभाव करके उनकी उपाधिसे युक्त होकर जन्मता, मरता और संसारको प्राप्त

वाक्य-भाष्य

धीमन्तः प्रेत्यास्माल्लोकाच्छरीरात् प्रेत्य वियुज्यान्यस्मिन्नप्रतिसन्धीयमाने निर्निमित्तत्वादमृता भवन्ति।

बुद्धिमान् लोग इस लोकसे जाकर अर्थात् इस शरीरसे पृथक् होकर दूसरे शरीरका अनुसन्धान न करनेके कारण अन्य कोई प्रयोजन न रहनेसे अमृत हो जाते हैं।

पद-भाष्य

अतः श्रोत्रादेः श्रोत्रादिलक्षणं ब्रह्मात्मेति विदित्वा, अतिमुच्य श्रोत्राद्यात्मभावं परित्यज्य—ये श्रोत्राद्यात्मभावं परित्यजन्ति, ते धीराः धीमन्तः; न हि विशिष्टधीमत्त्वमन्तरेण श्रोत्राद्यात्मभावः शक्यः परित्यक्तुम्—प्रेत्य व्यावृत्य अस्मात् लोकात् पुत्रमित्रकलत्रबन्धुषु ममाहंभावसंव्यवहारलक्षणात्, त्यक्तसर्वैषणा भूत्वेत्यर्थः अमृता अमरणधर्माणो भवन्ति ।

होता है। अतः श्रोत्रादिका श्रोत्रादिरूप ब्रह्म ही आत्मा है ऐसा जानकर और अतिमोचन करके अर्थात् श्रोत्रादिमे आत्मभावको त्यागकर धीर पुरुष 'प्रेत्य' अर्थात् पुत्र, मित्र, कलत्र और बन्धुओमे अहंता-ममताके व्यवहाररूप इस लोकसे विलग हो यानी सम्पूर्ण एषणाओसे मुक्त होकर अमृत—अमरणधर्मा हो जाते है। जो लोग श्रोत्रादिमे आत्मभावका त्याग करते है वे धीर यानी बुद्धिमान् होते हैं। क्योकि विशिष्ट बुद्धिमत्त्वके बिना श्रोत्रादिमे आत्मभावका त्याग नहीं किया जा सकता।

वाक्य-भाष्य

सति ह्यज्ञाने कर्माणि शरीरान्तरं प्रतिसन्दधते । आत्मावबोधे तु सर्वकर्मारम्भनिमित्ताज्ञानविपरीतविद्याग्निविप्लुष्टत्वात् कर्मणामनारम्भेऽमृता एव भवन्ति। शरीरादिसन्तानाविच्छेदप्रतिसन्धानाद्यपेक्षयाध्यारोपित-

अज्ञानके रहनेतक ही कर्म दूसरे शरीरकी खोज किया करते है। आत्मज्ञान हो जानेपर तो सम्पूर्ण कर्मोंके आरम्भक अज्ञानसे विपरीत ज्ञानरूप अग्निद्वारा कर्मोंके दग्ध हो जानेपर फिर प्रारब्ध निःशेष हो जानेके कारण वे अमृत ही हो जाते है। [अनादि संसारपरम्परासे 'मै शरीर हूँ' ऐसे अध्यासके कारण] 'पुनः पुनः शरीरप्राप्तिरूप परम्पराका विच्छेद न हो' ऐसा अनुसन्धान करते रहनेके कारण अपने ऊपर आरोपित

पद-भाष्य

"न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः" (कैवल्य० १ । २) "पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्। कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्"(क०उ० २।१।१) "यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः······अत्र ब्रह्म समश्नुते" (क० उ० २।३।१४) इत्यादिश्रुतिभ्यः। अथवा, अतिमुच्येत्यनेनैवैषणात्यागस्य सिद्धत्वाद् अस्माल्लोकात् प्रेत्य अस्माच्छरीरादपेत्य मृत्वेत्यर्थः ॥२॥

"कर्मसे, प्रजासे अथवा धनसे नहीं, किन्हीं-किन्हीने केवल त्यागसे ही अमरत्व लाभ किया है" "स्वयम्भूने इन्द्रियोंको बहिर्मुख करके हिंसित कर दिया है इसलिये जीव बाह्य वस्तुओंको ही देखता है, अपने अन्तरात्माको नहीं देखता। कोई बुद्धिमान् पुरुष अमरत्वकी इच्छासे इन्द्रियोंको रोककर अपने प्रत्यगात्माको देखता है" "जिस समय इसके हृदयकी कामनाएँ छूट जाती है····इस अवस्थामे वह ब्रह्मको प्राप्त कर लेता है" इत्यादि श्रुतियोंसे भी यही सिद्ध होता है। अथवा एषणात्याग तो 'अतिमुच्य' इस पदसे ही सिद्ध हो जाता है, अतः 'अस्माल्लोकात्प्रेत्य' का यह भाव समझना चाहिये कि इस शरीरसे अलग होकर यानी मरकर [अमर हो जाते है] ॥ २ ॥

यस्माच्छ्रोत्रादेरपि श्रोत्राद्यात्मभूतं ब्रह्म, अतः।

क्योंकि ब्रह्म श्रोत्रादिका भी श्रोत्रादिरूप है, इसलिये—

वाक्य-भाष्य

मृत्युवियोगात्पूर्वमप्यमृताः सन्तो नित्यात्मस्वरूपवत्त्वादमृता भवन्ति इत्युपचर्यते ॥ २ ॥

की हुई अज्ञानरूप मृत्युका वियोग होनेसे पूर्व भी नित्य आत्मस्वरूप होनेके कारण यद्यपि अमृत ही रहते है तथापि अमर होते है—ऐसा उपचारसे कहा जाता है ॥ २ ॥

आत्माका अज्ञेयत्व और अनिर्वचनीयत्व

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि। इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद्व्याचचक्षिरे ॥३॥

वहाँ (उस ब्रह्मतक) नेत्रेन्द्रिय नहीं जाती, वाणी नहीं जाती, मन नहीं जाता । अतः जिस प्रकार शिष्यको इस ब्रह्मका उपदेश करना चाहिये, वह हम नहीं जानते—वह हमारी समझमे नही आता । वह विदितसे अन्य ही है तथा अविदितसे भी परे है—ऐसा हमने पूर्व-पुरुषोसे सुना है, जिन्होने हमारे प्रति उसका व्याख्यान किया था ॥ ३ ॥

पद-भाष्य

न तत्र तस्मिन्ब्रह्मणि चक्षुः गच्छति, स्वात्मनि गमनासम्भवात्। तथा न वाग् गच्छति। वाचा हि शब्द उच्चार्यमाणोऽभिधेयं प्रकाशयति यदा, तदाभिधेयं प्रति वाग्गच्छतीत्युच्यते।

वहाँ—उस ब्रह्ममे नेत्रेन्द्रिय नही जाती, क्योंकि अपनेहीमे अपनी गति होनी असम्भव है। और न वाणी ही पहुँचती है । जिस समय वाणीसे उच्चारण किया हुआ शब्द अपने वाच्यको प्रकाशित करता है उस समय ही, अपने वाच्यतक वाणी पहुँचती है—ऐसा कहा जाता है।

वाक्य-भाष्य

न तत्र चक्षुर्गच्छति इत्युक्तेऽपि पर्यनुयोगे हेतुरप्रतिपत्तेः। श्रोत्रस्य श्रोत्रमित्येवमादिना उक्तेऽप्यात्मतत्त्वेऽप्रतिपन्नत्वात् सूक्ष्मत्वहेतोर्वस्तुनः पुनः पुनः पर्यनुयुयुक्षाकारणमाह—न

यद्यपि आचार्यने तत्त्वका निरूपण कर दिया तो भी न समझनेके कारण शिष्यके पुनः प्रश्न करनेमे 'वहाँ नेत्रेन्द्रिय नही जाती' इत्यादि कारण है। अर्थात् 'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' इत्यादि श्रुतिसे आत्मतत्त्वका निरूपण कर दिये जानेपर भी आत्मतत्त्व अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण समझमे न आनेसे शिष्यको जो पुनः पूछनेकी इच्छा हुई उसका कारण 'न तत्र चक्षुर्गच्छति'

पद-भाष्य

तस्य च शब्दस्य तन्निर्वर्तकस्य च करणस्यात्मा ब्रह्म । अतो न वाग्गच्छति यथाग्निर्दाहकः प्रकाशकश्चापि सन् न ह्यात्मानं प्रकाशयति दहति वा, तद्वत् ।

किन्तु ब्रह्म तो शब्द और उसका व्यवहार करनेवाले इन्द्रियका आत्मा है । अतः वाणी वहाँ उसी प्रकार नहीं पहुँच सकती, जैसे कि अग्नि दाहक और प्रकाशक होनेपर भी अपनेको न जलाता है और न प्रकाशित ही करता है ।

नो मनः मनश्चान्यस्य सङ्कल्पयितृ अध्यवसायितृ च सत् नात्मानं सङ्कल्पयत्यध्यवस्यति च, तस्यापि ब्रह्मात्मेति । इन्द्रियमनोभ्यां हि वस्तुनो विज्ञानम् । तदगोचरत्वान्न विद्मः तद्ब्रह्म ईदृशमिति ।

और न मन ही [वहाँतक जाता है] । मन भी अन्य पदार्थोंका सङ्कल्प और निश्चय करनेवाला होता हुआ भी अपना सङ्कल्प या निश्चय नहीं करता है, क्योंकि ब्रह्म उसका भी आत्मा है । इन्द्रिय और मनसे ही वस्तुका ज्ञान हुआ करता है; उनका अविषय होनेके कारण हम यह नहीं जानते कि वह ब्रह्म ऐसा है ।

वाक्य-भाष्य

तत्र चक्षुर्गच्छतीति । तत्र श्रोत्राद्यात्मभूते चक्षुरादीनि वाक्चक्षुषोः सर्वेन्द्रियोपलक्षणार्थत्वान्न विज्ञानमुत्पादयन्ति ।

इत्यादि श्रुतिसे बतलाया गया है । श्रोत्रादिके आत्मस्वरूप उस आत्मतत्त्वके विषयमें चक्षु आदि इन्द्रियाँ ज्ञान उत्पन्न नहीं कर सकतीं, क्योंकि यहाँ वाक् और चक्षु सभी इन्द्रियोंका उपलक्षण करनेके लिये हैं ।

सुखादिवत्तर्हि गृह्येतान्तःकरणेनात आह—नो मनः । न

[इसपर सन्देह होता है—] तो फिर सुखादिके समान उसका अन्तःकरणसे ग्रहण हो सकता होगा ? [इसपर कहते हैं—] मन भी उसतक

पद-भाष्य

अतो न विजानीमो यथा येन प्रकारेण एतद् ब्रह्म अनुशिष्यात् उपदिशेच्छिष्यायेत्यभिप्रायः । यद्धि करणगोचरं तदन्यस्मै उपदेष्टुं शक्यं जातिगुणक्रियाविशेषणैः। न तज्जात्यादिविशेषणवद्ब्रह्म तस्माद्विषमं शिष्यानुपदेशेन प्रत्याययितुमिति उपदेशे तदर्थग्रहणे च यत्नातिशयकर्तव्यतां दर्शयति ।

अतः जिस प्रकारसे इस ब्रह्मका अनुशासन—शिष्यके प्रति उपदेश किया जाय—यह हम नहीं जानते ऐसा इसका अभिप्राय है । जो वस्तु इन्द्रियोंका विषय होती है उसीका जाति, गुण और क्रियारूप विशेषणोंद्वारा दूसरेको उपदेश किया जा सकता है । किन्तु ब्रह्म उन जाति आदि विशेषणोंवाला नहीं है । अतः शिष्योंको उपदेशद्वारा उसकी प्रतीति कराना बहुत कठिन है—इस प्रकार श्रुति उपदेश और उसके अर्थका ग्रहण करनेमें अधिक प्रयत्न करनेकी आवश्यकता दिखलाती है ।

वाक्य-भाष्य

सुखादिवन्मनसो विषयस्तत् ; इन्द्रियाविषयत्वात् ।

नहीं पहुँचता । वह सुखादिके समान मनका भी विषय नहीं है, क्योंकि वह इन्द्रियोंका अविषय है ।

न विद्मो न विजानीमोऽन्तःकरणेन यथैतद्ब्रह्म मन आदिकरणजातमनुशिष्याद् अनुशासनं कुर्यात्प्रवृत्तिनिमित्तं भवेत्तथाविषयत्वान्न विद्मो न विजानीमः।

यह ब्रह्म मन आदि इन्द्रियसमूहका जिस प्रकार अनुशासन करता है अर्थात् जिस प्रकार उनकी प्रवृत्तिका कारण होता है—इन्द्रियोंका अविषय होनेके कारण—इस सम्बन्धमें अपने अन्तःकरणद्वारा हम कुछ नहीं जानते अर्थात् कुछ नहीं समझते ।

पद-भाष्य

'न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यात्' इति अत्यन्तम् एवोपदेशप्रकारप्रत्याख्याने प्राप्ते तदपवादोऽयमुच्यते। सत्यमेवं प्रत्यक्षादिभिः प्रमाणैर्न परः प्रत्याययितुं शक्यः; आगमेन तु शक्यत एव प्रत्याययितुमिति तदुपदेशार्थमागममाह—

[पूर्वोक्त श्रुतिके] 'न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यात्' इस वाक्यसे उपदेशके प्रकारका अत्यन्त निषेध प्राप्त होनेपर उसका यह अपवाद कहा जाता है। यह ठीक है कि प्रत्यक्षादि प्रमाणोसे परमात्माकी प्रतीति नहीं करायी जा सकती, किन्तु शास्त्रसे तो उसकी प्रतीति करायी ही जा सकती है—अतः उसके उपदेशके लिये शास्त्रप्रमाण देते हैं—

वाक्य-भाष्य

अथवा श्रोत्रादीनां श्रोत्रादिलक्षणं ब्रह्म विशेषेण दर्शयेत्युक्त आचार्य आह न शक्यते दर्शयितुम्। कस्मात्? न तत्र चक्षुर्गच्छति इत्यादि पूर्ववत्सर्वम्। अत्र तु विशेषो यथैतदनुशिष्यादिति। यथैतदनुशिष्यात् प्रतिपादयेत् अन्योऽपि शिष्यानितोऽन्येन विधिनेत्यभिप्रायः।

अथवा शिष्यके यह कहनेपर कि 'श्रोत्रादिके श्रोत्रादिरूप ब्रह्मको विशेषरूपसे दिखलाओ' आचार्य कहते है कि 'उसे दिखाया नही जा सकता।' क्यो? 'क्योकि उसतक नेत्र नही पहुँच सकते' इत्यादि प्रकारसे सबका आशय पूर्ववत् समझना चाहिये। यहॉ 'यथैतदनुशिष्यात्' इस वाक्यका विशेष तात्पर्य है; अर्थात् जिस किसी अन्य विधिसे कोई अन्य गुरु अपने शिष्योको इसका अनुशासन—प्रतिपादन कर सकता है [वह हम नही जानते]।

सर्वथापि ब्रह्म बोधयेत्युक्त आचार्य आह, अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधीत्यागमम् विदिताविदिताभ्यामन्य-

'परन्तु मुझे तो किसी भी तरह ब्रह्मका बोध करा ही दीजिये'—शिष्यके ऐसा कहनेपर आचार्य कहते है—'वह ब्रह्म जाने हुएसे अन्य है तथा बिना जानेसे भी परे है'—जाने और न जाने हुएसे भिन्न होना यही उपदेशकी परम्परा है। इसके सिवा

पद-भाष्य

अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधीति । अन्यदेव पृथगेव तद् यत्प्रकृतं श्रोत्रादीनां श्रोत्रादीत्युक्तमविषयश्च तेषाम् । तद् विदिताद् अन्यदेव हि । विदितं नाम यद्विदिक्रिययातिशयेनाप्तं

'वह विदितसे अन्य ही है और अविदितसे भी परे है ।' यहाँ जिस प्रकरणप्राप्त श्रोत्रादिके श्रोत्रादि और उनके अविषय ब्रह्मका उल्लेख किया गया है वह विदितसे अन्य—पृथक् ही है । वेदन-क्रियासे अत्यन्त व्याप्त अर्थात् वेदन-क्रियाकी कर्मभूत जो कुछ [नामरूपात्मक]

वाक्य-भाष्य

त्वम् । यो हि ज्ञाता स एव सः, सर्वात्मकत्वात् । अतः सर्वात्मनो ज्ञातुर्ज्ञात्रन्तराभावाद्विदितादन्यत्वम् । "स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता" (श्वे० उ० ३ । १९) इति च मन्त्रवर्णात् । "विज्ञातारमरे केन विजानीयात्" (बृ० उ० २ । ४ । १४) इति च वाजसनेयके । अपि च व्यक्तमेव विदितं तस्मादन्यदित्यभिप्रायः । यद्विदितं व्यक्तं तदन्यविषयत्वादल्पं सविरोधं ततोऽनित्यमत एवानेकत्वादशुद्धमत एव तद्विलक्षणं ब्रह्मेति सिद्धम् ।

जो कोई भी उसको जाननेवाला है वह स्वयं वही है, क्योंकि ब्रह्म सर्वात्मक है । अतः सबके आत्मारूप उस ज्ञाताके सिवा अन्य ज्ञाताका अभाव होनेके कारण वह, जितना कुछ जाना जाता है उससे भिन्न है; जैसा कि मन्त्रवर्ण भी कहता है—"वह सम्पूर्ण ज्ञेयको जानता है तथा उसका ज्ञाता और कोई नहीं है" तथा वाजसनेय-श्रुतिमें भी कहा है—"अरे ! उस विज्ञाताको किससे जाने ?" इसके सिवा व्यक्तको ही विदित कहा गया है, उससे भिन्न [यानी अव्यक्त] है यही इस [अन्यदेव विदितात्] का तात्पर्य है जो विदित अर्थात् व्यक्त होता है वह दूसरेका विषय होनेके कारण अल्प और सविरोध होता है ऐसा होनेसे अनित्य होता है, अतः अनेक होनेके कारण अशुद्ध भी होता है; इसलिये सिद्ध हुआ कि ब्रह्म उससे भिन्न प्रकारका ही है ।

पद-भाष्य

विदिक्रियाकर्मभूतं क्वचित् किञ्चित्कस्यचिद्विदितं स्यादिति। सर्वमेव व्याकृतं विदितमेव; तस्मादन्यदेवेत्यर्थः।

वस्तु कहीं-न-कहीं किसी-न-किसीको ज्ञात है उसीको 'विदित' कहते हैं। अतः सम्पूर्ण व्याकृत वस्तु 'विदित' ही है। उस [विदित वस्तु] से ब्रह्म पृथक् ही है—यह इसका तात्पर्य है।

अविदितमज्ञातं तर्हीति प्राप्ते आह—अथो अपि अविदिताद् विदितविपरीताद्व्याकृताविद्या-

तो फिर ब्रह्म अज्ञात है—ऐसा प्राप्त होनेपर कहते हैं—'वह अविदित—विदितसे विपरीत व्याकृत पदार्थोंकी बीजभूत अविद्यारूप

वाक्य-भाष्य

तर्ह्यविदितम्।

न; विज्ञानानपेक्षत्वात्। यद्ध्यविदितं तद्विज्ञानापेक्षम्। अविदितविज्ञानाय हि लोकप्रवृत्तिः। इदं तु विज्ञानानपेक्षं। कस्मात्? विज्ञानस्वरूपत्वात्। न हि यस्य यत्स्वरूपं तत्तेनान्यतोऽपेक्ष्यते। न च स्वत एवापेक्षा अनपेक्षमेव सिद्धत्वात्। प्रदीपः स्वरूपाभिव्यक्तौ न प्रकाशान्तरमन्यतोऽपेक्षते स्वतो वा। यद्ध्यनपेक्षं तत्स्वत एव सिद्धम् प्रकाशात्मकत्वात् प्रदीपस्यापेक्षितोऽप्यनर्थकः स्यात्,

(ब्रह्मणः स्वीय प्रकाशने अन्यानपेक्षत्वम्)

पूर्व०—तो फिर ब्रह्म अज्ञात हुआ?

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि उसे विज्ञान (ज्ञात होने) की अपेक्षा नहीं है। जो वस्तु अज्ञात होती है उसके विज्ञानकी अपेक्षा हुआ करती है। अज्ञात वस्तुको जाननेके लिये ही सम्पूर्ण लोकोंकी प्रवृत्ति है, किन्तु ब्रह्मको अपने विज्ञानकी अपेक्षा नहीं है; क्यों? क्योंकि वह विज्ञानस्वरूप ही है। जिसका जो स्वरूप होता है वह उसीकी दूसरेसे अपेक्षा नहीं रखता और अपनेसे तो अपेक्षा हुआ ही नहीं करती, क्योंकि अपना-आप तो सिद्ध (प्राप्त) होनेके कारण अपेक्षासे रहित ही है। दीपक अपने स्वरूपकी अभिव्यक्तिके लिये अपनेसे अथवा किसी अन्यसे प्रकाशान्तरकी अपेक्षा नहीं रखता। इस प्रकार जो अपेक्षा नहीं रखता वह स्वतः सिद्ध ही है। दीपक प्रकाशस्वरूप ही है; अतः अपने स्वरूपकी अभिव्यक्तिके लिये यदि वह प्रकाशान्तरकी अपेक्षा करे

पद-भाष्य

लक्षणाद्व्याकृतबीजात्, अधि इति उपर्यर्थे, लक्षणया अन्यद् इत्यर्थः। यद्धि यस्मादधि उपरि भवति, तत्तस्मादन्यदिति प्रसिद्धम्।

अव्याकृतसे भी 'अधि' है।"अधि' का अर्थ ऊपर होता है; परन्तु लक्षणासे इसका अर्थ 'अन्य' करना चाहिये, क्योंकि जो वस्तु जिससे अधि—ऊपर होती है वह उससे अन्य हुआ करती है—यह प्रसिद्ध ही है।

वाक्य-भाष्य

प्रकाशो विशेषाभावात्। न हि प्रदीपस्य स्वरूपाभिव्यक्तौ प्रदीप-प्रकाशोऽर्थवान्। न चैवमात्मनोऽन्यत्र विज्ञानमस्ति येन स्वरूपविज्ञानेऽप्यपेक्ष्येत।

तो व्यर्थ ही होगा, क्योंकि प्रकाशमे कोई विशेषता नहीं हुआ करती। एक दीपकके स्वरूपकी अभिव्यक्तिमे किसी अन्य दीपकका प्रकाश सार्थक नहीं होता। इसी प्रकार आत्मासे भिन्न ऐसा कोई विज्ञान नहीं है जो उसके स्वरूपका ज्ञान करानेके लिये अपेक्षित हो।

विरोध इति चेन्नान्यत्वात्।

यदि कहो कि इससे विरोध प्रतीत होता है तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि [आत्मा] इससे भिन्न है।

स्वरूपविज्ञाने विज्ञानस्वरूपत्वाद् विज्ञानान्तरं नापेक्षत इत्येतदसत्। दृश्यते हि विपरीतज्ञानमात्मनि सम्यग्ज्ञानं च। न जानाम्यात्मानमिति। श्रुतेश्च "तत्त्वमसि" (छा० उ० ६। ८-१६) "आत्मानमेवावेत्" (बृ० उ० १। ४। १०)

पूर्व०—तुमने जो कहा कि आत्मा विज्ञानस्वरूप है, इसलिये उसके स्वरूपको जाननेमे किसी अन्य विज्ञान-की अपेक्षा नहीं है—सो ठीक नहीं, क्योंकि आत्मामे भी विपरीत ज्ञान और सम्यक् ज्ञान होता देखा ही जाता है; जैसा कि "मैं आत्माको नहीं जानता" इत्यादि कथनसे तथा "तू वह (ब्रह्म) है" "आत्माको ही जाना"

पद-भाष्य

ब्रह्मण आत्मभिन्नत्व-प्रतिपादनम्

यद्विदितं तदल्पं मर्त्यं दुःखात्मकं चेति हेयम् । तस्माद्विदितादन्यद्ब्रह्म इत्युक्ते त्वहेयत्वमुक्तं स्यात् । तथा अविदितादधि इत्युक्तेऽनुपादेयत्वमुक्तं स्यात् ।

जो वस्तु विदित होती है वह अल्प, मरणशील एवं दुःखमयी होती है, इसलिये वह हेय (त्याज्य) है । ब्रह्म उस विदित वस्तुसे भिन्न है—ऐसा कहनेसे उसका अहेयत्व बतलाया गया । तथा 'वह अविदित-से भी ऊपर है' ऐसा कहनेपर उसका अनुपादेयत्व प्रतिपादन किया गया ।

वाक्य-भाष्य

"एतं वै तमात्मानं विदित्वा" (बृ० उ० ३ । ५ । १) इति च । सर्वत्र श्रुतिष्वात्मविज्ञाने विज्ञानान्तरापेक्षत्वं दृश्यते । तस्मात् प्रत्यक्षश्रुतिविरोध इति चेत् ।

न; कस्मात् ? अन्यो हि स आत्मा बुद्ध्यादिकार्यकरणसङ्घाताभिमानसन्तानाविच्छेदलक्षणोऽविवेकात्मको बुद्ध्यवभासप्रधानः चक्षुरादिकरणो नित्यचित्स्वरूपात्मान्तःसारो यत्रानित्यं विज्ञानम् अवभासते । बौद्धप्रत्ययानाम् आविर्भावतिरोभावधर्मकत्वात्तद्धर्मतयैव विलक्षणमपि चावभासते ।

"उस इस आत्माको निश्चयपूर्वक जान-कर" आदि श्रुतियोंसे सिद्ध होता है । श्रुतियोंमें आत्माके ज्ञानके लिये सर्वत्र ही विज्ञानान्तरकी अपेक्षा देखी जाती है । इसलिये [उपर्युक्त कथनका] प्रत्यक्ष ही श्रुतिसे विरोध है ।

सिद्धान्ती—ऐसा कहना ठीक नहीं । क्यों ? क्योंकि बुद्धि आदि कार्य और करणके सघातमें जो अभिमान है उसकी परम्पराका विच्छेद न होना ही जिसका लक्षण है, नित्य चित्स्वरूप आत्मा ही जिसका आन्तरिक सार है और जिसमें अनित्य विज्ञानका अवभास हुआ करता है वह अविवेकात्मक, चिदाभास-प्रधान तथा चक्षु आदि करणोंवाला आत्मा (जीवात्मा) [शुद्ध चेतनसे] भिन्न ही है । बौद्ध प्रतीतियोंका आविर्भाव-तिरोभाव उसका धर्म है; अतः अपने उस धर्मके कारण वह उस-से पृथक् दिखलायी भी देता है ।

पद-भाष्य

कार्यार्थं हि कारणमन्यदन्येन उपादीयते । अतश्च न वेदितुः अन्यस्मै प्रयोजनायान्यदुपादेयं भवतीति । एवं विदिताविदिताभ्यामन्यदिति हेयोपादेयप्रतिषेधेन स्वात्मनोऽनन्यत्वाद् ब्रह्मविषया जिज्ञासा शिष्यस्य

किसी कार्यके लिये ही किसी अन्य पुरुषद्वारा एक अन्य कारण यानी साधनको ग्रहण किया जाता है; अतः वेत्ता (आत्मा) को किसी अन्य प्रयोजनके लिये कोई अन्य साधन उपादेय नहीं है । इस प्रकार वह विदित और अविदित दोनोंसे भिन्न है—इस कथनद्वारा हेय और उपादेयका प्रतिषेध कर दिया जानेसे [ज्ञेय वस्तु] अपने आत्मासे अभिन्न सिद्ध होनेके कारण शिष्यकी ब्रह्मविषयक जिज्ञासा पूर्ण हो जाती

वाक्य-भाष्य

अन्तःकरणस्य मनसोऽपि मनोऽन्तर्गतत्वात्सर्वान्तरश्रुतेः । अन्तर्गतेन नित्यविज्ञानस्वरूपेण आकाशवदप्रचलितात्मनान्तर्गर्भभूतेन बाह्यो बुद्ध्यात्मा तद्विलक्षणः अर्चिर्भिरिवाग्निः प्रत्ययैराविर्भावतिरोभावधर्मकैर्विज्ञानाभासरूपैरनित्यविज्ञान आत्मा सुखी दुःखीत्यभ्युपगतो लौकिकैः । अतोऽन्यो नित्यविज्ञानस्वरूपादात्मनः । तत्र हि विज्ञानापेक्षा विपरीतज्ञानत्वं चोपपद्यते न पुनर्नित्यविज्ञाने ।

[किन्तु वह शुद्ध चेतन तो] 'आत्मा सर्वान्तर है' ऐसा बतलानेवाली श्रुतिके अनुसार अन्तःकरण यानी मनका भी मन है । उस अन्तर्गत, नित्यविज्ञानस्वरूप, आकाशके समान अविचल और अन्तर्गर्भभूत चिदात्मासे बाह्य और विलक्षण अनित्य विज्ञानवान् विज्ञानात्मा ही, आविर्भाव-तिरोभाव धर्मवाले विज्ञानाभासरूप अनित्य प्रत्ययोंके कारण लौकिक पुरुषोंद्वारा आत्मा सुखी-दुःखी है—ऐसा माना जाता है, जैसे ज्वालाओंके कारण अग्नि । अतः वह नित्यविज्ञानस्वरूप आत्मासे भिन्न है । उसीमें विज्ञानकी अपेक्षा तथा विपरीत ज्ञानत्वकी सम्भावना है—नित्यविज्ञानस्वरूप चिदात्मामें नहीं ।

पद-भाष्य

निर्वर्तिता स्यात् । न ह्यन्यस्य स्वात्मनो विदिताविदिताभ्याम् अन्यत्वं वस्तुनः सम्भवतीत्यात्मा ब्रह्मेत्येष वाक्यार्थः; "अयमात्मा ब्रह्म" (माण्डू० २) "य आत्मापहतपाप्मा," (छा० उ०८।७।१)

है, क्योंकि अपने आत्मासे भिन्न किसी और वस्तुका विदित और अविदित दोनोसे भिन्न होना सम्भव नहीं है । अतः आत्मा ही ब्रह्म है—यह इस वाक्यका अर्थ है । यही बात "यह आत्मा ब्रह्म है" "जो आत्मा पापसे रहित है"

वाक्य-भाष्य

तत्त्वमसीति बोधोपदेशो न उपपद्यत इति चेत् । "आत्मानमेवावेत्" (बृ० उ० १।४।१०) इत्येवमादीनि च नित्यबोधात्मकत्वात् । न ह्यादित्योऽन्येन प्रकाश्यतेऽतस्तदर्थबोधोपदेशः अनर्थक इति चेत् ।

पूर्व०—[ऐसा माननेसे तो] "तत्त्वमसि" (वह ब्रह्म तू है) यह उपदेश भी नहीं बन सकता और न "अपने आत्माको ही जाना [कि मैं ब्रह्म हूँ]" इत्यादि वाक्य ही सार्थक हो सकते है—क्योंकि ब्रह्म तो नित्य-बोधस्वरूप है । सूर्य दूसरेसे प्रकाशित कभी नहीं हो सकता । इसलिये आत्माके विषयमें ज्ञानका उपदेश करना व्यर्थ ही होगा ।

न; लोकाध्यारोपापोहार्थत्वात् ।

बोधोपदेशस्य अध्यास-निरासार्थत्वम्

सर्वात्मनि हि नित्यविज्ञाने बुद्ध्याद्यनित्यधर्मा लोकैरध्यारोपिता आत्माविवेकतस्तदपोहार्थो बोधोपदेशो बोधात्मनः ।

सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि वह उपदेश लोगोद्वारा किये हुए अध्यारोपकी निवृत्तिके लिये है । लोगोंने आत्मतत्त्वके अज्ञानवश उस नित्यविज्ञानस्वरूप सर्वात्मापर बुद्धि आदि अनित्य धर्मोंका आरोप किया हुआ है । उसकी निवृत्तिके लिये ही उस ज्ञानस्वरूपके ज्ञानका उपदेश किया जाता है ।

तत्र च बोधाबोधौ समञ्जसौ, अन्यनिमित्तत्वादुदक इवौष्ण्यम्

तथा उस बोधस्वरूपमें बोध और अबोध समीचीन भी है, क्योंकि जैसे अग्निके कारण जलमें उष्णता रहती है

पद-भाष्य

"यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म" (बृ० उ० ३ । ४ । १) "य आत्मा सर्वान्तरः" (बृ० उ० ३ । ४ । १) इत्यादिश्रुत्यन्तरेभ्यश्चेति ।

"जो साक्षात् अपरोक्षरूपसे ब्रह्म ही है" "जो आत्मा सर्वान्तर है" इत्यादि अन्य श्रुतियोंसे भी प्रमाणित होती है ।

वाक्य-भाष्य

अग्निनिमित्तम्,रात्र्यहनी इवादित्यनिमित्ते । लोके नित्यावौष्ण्यप्रकाशावग्न्यादित्ययोरन्यत्रभावाभावयोर्निमित्तत्वादनित्याविव उपचर्येते । धक्ष्यत्यग्निः प्रकाशयिष्यति सवितेति तद्वत् । एवं च सुखदुःखबन्धमोक्षाद्यध्यारोपो लोकस्य तदपेक्ष्य तत्त्वमस्यात्मानमेवावेदित्यात्मावबोधोपदेशेन श्रुतयः केवलमध्यारोपापोहार्थाः ।

तथा सूर्यके कारण दिन और रात हुआ करते हैं, वैसे ही उनका कारण भी अन्य (आरोपित धर्म) ही है । उष्णता और प्रकाश—ये अग्नि और सूर्यके तो नित्य-धर्म हैं, किन्तु लोकमें अन्यत्र अपने भाव और अभावके कारण वे अनित्यवत् उपचरित होते हैं; जैसे—'अग्नि जला देगा', 'सूर्य प्रकाशित करेगा' इत्यादि वाक्योंमें, वैसे ही [आत्माके विषयमें समझना चाहिये] । इस प्रकार लोकका जो सुख-दुःख एवं बन्ध-मोक्षरूप अध्यारोप है उसकी अपेक्षासे ही 'तत्त्वमसि' 'आत्मानमेवावेत्' इत्यादि श्रुतियाँ आत्मज्ञानके उपदेशसे केवल अध्यारोपकी निवृत्तिके लिये ही हैं ।

ब्रह्मणो विदिताविदिताभ्यामन्यत्वम्

यथा सवितासौ प्रकाशयति आत्मानम् इति तद्वत्, बोधाबोधकर्तृत्वं च नित्यबोधात्मनि । तस्मात् अन्यदविदितात् । अधिशब्दश्च अन्यार्थे । यद्वा यद्धि यस्याधि

जिस प्रकार 'यह सूर्य अपने-आपको प्रकाशित करता है' [इस वाक्यसे प्रकाशस्वरूप सूर्यमें प्रकाशकर्तृत्वका उल्लेख किया जाता है] उसी प्रकार नित्यबोधस्वरूप आत्मामें भी ज्ञान और अज्ञानका कर्तृत्व माना गया है। इसलिये वह अविदित (अज्ञात) से भी अन्य है। यहाँ 'अधि' शब्द 'अन्य' अर्थमें है । अथवा जो जिससे अधि

पद-भाष्य

एवं सर्वात्मनः सर्वविशेषरहितस्य चिन्मात्रज्योतिषो ब्रह्मत्वप्रतिपादकस्य वाक्यार्थस्य

इस प्रकार सर्वात्मा सर्वविशेषरहित चिन्मात्रज्योतिःस्वरूप वस्तुका ब्रह्मत्व प्रतिपादन करनेवाले वाक्यार्थ-

वाक्य-भाष्य

तत्ततोऽन्यत्सामर्थ्यात्। यथाधि भृत्यादीनां राजा। अव्यक्तमेव अविदितं ततोऽन्यदित्यर्थः।

(ऊपर) होता है वह उससे अन्य ही हुआ करता है, क्योंकि उस शब्दकी शक्तिसे यही बोध होता है; जिस प्रकार सेवक आदिसे ऊपर राजा।[1] अव्यक्त ही अविदित है, उससे यह आत्मा पृथक् है—यही इसका तात्पर्य है।

विदितमविदितं च व्यक्ताव्यक्ते कार्यकारणत्वेन विकल्पिते ताभ्यामन्यद्ब्रह्म विज्ञानस्वरूपं सर्वविशेषप्रत्यस्तमितम् इत्ययं समुदायार्थः। अत एवात्मत्वान्न हेय उपादेयो वा। अन्यद्ध्यन्येन हेयमुपादेयं वा। न तेनैव तद्यस्य कस्यचिद्धेयमुपादेयं वा भवति। आत्मा च ब्रह्म सर्वान्तरात्मत्वादविषयमतोऽन्यस्यापि न हेयमुपादेयं वा। अन्याभावाच्च।

विदित और अविदित यानी व्यक्त और अव्यक्त ही क्रमशः कार्य तथा कारणभावसे माने गये है उनसे भिन्न वह ब्रह्म है जो सम्पूर्ण विशेषणोंसे रहित विज्ञानस्वरूप है—यह इस समस्त वाक्यसमुदायका तात्पर्य है। अतः आत्मस्वरूप होनेके कारण यह त्याज्य या ग्राह्य भी नहीं है। अन्य वस्तु ही किसी अन्यकी त्याज्य या ग्राह्य हुआ करती है; स्वयं आप ही अपनी कोई भी वस्तु हेय या उपादेय नहीं होती। आत्मा ही ब्रह्म है और सबका अन्तर्यामी होनेसे वह किसी इन्द्रियका विषय भी नहीं है। इसलिये वह किसी अन्यका भी हेय या उपादेय नहीं है। इसके सिवा आत्मासे भिन्न कोई और वस्तु न होनेके कारण भी [वह हेयोपादेयरहित है]।

१. जिस प्रकार सेवकोंके ऊपर होनेके कारण राजा उनसे भिन्न है उसी प्रकार अविदितसे ऊपर होनेके कारण आत्मा उससे भिन्न है।

पद-भाष्य

आचार्योपदेशपरम्परया प्राप्तत्वमाह—इति शुश्रुमेत्यादि । ब्रह्म च एवमाचार्योपदेशपरम्परया एवाधिगन्तव्यं न तर्कतः प्रवचनमेधाबहुश्रुततपोयज्ञादिभ्यश्च, इति एवं शुश्रुम श्रुतवन्तो वयं पूर्वेषाम् आचार्याणां वचनम्; ये आचार्याः नः अस्मभ्यं तद् ब्रह्म व्याचचक्षिरे व्याख्यातवन्तः

का 'इति शुश्रुम पूर्वेषाम्' इत्यादि वाक्यद्वारा आचार्योंके उपदेशकी परम्परासे प्राप्त होना दिखलाया गया है। इस प्रकार वह ब्रह्म आचार्योंकी उपदेश-परम्परासे ही ज्ञातव्य है, तर्कसे अथवा प्रवचन, मेधा, बहुश्रुत, तप एवं यज्ञादिसे नहीं—ऐसा हमने पूर्ववर्ती आचार्योंका वचन सुना है। जिन आचार्योंने हमारे प्रति उस ब्रह्मका व्याख्यान—स्पष्ट कथन

वाक्य-भाष्य

इति शुश्रुम पूर्वेषामित्यागमोपदेशः । व्याचचक्षिर इत्यस्वातन्त्र्यं तर्कप्रतिषेधार्थम् । ये नस्तद्ब्रह्मोक्तवन्तस्ते नित्यमेवागमं ब्रह्मप्रतिपादकं व्याख्यातवन्तो न पुनः स्वबुद्धिप्रभवेण तर्केण उक्तवन्त इत्यागमपारम्पर्याविच्छेदं दर्शयति विद्यास्तुतये । तर्कस्त्वनवस्थितो भ्रान्तोऽपि भवतीति ॥ ३ ॥

यथोक्तस्य आप्तप्रामाणिकत्वम्

'इति शुश्रुम पूर्वेषाम्' (यह हमने पूर्व आचार्योंके मुँहसे सुना है) ऐसा कहकर यह दिखलाते हैं कि यह [परम्परागत] शास्त्रका उपदेश है। हमसे [शास्त्रीय मतका] व्याख्यान किया था [यह उनकी स्वतन्त्र कल्पना नहीं है] ऐसा कहकर जो उन आचार्योंकी अस्वतन्त्रता दिखलायी है वह तर्कका प्रतिषेध करनेके लिये है; जिन्होंने हमसे उस ब्रह्मका वर्णन किया था। अर्थात् उन्होंने ब्रह्म का प्रतिपादन करनेवाले नित्य आगमका ही व्याख्यान करके बतलाया था अपनी बुद्धिसे ही प्रकट हुए तर्कद्वारा नहीं कहा। इस प्रकार ज्ञानकी स्तुतिके लिये शास्त्रपरम्पराका अविच्छेद दिखलाया है, क्योंकि तर्क तो अनवस्थित और भ्रमपूर्ण भी होता है ॥ ३ ॥

पद-भाष्य

विस्पष्टं कथितवन्तः, तेषाम् इत्यर्थः ॥३॥

किया था, उन्हींके [वचनसे हमे उसे जानना चाहिये] यह इसका तात्पर्य है ॥ ३ ॥

'अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि' इत्यनेन वाक्येन आत्मा ब्रह्मेति प्रतिपादिते श्रोतुराशङ्का जाता—कथं न्वात्मा ब्रह्म । आत्मा हि नामाधिकृतः कर्मण्युपासने च संसारी कर्मोपासनं वा साधनमनुष्ठाय ब्रह्मादिदेवान्स्वर्गं वा प्राप्तुमिच्छति । तत्तस्मादन्य उपास्यो विष्णुरीश्वर इन्द्रः प्राणो वा ब्रह्म भवितुमर्हति, न त्वात्मा; लोकप्रत्ययविरोधात् । यथान्ये तार्किका ईश्वरादन्य आत्मा इत्याचक्षते, तथा कर्मिणोऽमुं यजामुं यजेत्यन्या एव देवता उपासते । तस्माद्युक्तं यद्विदितमुपास्यं तद्ब्रह्म भवेत्, ततोऽन्य उपासक इति । तामेतामाशङ्कां शिष्यलिङ्गेनोपलक्ष्य तद्वाक्याद्वा आह—मैवं शङ्किष्ठाः,

'वह विदितसे अन्य है और अविदितसे भी ऊपर है' इस वाक्य-द्वारा आत्मा ही ब्रह्म है—ऐसा प्रतिपादन किये जानेपर श्रोताको यह शंका हुई—आत्मा किस प्रकार ब्रह्म है ? आत्मा तो कर्म और उपासनामे अधिकृत संसारी जीवको कहते है, जो कर्म या उपासनारूप साधनका अनुष्ठान कर ब्रह्मा आदि देवताओ अथवा स्वर्गको प्राप्त करना चाहता है । अतः उससे भिन्न उसका उपास्य विष्णु, ईश्वर, इन्द्र अथवा प्राण ही ब्रह्म होना चाहिये—आत्मा नहीं, क्योकि यह बात लोक-विश्वासके विरुद्ध है । जिस प्रकार अन्य तार्किक लोग आत्माको ईश्वरसे भिन्न बतलाते है उसी प्रकार कर्मकाण्डी भी 'इसका यजन करो—इसका यजन करो' इस प्रकार अन्य देवताकी ही उपासना करते है । अतः उचित यही है कि जो उपास्य विदित है वह ब्रह्म हो और उससे भिन्न उसका उपासक हो । शिष्यके व्याज अथवा उसके वाक्यसे उसकी इस आशंकाको उपलक्षित कर कहते है—ऐसी शंका मत करो,

ब्रह्म वागादिसे अतीत और अनुपास्य है

यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ ४ ॥

जो वाणीसे प्रकाशित नहीं है, किन्तु जिससे वाणी प्रकाशित होती है उसीको तू ब्रह्म जान, जिस इस [देशकालावच्छिन्न वस्तु] की लोक उपासना करता है वह ब्रह्म नहीं है ॥ ४ ॥

पद-भाष्य

यत् चैतन्यमात्रसत्ताकम्, वाचा वागिति जिह्वामूलादिष्वष्टसु स्थानेषु विषक्तमाग्नेयं वर्णानाम् अभिव्यञ्जकं करणम्, वर्णाश्चार्थ-सङ्केतपरिच्छिन्ना एतावन्त एवं क्रमप्रयुक्ता इति; एवं तद्-

जो चैतन्यसत्तास्वरूप ब्रह्म वाणी-से [अप्रकाशित है]—जिह्वामूल आदि आठ स्थानोंमें* आश्रित तथा अग्नि-देवतासे अधिष्ठित वर्णोंको अभिव्यक्त करनेवाली इन्द्रिय एवं अर्थ-संकेतसे परिच्छिन्न और इतने तथा इस क्रमसे† प्रयुक्त होनेवाले हैं, ऐसे

वाक्य-भाष्य

यद्वाचा इति मन्त्रानुवादो दृढप्रतीतेः । अन्यदेव तद्विदितादिति योऽयमागमार्थो ब्राह्मणोक्तोऽस्यैव द्रढिम्ने मन्त्रा यद्वाचेत्यादयः पठ्यन्ते ।

'यद्वाचा' इत्यादि मन्त्रोंका उल्लेख आत्मतत्त्वकी दृढप्रतीतिके लिये किया गया है । 'वह विदितसे भिन्न है' ऐसा जो शास्त्रका तात्पर्य इस ब्राह्मण-ग्रन्थने ऊपर कहा है उसकी पुष्टिके लिये ही ये 'यद्वाचा' इत्यादि मन्त्र पढ़े जाते हैं।

* जिह्वामूल, हृदय, कण्ठ, मूर्धा, दन्त, नासिका, ओष्ठ और तालु ।

† यह मीमांसकोंका मत है, जैसे 'गौः' यह पद गकार, औकार तथा विसर्ग—इस क्रमविशेषसे अवच्छिन्न वर्णरूप ही है ।

पद-भाष्य

भिव्यङ्ग्यः शब्दः पदं वागिति उच्यते; "अकारो वै सर्वा वाक्सैषा स्पर्शान्तस्थोष्मभिर्व्यज्यमाना वह्वी नानारूपा भवति" (ऐ० आ० २।३।७।१३) इति श्रुतेः। मितममितं स्वरः सत्यानृते एष विकारो यस्यास्तया

नियमवाले वर्ण 'वाक्' कहे जाते हैं। तथा उनसे अभिव्यक्त होनेवाला शब्द भी 'पद' या 'वाक्' कहा जाता है। श्रुति कहती है—"अकार* ही सम्पूर्ण वाक् है, और यह वाक् ही अपने स्पर्श[1] अन्तस्थ[2] और ऊष्म[3] आदि भेदोंसे अभिव्यक्त होकर अनेक रूपवाली हो जाती है।" इस प्रकार मित[4] अमित[5] स्वर[6] एवं सत्य और मिथ्या—ये जिसके विकार

वाक्य-भाष्य

यद्ब्रह्म वाचा शब्देनानभ्युदितम् अनभ्युक्तमप्रकाशितमित्येतत्, येन वागभ्युद्यत इति वाक्प्रकाशहेतुत्वोक्तिः। येन प्रकाश्यत इति वाचोऽभिधानस्याभिधेयप्रकाशकत्वस्य हेतुत्वमुच्यते ब्रह्मणः।

जो ब्रह्म वाणीसे अर्थात् शब्दसे अनभ्युदित—अनुक्त अर्थात् अप्रकाशित है। और जिससे वाणी अभ्युदित होती है—ऐसा कहकर उसे वाणीके प्रकाशका हेतु बतलाया है। 'जिससे वाणी प्रकाशित होती है' ऐसा कहकर वाणीके अभिधान (उच्चारण) के अभिधेय (वाच्य) को प्रकाशित करनेमें ब्रह्मको हेतु बतलाया है [अर्थात् यह दिखलाया है कि वाणीमें जो अर्थको अभिव्यञ्जित करनेका सामर्थ्य है वह ब्रह्मका ही है]।

---

* अकार प्रधान ॐकारसे उपलक्षित स्फोट नामक चिच्छक्ति।

१. कसे म तक सभी वर्ण। २. य र ल व। ३. श ष स ह। ४. जिनके पादका अन्त नियत अक्षरोंवाला है उन वाक्योंको मित (ऋग्वेद) कहते हैं। ५. जिनके पादका अन्त नियत अक्षरोंवाला नहीं है उन वाक्योंको अमित (यजुर्वेद) कहते हैं। ६. गायनप्रधान सामवेद 'स्वर' कहलाता है।

पद-भाष्य

वाचा पदत्वेन परिच्छिन्नया करणगुणवत्या—अनभ्युदितम् अप्रकाशितमनभ्युक्तम् ।

येन ब्रह्मणा विवक्षितेऽर्थे सकरणा वाक् अभ्युद्यते चैतन्यज्योतिषा प्रकाश्यते प्रयुज्यत इत्येतद्यद्वाचो ह वागित्युक्तम्, "वदन्वाक्" (बृ० उ० १ । ४ । ७) "यो वाचमन्तरो यमयति" (बृ० उ० ३ । ७ । १७) इत्यादि च वाजसनेयके । "या वाक् पुरुषेषु सा घोषेषु प्रतिष्ठिता

है उस पदरूपसे परिच्छिन्न एवं वागिन्द्रियरूप गुणवाली वाणीसे जो अनभ्युदित—अप्रकाशित अर्थात् नहीं कहा गया है—

बल्कि जिस ब्रह्मके द्वारा वागिन्द्रियसहित वाणी विवक्षित अर्थमे बोली जाती अर्थात् अपने चैतन्य-ज्योतिःस्वरूपसे प्रकाशित यानी प्रयुक्त की जाती है, जो 'वाणीकी वाणी है' इस प्रकार बतलाया गया है [जिसके विषयमे] बृहदारण्यकोपनिषद्मे "बोलनेके कारण वाणी है" "जो भीतरसे वाणीका नियमन करताहै" इत्यादि कहा है, तथा "चेतन प्राणियोमे जो वाणी (वाक्शक्ति) है वह घोषो (वर्णो) मे

वाक्य-भाष्य

उक्तं च केनेषितां वाचमिमां वदन्ति यद्वाचो ह वाचमिति । तदेव ब्रह्म त्वं विद्धीत्यविषयत्वेन ब्रह्मण आत्मन्यवस्थापनार्थ आम्नायः । यद्वाचानभ्युदितं वाक्प्रकाशनिमित्तं चेति ब्रह्मणोऽविषयत्वेन वस्त्वन्तरजिघृक्षां

ऊपर 'लोग किसकी प्रेरणासे इस वाणीको बोलते हैं' इस प्रश्नके उत्तरमे 'जो वाणीका वाणी है' इत्यादि कहा भी जा चुका है । 'तू उसीको ब्रह्म जान' यह आगम ब्रह्मको अविषयरूपसे बुद्धिमे बिठानेके लिये है । 'जो वाणीसे प्रकट नहीं होता बल्कि वाणीके प्रकाशित होनेका हेतु है' इस कथनसे ब्रह्मका अविषयत्व सिद्ध करता हुआ शास्त्र पुरुषको अन्य वस्तुके ग्रहण करनेकी इच्छासे

पद-भाष्य

कश्चित्तां वेद ब्राह्मणः" इति प्रश्नमुत्पाद्य प्रतिवचनमुक्तम् "सा वाग्यया स्वप्ने भाषते" इति। सा हि वक्तुर्वक्तिर्नित्या वाक् चैतन्यज्योतिःस्वरूपा, "न हि वक्तुर्वक्तेर्विपरिलोपो विद्यते" (बृ० उ० ४ । ३ । २६) इति श्रुतेः ।

स्थित है, उसे कोई ब्रह्मवेत्ता ही जानता है" इस प्रकार प्रश्न उठाकर यह उत्तर दिया है कि "जिसके द्वारा जीव स्वप्नमे बोलता है वह वाक् है" वक्ताकी वह नित्य वाचनशक्तिही चैतन्य-ज्योतिःस्वरूप वाक् है जैसा कि "वक्ताकी वाचनशक्तिका लोप कभी नही होता" इस श्रुतिसे सिद्ध होता है।

तदेव आत्मस्वरूपं ब्रह्म निरतिशयं भूमाख्यं बृहत्त्वाद् ब्रह्मेति विद्धि विजानीहि त्वम् । यैर्वागाद्युपाधिभिर्वाचो ह वाक् चक्षुषश्चक्षुः श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनः कर्ता भोक्ता विज्ञाता नियन्ता प्रशासिता विज्ञानमानन्दं ब्रह्म इत्येवमादयः संव्यवहारा असंव्यवहारे निर्विशेषे परे साम्ये ब्रह्मणि प्रवर्तन्ते,

उस आत्मस्वरूपको ही तू बृहत् होनेके कारण 'ब्रह्म' यानी भूमासंज्ञक सर्वोत्कृष्ट ब्रह्म जान । जिन वाक् आदि उपाधियोके कारण, वाणीका वाणी, चक्षुका चक्षु, श्रोत्रका श्रोत्र, मनका मन, कर्ता, भोक्ता, विज्ञाता, नियन्ता, शासनकर्ता, तथा ब्रह्म विज्ञान और आनन्दस्वरूप है— इत्यादि प्रकारके व्यवहार उस अव्यवहार्य निर्विशेष सर्वोत्कृष्ट समस्वरूप ब्रह्ममे प्रवृत्त होते है,

वाक्य-भाष्य

निवर्त्य स्वात्मन्येवावस्थापयति आम्नायस्तदेव ब्रह्म त्वं विद्धीति यत्नत उपरमयति । नेदमित्युपास्यप्रतिषेधाच्च ॥ ४ ॥

निवृत्त करके अपने आत्मस्वरूपमे ही जोड़ता है और 'उसीको तू ब्रह्म जान' इस वाक्यद्वारा वह उसे अन्य प्रयत्नसे उपरत करता है तथा 'नेदं यदिदमुपासते' इस कथनसे भी ब्रह्मका उपास्यत्व निषेध करनेके कारण [वह अन्य सब ओरसे उसे निवृत्त करता है] ॥ ४ ॥

पद-भाष्य

तान्व्युदस्य आत्मानमेव निर्विशेषं ब्रह्म विद्धीति एवशब्दार्थः। नेदं ब्रह्म यदिदम् इत्युपाधिभेदविशिष्टमनात्मेश्वरादि उपासते ध्यायन्ति। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि इत्युक्तेऽपि नेदं ब्रह्म इत्यनात्मनोऽब्रह्मत्वं पुनरुच्यते नियमार्थम् अन्यब्रह्मबुद्धिपरिसंख्यानार्थं वा ॥४॥

उन सब उपाधियोंका बाधकर अपने निर्विशेष आत्माको ही ब्रह्म जान—यही 'एव' शब्दका अर्थ है। जिस इस उपाधिविशिष्ट अनात्मा ईश्वरादिकी उपासना—ध्यान करते हैं यह ब्रह्म नहीं है। 'उसीको तू ब्रह्म जान' इतना कह देनेपर भी [अनात्मवस्तुमें ब्रह्मभावनाका निषेध हो ही जाता] पुनः 'यह ब्रह्म नहीं है' इस वाक्यके द्वारा जो अनात्माका अब्रह्मत्व प्रतिपादन किया है वह आत्मामें ही ब्रह्मबुद्धिका नियमन करनेके लिये अथवा अन्य उपास्य देवताओंमें ब्रह्म-बुद्धिकी निवृत्ति करनेके लिये है ॥४॥

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम् ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ ५ ॥

जो मनसे मनन नहीं किया जाता, बल्कि जिससे मन मनन किया हुआ कहा जाता है उसीको तू ब्रह्म जान। जिस इस [देश-कालावच्छिन्न वस्तु] की लोक उपासना करता है वह ब्रह्म नहीं है ॥ ५ ॥

पद-भाष्य

यन्मनसा न मनुते; मन इत्यन्तःकरणं बुद्धिमनसोरेकत्वेन गृह्यते । मनुतेऽनेनेति मनः सर्वकरणसाधारणम्, सर्वविषयव्यापकत्वात् । "कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धाश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव" (बृ० उ० १ । ५ । ३) इति श्रुतेः कामादिवृत्तिमन्मनः । तेन मनसा यत् चैतन्यज्योतिर्मनसः अवभासकं न मनुते न सङ्कल्पयति नापि निश्चिनोति लोकः, मनसोऽवभासकत्वेन नियन्तृत्वात् । सर्वविषयं प्रति प्रत्यगेवेति स्वात्मनि न प्रवर्ततेऽन्तःकरणम् । अन्तःस्थेन हि चैतन्यज्योतिषावभासितस्य मनसो मननसामर्थ्यम्; तेन सवृत्तिकं

जिसका मनके द्वारा मनन नहीं किया जाता; मन और बुद्धिके एकत्वरूपसे यहाँ मन शब्दसे अन्तःकरणका ग्रहण किया जाता है । जिसके द्वारा मनन करते हैं उसे मन कहते हैं; वह समस्त इन्द्रियोंके विषयोंमें व्यापक होनेके कारण सम्पूर्ण इन्द्रियोंके लिये समान है । "काम, संकल्प, संशय, श्रद्धा, अश्रद्धा, धैर्य, अधैर्य, लज्जा, बुद्धि और भय—ये सब मन ही हैं" इस श्रुतिके अनुसार मन कामादि वृत्तियोंवाला है । उस मनके द्वारा यह लोक जिस मनके प्रकाशक चैतन्यज्योतिका मनन—संकल्प अथवा निश्चय नहीं कर सकता, क्योंकि मनका प्रकाशक होनेके कारण वह तो उसका नियामक है । आत्मा सब विषयोंके प्रति प्रत्यक्‌रूप (आन्तरिक) ही है; अतः उसमें मन प्रवृत्त नहीं हो सकता । अपने भीतर स्थित चैतन्यज्योतिसे प्रकाशित हुए मनमें ही मनन करनेका सामर्थ्य है । उसके द्वारा वृत्तियुक्त हुए

वाक्य-भाष्य

यन्मनसा इत्यादि समानम् । मनो मतमिति येन ब्रह्मणा मनोऽपि विषयीकृतं नित्यविज्ञानस्वरूपेण

'यन्मनसा' इत्यादि श्रुतियोंका तात्पर्य समान ही है । 'मन मनन किया जाता है' अर्थात् जिस नित्य विज्ञानस्वरूप ब्रह्मद्वारा मन भी विषय

पद-भाष्य

मनो येन ब्रह्मणा मतं विषयीकृतं व्याप्तम् आहुः कथयन्ति ब्रह्मविदः। तस्मात् तदेव मनस आत्मानं प्रत्यक्चेतयितारं ब्रह्म विद्धि। नेदमित्यादि पूर्ववत् ॥५॥

मनको ब्रह्मवेत्तालोग जिस ब्रह्मके द्वारा मत—विषयीकृत अर्थात् व्याप्त बतलाते है; उस मनके प्रत्यक्चेतयिता आत्माको ही तू ब्रह्म जान। 'नेदं....' इत्यादि वाक्यकी व्याख्या पूर्ववत् समझनी चाहिये ॥ ५ ॥

यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूँषि पश्यति।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ ६ ॥

जिसे कोई नेत्रसे नहीं देखता बल्कि जिसकी सहायतासे नेत्र [अपने विपयोको] देखते है उसीको तू ब्रह्म जान। जिस इस [देश-कालावच्छिन्न वस्तु] की लोक उपासना करता है वह ब्रह्म नहीं है ॥६॥

पद-भाष्य

यत् चक्षुपा न पश्यति न विपयीकरोति अन्तःकरणवृत्तिसंयुक्तेन लोकः, येन चक्षूंपि अन्तःकरणवृत्तिभेदभिन्नाश्चक्षुर्वृत्तीः पश्यति चैतन्यात्मज्योतिपा विपयीकरोति व्याप्नोति। तदेवेत्यादि पूर्ववत् ॥६॥

लोक जिसे अन्तःकरणकी वृत्तिसे युक्त नेत्रद्वारा नही देखता अर्थात् विपय नहीं करता किन्तु जिस चैतन्यआत्मज्योतिके द्वारा चक्षुओ अर्थात् अन्तःकरणकी वृत्तियोके भेदसे विभिन्न हुई—नेत्रेन्द्रियकी वृत्तियोको देखता—विपय करता यानी व्याप्त करता है उसीको तू ब्रह्म जान इत्यादि पूर्ववत् समझना चाहिये ॥६॥

वाक्य-भाष्य

इत्येतत्। सर्वकरणानामविपयम्, तानि च सव्यापाराणि सविपयाणि नित्यविज्ञानस्वरूपावभासतया

किया जाता है। जो सब इन्द्रियोका अविपय है और नित्य विज्ञानस्वरूपसे अवभासित होनेके कारण जिससे वे

यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदꣳ श्रुतम् ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ ७ ॥

जिसे कोई कानसे नहीं सुनता बल्कि जिससे यह श्रोत्रेन्द्रिय सुनी जाती है उसीको तू ब्रह्म जान । जिस इस [देशकालाद्यवच्छिन्न वस्तु] की लोक उपासना करता है वह ब्रह्म नहीं है ॥ ७ ॥

पद-भाष्य

यत् श्रोत्रेण न शृणोति दिग्देवताधिष्ठितेन आकाशकार्येण मनोवृत्तिसंयुक्तेन न विषयीकरोति लोकः, येन श्रोत्रम् इदं श्रुतं यत्प्रसिद्धं चैतन्यात्मज्योतिषा विषयीकृतं तदेव इत्यादि पूर्ववत् ॥७॥

लोक जिसे मनोवृत्तिसे युक्त आकाशके कार्यभूत तथा दिशारूप देवतासे अधिष्ठित श्रोत्रेन्द्रियद्वारा नहीं सुन सकता अर्थात् जिसे श्रोत्रसे विषय नहीं कर सकता, बल्कि जिस चैतन्यआत्मज्योतिद्वारा यह प्रसिद्ध श्रोत्र सुना यानी विषय किया जाता है वही [ब्रह्म है] इत्यादि पूर्ववत् समझना चाहिये ॥७॥

यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ ८ ॥

जो नासिकारन्ध्रस्थ प्राणके द्वारा विषय नहीं किया जाता बल्कि जिससे प्राण अपने विषयोंकी ओर जाता है उसीको तू ब्रह्म जान । जिस इस [देशकालावच्छिन्न वस्तु] की लोक उपासना करता है वह ब्रह्म नहीं है ॥ ८ ॥

वाक्य-भाष्य

येनावभास्यन्त इति श्लोकार्थः । "क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति" (गीता १३ । ३३)

सभी इन्द्रियाँ अपने व्यापार और विषयोंके सहित अवभासित होती हैं—यह इन मन्त्रोंका तात्पर्य है । "तथा क्षेत्रज्ञ सम्पूर्ण क्षेत्रको प्रकाशित करता

पद-भाष्य

यत् प्राणेन घ्राणेन पार्थिवेन नासिकापुटान्तरवस्थितेनान्तःकरणप्राणवृत्तिभ्यां सहितेन यन्न प्राणिति गन्धवन्न विषयीकरोति, येन चैतन्यात्मज्योतिषावभास्यत्वेन स्वविषयं प्रति प्राणः प्रणीयते तदेवेत्यादि सर्वं समानम् ॥८॥

अन्तःकरणकी और प्राणकी वृत्तियोके सहित नासिकारन्ध्रमे स्थित एवं पृथिवीके कार्यभूत प्राण यानी घ्राणके द्वारा जो प्राणन अर्थात् गन्धयुक्त वस्तुओंको विषय नही करता, बल्कि जिस चैतन्यआत्मज्योतिसे प्रकाश्यरूपसे प्राण अपने विषयकी ओर प्रवृत्त किया जाता है वही ब्रह्म है इत्यादि शेष सब अर्थ पहलेहीके समान है ॥ ८ ॥

इति प्रथमः खण्डः ॥१॥

वाक्य-भाष्य

इति स्मृतेः। "तस्य भासा" (मु० उ० २।२।१०) इति चाथर्वणे। येन प्राण इति क्रियाशक्तिरप्यात्मविज्ञाननिमित्तेत्येतत् ॥५॥ ६॥ ॥७॥ ॥८॥

है" इस स्मृतिसे और "उसीके तेजसे [यह सब प्रकाशित है]" इस आथर्वणी श्रुतिसे भी यही प्रमाणित होता है। 'येन प्राणः' इस श्रुतिका यह तात्पर्य है कि क्रियाशक्ति भी आत्मविज्ञानके कारण ही प्रवृत्त होती है ॥ ५-८ ॥

इति प्रथमः खण्डः ॥ १ ॥

द्वितीय खण्ड

ब्रह्मज्ञानकी अनिर्वचनीयता

पद-भाष्य

एवं हेयोपादेयविपरीतस्त्वमात्मा ब्रह्मेति प्रत्यायितः शिष्यः अहमेव ब्रह्मेति सुष्ठु वेदाहमिति मा गृह्णीयादित्याशयादाहाचार्यः शिष्यबुद्धिविचालनार्थम्—यदीत्यादि ।

इस प्रकार हेयोपादेयसे विपरीत तू आत्मा ही ब्रह्म है—ऐसी प्रतीति कराया हुआ शिष्य यह न समझ बैठे कि 'ब्रह्म मैं ही हूँ, ऐसा मैं उसे अच्छी तरह जानता हूँ' इस अभिप्रायसे उसकी बुद्धिको [इस निश्चयसे] विचलित करनेके लिये आचार्यने 'यदि मन्यसे' इत्यादि कहा।

नन्विष्टैव सु वेदाहम् इति निश्चिता प्रतिपत्तिः ।

पूर्व०—मैं उसे अच्छी तरह जानता हूँ—ऐसा निश्चित ज्ञान तो इष्ट ही है ।

ब्रह्मणोऽवेद्यत्वे हेतु.

सत्यम्, इष्टा निश्चिता प्रतिपत्तिः; न हि सु वेदाहमिति । यद्धि वेद्यं वस्तु विषयीभवति, तत्सुष्ठु वेदितुं शक्यम्, दाह्यमिव दग्धुम् अग्नेर्दग्धुः न त्वग्नेः स्वरूपमेव । सर्वस्य हि वेदितुः स्वात्मा ब्रह्मेति सर्ववेदान्तानां सुनिश्चितोऽर्थः । इह च तदेव प्रतिपादितं प्रश्न-

सिद्धान्ती—ठीक है, निश्चित ज्ञान तो अवश्य इष्ट ही है, परन्तु 'मैं उसे अच्छी तरह जानता हूँ' ऐसा कथन इष्ट नहीं है । जो वेद्य वस्तु वेत्ताकी विषय होती है वही अच्छी तरह जानी जा सकती है; जिस प्रकार दहन करनेवाले अग्निके दाहका विषय दाह्य पदार्थ ही हो सकता है उसका स्वरूप नहीं हो सकता । 'ब्रह्म सभी ज्ञाताओंका आत्मा (अपना-आप) ही है' यह समस्त वेदान्तोंका भलीभाँति निश्चय किया हुआ अर्थ है । यहाँ भी

पद-भाष्य

प्रतिवचनोक्त्या 'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' इत्याद्यया । 'यद्वाचानभ्युदितम्' इति च विशेषतोऽवधारितम् । ब्रह्मवित्सम्प्रदायनिश्चयश्चोक्तः 'अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि' इति । उपन्यस्तमुपसंहरिष्यति च 'अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्' इति । तस्माद्युक्तमेव शिष्यस्य सु वेदेति बुद्धिं निराकर्तुम् ।

'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' इत्यादि प्रश्नोत्तरोंद्वारा उसीका प्रतिपादन किया गया है । उसीको 'यद्वाचानभ्युदितम्' इस वाक्यद्वारा विशेषरूपसे निश्चय किया है । 'वह विदितसे अन्य है और अविदितसे भी ऊपर है' इस वाक्यद्वारा ब्रह्मवेत्ताओंके सम्प्रदायका निश्चय भी बतलाया गया है; तथा इस प्रकार उल्लेख किये हुए प्रकरणका 'अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्' इस वाक्यद्वारा उपसंहार करेंगे । अतः 'मैं अच्छी तरह जानता हूँ' ऐसी शिष्यकी बुद्धिका निराकरण करना उचित ही है ।

न हि वेदिता वेदितुर्वेदितुं शक्यः अग्निर्दग्धुरिव दग्धुमग्नेः ।

जिस प्रकार जलानेवाले अग्निद्वारा स्वयं अग्नि नहीं जलाया जा सकता उसी प्रकार जाननेवालेके

वाक्य-भाष्य

यदि मन्यसे सुवेद इति शिष्यबुद्धिविचालना गृहीतस्थिरतायै । विदिताविदिताभ्यां निवर्त्य बुद्धिं शिष्यस्य स्वात्मन्यवस्थाप्य तदेव ब्रह्म त्वं विद्धीति स्वाराज्येऽभिषिच्य उपास्यप्रतिषेधेनाथास्य बुद्धिं विचालयति ।

'यदि मन्यसे सुवेद' इत्यादि वाक्यसे जो शिष्यकी बुद्धिको विचलित करना है वह उसके ग्रहण किये हुए अर्थको स्थिर करनेके लिये ही है । शिष्यकी बुद्धिको ज्ञात और अज्ञात वस्तुओंसे हटाकर 'तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि' (उसीको तू ब्रह्म जान) इस कथनसे अपने आत्मस्वरूपमें स्थिर कर तथा उपास्यके प्रतिषेधद्वारा उसे स्वाराज्यपर अभिषिक्त कर अब उसकी बुद्धिको विचलित करते हैं ।

पद-भाष्य

न चान्यो वेदिता ब्रह्मणोऽस्ति यस्य वेद्यमन्यत्स्याद्ब्रह्म। "नान्यदतोऽस्ति विज्ञातृ" (बृ० उ० ३।८।११) इत्यन्यो विज्ञाता प्रतिषिध्यते। तस्मात् सुष्ठु वेदाहं ब्रह्मेति प्रतिपत्तिर्मिथ्यैव। तस्माद् युक्तमेवाहाचार्यो यदीत्यादि।

द्वारा स्वयं जाननेवाला नहीं जाना जा सकता। ब्रह्मका जाननेवाला कोई और है भी नही जिसका वह उससे भिन्न ब्रह्म ज्ञेय हो सके। "इससे भिन्न और कोई ज्ञाता नही है" इस श्रुतिद्वारा भी ब्रह्मसे भिन्न ज्ञाताका प्रतिषेध किया गया है। अतः 'मै ब्रह्मको अच्छी तरह जानता हूँ' यह समझना मिथ्या ही है। इसलिये गुरुने 'यदि मन्यसे' इत्यादि ठीक ही कहा है।

यदि मन्यसे सुवेदेति दहरमेवापि[1] नूनम्। त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपं यदस्य त्वं यदस्य देवेष्वथ नु मीमांस्यमेव ते मन्ये विदितम् ॥ १ ॥

यदि तू ऐसा मानता है कि 'मै अच्छी तरह जानता हूँ, तो निश्चय ही तू ब्रह्मका थोडा-सा ही रूप जानता है। इसका जो रूप तू जानता है और इसका जो रूप देवताओंमे विदित है [वह भी अल्प ही है] अतः तेरे लिये ब्रह्म विचारणीय ही है। [तब शिष्यने एकान्त देशमे विचार करनेके अनन्तर कहा—] 'मै ब्रह्मको जान गया—ऐसा समझता हूँ' ॥ १ ॥

पद-भाष्य

यदि कदाचित् मन्यसे सुवेदेति सुष्ठु वेदाहं ब्रह्मेति।

यदि कदाचित् तू ऐसा मानता हो कि मै ब्रह्मको अच्छी तरह

वाक्य-भाष्य

यदि मन्यसे सुवेद अहं ब्रह्मेति त्वं ततोऽल्पमेव ब्रह्मणो

यदि तू यह मानता है कि मै ब्रह्मको अच्छी तरह जानता हूँ तो तू निश्चय

१ 'दभ्रमेव' ऐसा भी पाठ है।

पद-भाष्य

कदाचिद्यथाश्रुतं दुर्विज्ञेयमपि क्षीणदोषः सुमेधाः कश्चित्प्रतिपद्यते कश्चिन्नेति साशङ्कमाह यदीत्यादि । दृष्टं च "य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्म" (छा० उ० ८ । ७ । ४) इत्युक्ते प्राजापत्यः पण्डितोऽप्यसुरराड् विरोचनः स्वभावदोषवशादनुपपद्यमानमपि विपरीतमर्थं शरीरमात्मेति प्रतिपन्नः । तथेन्द्रो देवराट् सकृद्द्विस्त्रिरुक्तं चाप्रतिपद्यमानः स्वभावदोषक्षयमपेक्ष्य

जानता हूँ । जिसके दोष क्षीण हो गये है ऐसा कोई बुद्धिमान् पुरुष कभी सुने हुएके अनुसार दुर्विज्ञेय विषयको भी समझ लेता है और कोई नहीं भी समझता—इस आशयसे ही [गुरुने] 'यदि मन्यसे' इत्यादि शंकायुक्त वाक्य कहा है । ऐसा देखा भी गया है कि "यह जो नेत्रोंके भीतर पुरुष दिखायी देता है यही आत्मा है, यही अमृत है, यही अभयपद है और यही ब्रह्म है—ऐसा [ब्रह्माने] कहा" इस प्रकार ब्रह्माजीके कहनेपर प्रजापतिकी सन्तान और पण्डित होनेपर भी असुरराज विरोचनने अपने स्वभावके दोषसे, किसी प्रकार सिद्ध न होनेपर भी शरीर ही आत्मा है, ऐसा विपरीत अर्थ समझ लिया । तथा देवराज इन्द्रने भी एक, दो तथा तीन बार कहनेपर भी इसका भाव न समझकर अपने स्वभावका दोष क्षीण हो जानेके

वाक्य-भाष्य

रूपं वेत्थ त्वमिति नूनं निश्चितं मन्यत इत्याचार्यः । सा पुनर्विचालना किमर्थेत्युच्यते-पूर्वगृहीतवस्तुनि बुद्धेः स्थिरतायै ।

ही ब्रह्मके रूपको बहुत कम जानता है—ऐसा आचार्य समझते है । परन्तु आचार्य जो शिष्यकी बुद्धिको विचलित करते है वह किसलिये है—इसपर कहते है कि [उनका यह कार्य] शिष्यद्वारा पहले ग्रहण किये हुए अर्थमे बुद्धिकी स्थिरताके लिये है । [इसी

पद-भाष्य

चतुर्थे पर्याये प्रथमोक्तमेव ब्रह्म प्रतिपन्नवान् । लोकेऽपि एकस्माद् गुरोः शृण्वतां कश्चिद्यथावत्प्रतिपद्यते कश्चिदयथावत् कश्चिद्विपरीतं कश्चिन्न प्रतिपद्यते । किमु वक्तव्यमतीन्द्रियमात्मतत्त्वम् ? अत्र हि विप्रतिपन्नाः सदसद्वादिनस्तार्किकाः सर्वे । तस्माद्विदितं ब्रह्मेति सुनिश्चितोक्तमपि विषमप्रतिपत्तित्वाद् यदि मन्यसे इत्यादि साशङ्कं वचनं युक्तमेव आचार्यस्य । दहरम् अल्पमेवापि नूनं त्वं वेत्थ जानीषे ब्रह्मणो रूपम् ।

अनन्तर चौथी बार कहनेपर पहली ही बार कहे हुए ब्रह्मका ज्ञान प्राप्त किया । लोकमे भी एक ही गुरुसे श्रवण करनेवालोमे कोई तो ठीक-ठीक समझ लेता है, कोई ठीक नहीं समझता है, कोई उलटा समझ बैठता है और कोई समझता ही नहीं । फिर यदि अतीन्द्रिय आत्मतत्त्वको न समझ सकें तो इसमे कहना ही क्या है ? इसके सम्बन्धमे तो समस्त सद्वादी और असद्वादी तार्किक भी उलटा ही समझे हुए है । अतः 'ब्रह्मको जान लिया' यह कथन सुनिश्चित होनेपर भी विषम प्रतिपत्ति (ज्ञान) होनेके कारण आचार्यका 'यदि मन्यसे सुवेद' इत्यादि शंकायुक्त कथन उचित ही है । [अतः आचार्य कहते है यदि तू 'ब्रह्मको मैने जान लिया है' ऐसा मानता है तो], निश्चय ही तू ब्रह्मके अल्प रूपको ही जानता है ।

वाक्य-भाष्य

देवेष्वपि सुवेदाहमिति मन्यते यः सोऽप्यस्य ब्रह्मणो रूपं दहरमेव वेत्ति नूनम् । कस्मात् ? अविषयत्वात्कस्यचिद्ब्रह्मणः ।

उद्देश्यको लेकर आचार्य कहते है—] देवताओमे भी जो कोई यह मानता है कि मै ब्रह्मको अच्छी तरह जानता हूँ वह भी निश्चय ही उस ब्रह्मके रूपको बहुत कम जानता है । क्यो ? क्योकि ब्रह्म किसीका भी विषय नही है ।

पद-भाष्य

किमनेकानि ब्रह्मणो रूपाणि महान्त्यर्भकाणि च, येनाह दहरमेवेत्यादि ?

पूर्व०—क्या ब्रह्मके बड़े और छोटे अनेकों रूप है, जिससे कि गुरु 'तू ब्रह्मके अल्प रूपको ही जानता है' ऐसा कह रहे है ?

ब्रह्मण औपाधिकभेद-निरूपणम्

बाढम्; अनेकानि हि नामरूपोपाधिकृतानि ब्रह्मणो रूपाणि, न स्वतः। स्वतस्तु "अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत्" (क० उ० १।३।१५, नृसिंहोत्तर० ९, मुक्तिक० २।७२) इति शब्दादिभिः सह रूपाणि प्रतिषिध्यन्ते।

सिद्धान्ती—हाँ, नाम-रूपात्मक उपाधिके किये हुए तो ब्रह्मके अनेक रूप है, किन्तु स्वतः नहीं है। स्वतः तो "जो अशब्द, अस्पर्श, रूपरहित, अव्यय, रसहीन, नित्य और गन्धहीन है" इस श्रुतिके अनुसार शब्दादिके सहित उसके सभी रूपोंका प्रतिषेध किया जाता है।

ननु येनैव धर्मेण यद्रूप्यते तदेव तस्य स्वरूपमिति ब्रह्मणोऽपि येन विशेषेण निरूपणं तदेव तस्य स्वरूपं स्यात्। अत उच्यते—चैतन्यम् पृथिव्यादीनामन्यतमस्य सर्वेषां विपरिणतानां वा

पूर्व०—जिस धर्मके द्वारा जिसका निरूपण किया जाता है वही उसका रूप हुआ करता है; अतः ब्रह्मका भी जिस विशेषणसे निरूपण होता है वही उसका स्वरूप होना चाहिये। अतः कहते है—चैतन्य पृथिवी आदिका अथवा परिणामको प्राप्त हुए अन्य

वाक्य-भाष्य

अथवाल्पमेवास्याध्यात्मिकं मनुष्येषु देवेषु च आधिदैविकमस्य ब्रह्मणो यद्रूपं तदिति सम्बन्धः। अथ न्विति हेतुमीमांसायाः। यस्माद्दहरमेव सु विदितं ब्रह्मणो रूपमन्यदेव तद्विदि-

अथवा इसका इस प्रकार सम्बन्ध लगाना चाहिये कि इस ब्रह्मका जो मनुष्योंमे आध्यात्मिक और देवताओंमे आधिदैविक रूप है वह बहुत तुच्छ ही है। 'अथ नु' ऐसा कहकर ब्रह्मके विचारमे हेतुप्रदर्शित करते है। क्योंकि 'ब्रह्म विदितसे पृथक् ही है'—ऐसा कहे जानेके कारण ब्रह्मका अच्छी प्रकार जाना हुआ रूप तो अल्प ही है।

पद-भाष्य

धर्मो न भवति, तथा श्रोत्रादीनामन्तःकरणस्य च धर्मो न भवतीति ब्रह्मणो रूपमिति ब्रह्म रूप्यते चैतन्येन । तथा चोक्तम् । "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" (बृ० उ० ३।९।२८) "विज्ञानघन एव" (बृ० उ० २।४।१२) "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तै० उ० २।१।१) "प्रज्ञानं ब्रह्म" (ऐ० उ० ५।३) इति च ब्रह्मणो रूपं निर्दिष्टं श्रुतिषु ।

सत्यमेवम्; तथापि तदन्तःकरणदेहेन्द्रियोपाधिद्वारेणैव विज्ञानादिशब्दैर्निर्दिश्यते, तदनुकारित्वाद् देहादिवृद्धिसङ्कोच-

समस्त पदार्थोंमेसे किसीका धर्म नहीं है और न वह श्रोत्रादि इन्द्रिय अथवा अन्तःकरणका ही धर्म है, अतएव वह ब्रह्मका रूप है, इसीलिये ब्रह्मका चैतन्यरूपसे निरूपण किया जाता है । ऐसा ही कहा भी है—"ब्रह्म विज्ञान और आनन्दस्वरूप है" "वह विज्ञानघन ही है" "ब्रह्म सत्य ज्ञान और अनन्तस्वरूप है" "प्रज्ञान ब्रह्म है" इस प्रकार श्रुतियोमे भी ब्रह्मके रूपका निरूपण किया गया है ।

सिद्धान्ती—यह ठीक है, तथापि वह अन्तःकरण, शरीर और इन्द्रियरूप उपाधिके द्वारा ही विज्ञानादि शब्दोसे निरूपण किया जाता है, क्योकि देहादिके वृद्धि, संकोच,

वाक्य-भाष्य

तादित्युक्तत्वात् । सुवेदेति च मन्यसेऽतोऽल्पमेव वेत्थ त्वं ब्रह्मणो रूपं यस्मादथ नु तस्मान्मीमांस्यम् एवाद्यापि ते तव ब्रह्म विचार्यमेव यावद्विदिताविदितप्रतिषेधागमार्थानुभव इत्यर्थः ।

और तू यह मानता ही है कि मै उसे अच्छी तरह जानता हूँ । इसलिये तू ब्रह्मके अल्प स्वरूपको ही जानता है । क्योंकि ऐसी बात है, इसलिये जबतक तुझे विदित और अविदितका प्रतिषेध करनेवाले शास्त्रवचनका अनुभव न हो तबतक तो अब भी मै तेरे लिये ब्रह्मको मीमांसा यानी विचारके योग्य ही समझता हूँ; यह इसका तात्पर्य है ।

पद-भाष्य

च्छेदादिषु नाशेषु च, न स्वतः। स्वतस्तु "अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्" (के० उ० २ । ३) इति स्थितं भविष्यति।

यदस्य ब्रह्मणो रूपमिति पूर्वेण सम्बन्धः। न केवलमध्यात्मोपाधिपरिच्छिन्नस्यास्य ब्रह्मणो रूपं त्वमल्पं वेत्थ; यदप्यधिदैवतोपाधिपरिच्छिन्नस्यास्य ब्रह्मणो रूपं देवेषु वेत्थ त्वम् तदपि नूनं दहरमेव वेत्थ इति मन्येऽहम्। यदध्यात्मं यदपि देवेषु तदपि चोपाधिपरिच्छिन्नत्वाद्दहरत्वान्न निवर्तते। यत्तु

उच्छेद और नाश आदिमें वह उनका अनुकरण करनेवाला है; परन्तु स्वतः वैसा नहीं है। स्वतः तो वह "जाननेवालोंके लिये अज्ञात है और न जाननेवालोंके लिये ज्ञात है" इस प्रकार निश्चय किया जायगा।

'यदस्य' इस पदसमूहका पूर्ववर्ती 'ब्रह्मणो रूपम्' के साथ सम्बन्ध है। तू केवल आध्यात्मिक उपाधिसे परिच्छिन्न हुए इस ब्रह्मके ही अल्प रूपको नहीं जानता बल्कि अधिदैवत उपाधिसे परिच्छिन्न हुए इस ब्रह्मके भी जिस रूपको तू देवताओंमे जानता है वह भी निश्चय तू इसके अल्प रूपको ही जानता है—ऐसा मै मानता हूँ। इसका जो अध्यात्मरूप है और जो देवताओंमे है वह भी उपाधि-परिच्छिन्न होनेके कारण दहरत्व (अल्पत्व) से दूर नहीं है। किन्तु

वाक्य-भाष्य

मन्ये विदितमिति शिष्यस्य मीमांसानन्तरोक्तिः प्रत्ययत्रयसङ्गतेः। सम्यग्वस्तुनिश्चयाय विचालितः शिष्य आचार्येण मीमांस्यमेव त इति चोक्त एकान्ते

'मन्ये विदितम्' यह शिष्यकी मीमांसा (विचार) करनेके अनन्तरकी उक्ति है—क्योंकि ऐसा माननेपर ही तीन प्रकारकी प्रतीतियोंकी सङ्गति होती है। सम्यक् वस्तुके निश्चयके लिये विचलित किये हुए शिष्यसे जब आचार्यने कहा कि 'तुम्हारे लिये अभी ब्रह्म विचारणीय ही है' तब शिष्यने

पद-भाष्य

विध्वस्तसर्वोपाधिविशेषं शान्तम् अनन्तमेकमद्वैतं भूमाख्यं नित्यं ब्रह्म, न तत्सुवेद्यमित्यभिप्रायः ।

जो सम्पूर्ण उपाधि और विशेषणोसे रहित शान्त अनन्त एक अद्वितीय भूमासंज्ञक नित्य ब्रह्म है वह सुगमतासे जाननेयोग्य नही है—यह इसका अभिप्राय है ।

यत एवम् अथ नु तस्मात् मन्ये अद्यापि मीमांस्यं विचार्यमेव ते तव ब्रह्म । एवमाचार्योक्तः शिष्य एकान्ते उपविष्टः समाहितः सन्, यथोक्तमाचार्येण आगममर्थतो विचार्य, तर्कतश्च निर्धार्य, स्वानुभवं कृत्वा, आचार्यसकाशमुपगम्य उवाच—मन्येऽहमथेदानीं विदितं ब्रह्मेति ॥१॥

क्योकि ऐसी बात है इसलिये अभी तो मैं तेरे लिये ब्रह्मको विचारणीय ही समझता हूँ । आचार्यके ऐसा कहनेपर शिष्यने एकान्तमे बैठकर समाहित हो आचार्यके बतलाये हुए आगमको अर्थसहित विचारकर और तर्कद्वारा निश्चयकर आत्मानुभव करनेके अनन्तर आचार्यके समीप आकर कहा—मै ऐसा मानता हूँ कि अब मुझे ब्रह्म विदित हो गया है ॥ १ ॥

वाक्य-भाष्य

समाहितो भूत्वा विचार्य यथोक्तं सुपरिनिश्चितः सन्नाहागमाचार्यात्मानुभवप्रत्ययत्रयस्यैकविषयत्वेन सङ्गत्यर्थम् । एवं हि सुपरिनिष्ठिता विद्या सफला स्यान्न अनिश्चितेति न्यायः प्रदर्शितो भवति; मन्ये विदितमिति परिनिष्ठितनिश्चितविज्ञानप्रतिज्ञाहेतूक्तेः ॥ १ ॥

एकान्त देशमे समाहित चित्तसे पूर्वोक्त प्रकारसे ब्रह्मको विचारनेके अनन्तर भलीभाँति निश्चय करके शास्त्र, आचार्य और अपना अनुभव—इन तीनो प्रतीतियोकी एक ही विषयमे संगति करनेके लिये कहा [मै ब्रह्मको ज्ञात हुआ ही मानता हूँ] । इससे यह न्याय दिखलाया गया है कि इस प्रकार खूब निश्चित किया हुआ ज्ञान ही सफल होता है—अनिश्चित नहीं, क्योंकि 'मन्ये विदितम्' इस उक्तिसे परिनिष्ठित—निश्चित विज्ञानकी प्रतिज्ञाके हेतुका ही प्रतिपादन किया गया है ॥१॥

पद-भाष्य

कथमिति, शृणु— | कैसे विदित हुआ है सो सुनिये—

अनुभूतिका उल्लेख

नाहं* मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च ।
यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च ॥ २ ॥

मै न तो यह मानता हूँ कि ब्रह्मको अच्छी तरह जान गया और न यही समझता हूँ कि उसे नही जानता । इसलिये मै उसे जानता हूँ और नहीं भी जानता । हम शिष्योंमेसे जो इस प्रकार [उसे विदिताविदितसे अन्य] जानता है वही जानता है ॥ २ ॥

पद-भाष्य

न अहं मन्ये सुवेदेति; नैवाहं मन्ये सुवेद ब्रह्मेति । नैव तर्हि विदितं त्वया ब्रह्मेत्युक्ते आह— नो न वेदेति वेद च । वेद चेति चशब्दान्न वेद च ।

मै अच्छी तरह जानता हूँ—ऐसा नही मानता अर्थात् ब्रह्मको अच्छी तरह जानता हूँ—ऐसा भी मै निश्चयपूर्वक नहीं मानता । 'तब तो तुझे ब्रह्म विदित ही नहीं हुआ'—ऐसा कहनेपर शिष्य कहता है—'मै नही जानता, सो भी बात नही है, जानता भी हूँ'। मूलके 'वेद च' इस पदसमूहके 'च' शब्दसे 'नही भी जानता' ऐसा अर्थ लेना चाहिये ।

वाक्य-भाष्य

परिनिष्ठितं सफलं विज्ञानं प्रतिजानीत आचार्यात्मनिश्चययोः तुल्यतायै यस्माद्धेतुमाह नाह मन्ये सुवेद इति ।

आचार्यका और अपना निश्चय समान ही है—यह दिखलानेके लिये शिष्य अपने अच्छी प्रकार निश्चित किये हुए सफल विज्ञानकी प्रतिज्ञा करता है, क्योंकि 'नाह मन्ये सुवेद'—ऐसा कहकर वह उसका हेतु बतलाता है ।

* यहाँ 'नाह' ऐसा भी पाठ है, वाक्य-भाष्य इसी पाठके अनुसार है।

पद-भाष्य

ननु विप्रतिषिद्धं नाहं मन्ये सुवेदेति, नो न वेदेति, वेद च इति । यदि न मन्यसे सुवेदेति, कथं मन्यसे वेद चेति । अथ मन्यसे वेदैवेति, कथं न मन्यसे सुवेदेति । एकं वस्तु येन ज्ञायते, तेनैव तदेव वस्तु न सुविज्ञायत इति विप्रतिषिद्धं, संशयविपर्ययौ वर्जयित्वा । न च ब्रह्म संशयितत्वेन ज्ञेयं विपरीतत्वेन चेति

गुरु—'मै ब्रह्मको अच्छी तरह जानता हूँ—ऐसा नही मानता' तथा 'मै नहीं जानता—सो भी बात नहीं है बल्कि जानता ही हूँ' ऐसा कहना तो परस्पर विरुद्ध है। यदि तू यह नहीं मानता कि 'उसे अच्छी तरह जानता हूँ' तो ऐसा कैसे समझता है कि 'उसे जानता भी हूँ' और यदि तू मानता है कि 'मैं जानता ही हूँ' तो ऐसा क्यो नहीं मानता कि 'उसे अच्छी तरह जानता हूँ'। संशययुक्त और विपरीत ज्ञानको छोडकर एक वस्तु जिसके द्वारा जानी जाती है उसीसे वही वस्तु अच्छी तरह नहीं जानी जाती—ऐसा कहना तो ठीक नहीं है। और ऐसा भी कोई नियम नहीं बनाया जा सकता कि ब्रह्म संशययुक्त अथवा विपरीतरूपसे

वाक्य-भाष्य

अहेत्यवधारणार्थो निपातो नैव मन्य इत्येतत् । यावदपरिनिष्ठितं विज्ञानं तावत्सुवेद सुष्ठु वेदाहं ब्रह्मेति विपरीतो मम निश्चय आसीत् । स उपजगाम भवद्भिर्विचालितस्य;

'अह' यह निश्चयार्थक निपात है। इसका यह तात्पर्य है कि मै [ब्रह्मको अच्छी तरह जानता हूँ] ऐसा मानता ही नही। जबतक मुझे ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ था तबतक ही मुझे 'मै ब्रह्मको अच्छी तरह जानता हूँ'—ऐसा विपरीत निश्चय था। आपके द्वारा [उस निश्चयसे] विचलित किये जानेपर अब मेरा वह निश्चय दूर हो गया,

पद-भाष्य

नियन्तुं शक्यम् । संशयविपर्ययौ हि सर्वत्रानर्थकरत्वेनैव प्रसिद्धौ ।

एवमाचार्येण विचाल्यमानोऽपि शिष्यो न विचचाल, 'अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि' इत्याचार्योक्तागमसम्प्रदायबलात् उपपत्त्यनुभवबलाच्च; जगर्ज च ब्रह्मविद्यायां दृढनिश्चयतां दर्शयन्नात्मनः ।

ही जाननेयोग्य है, क्योंकि संशय और विपर्यय तो सर्वत्र अनर्थकारी रूपसे ही प्रसिद्ध है ।

आचार्यद्वारा इस प्रकार विचलित किये जानेपर भी 'वह विदितसे अन्य ही है और अविदितसे भी ऊपर है' इस आचार्यके कहे हुए शास्त्रसम्प्रदायके बलसे तथा उपपत्ति और अपने अनुभवके बलसे शिष्य विचलित न हुआ; बल्कि वह ब्रह्मविद्यामे अपनी दृढनिश्चयता दिखलाते हुए गर्जने लगा । किस प्रकार

वाक्य-भाष्य

यथोक्तार्थमीमांसाफलभूतात् स्वात्मब्रह्मत्वनिश्चयरूपात्सम्यक्प्रत्ययाद्विरुद्धत्वात् । अतो नाहं मन्ये सु वेदेति ।

यस्माच्चैतन्नैव न वेद नो न वेदेति मन्य इत्यनुवर्तते; अविदितब्रह्मप्रतिषेधात् । कथं तर्हि मन्यसे इत्युक्त आह—वेद च । चशब्दाद्वेद च न वेद चेत्यभिप्रायः

क्योकि वह पूर्वोक्त अर्थकी मीमांसा (विचार) के फलस्वरूप अपने आत्माके ब्रह्मत्वनिश्चयरूप सम्यक् प्रत्ययके विरुद्ध है । अतः 'मै अच्छी तरह जानता हूँ' ऐसा तो मानता ही नहीं ।

तथा, उस ब्रह्मको मै नहीं जानता—ऐसा भी नही मानता क्योकि अविदित ब्रह्मका प्रतिषेध किया गया है । यहाँ 'नो न वेदेति' इस वाक्यके आगे 'मन्ये' इस क्रिया-पदकी अनुवृत्ति होती है । फिर यह पूछनेपर कि 'तुम किस प्रकार मानते हो ?' शिष्य बोला—'वेद च' । यहाँ 'च' शब्दसे 'वेद च न वेद च' अर्थात् जानता भी हूँ और नही भी जानता—

पद-भाष्य

कथमित्युच्यते—यो यः कश्चिद् नः अस्माकं सब्रह्मचारिणां मध्ये तन्मदुक्तं वचनं तत्त्वतो वेद, स तद्ब्रह्म वेद ।

गर्जने लगा, सो बतलाते है—ब्रह्मचारियोके सहित 'हम शिष्योंमे जो-जो मेरे कहे हुए उस वचनको तत्त्वतः जानता है—वही उस ब्रह्मको जानता है ।'

किंपुनस्तद्वचनमित्यत आह—

अच्छा तो वह वचन है क्या ? ऐसा प्रश्न करनेपर [शिष्य] कहता है—

नो न वेदेति वेद च इति ।

'मै नही जानता—ऐसा भी नहीं है, जानता भी हूँ ।'

यदेव 'अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि' इत्युक्तम्, तदेव वस्तु अनुमानानुभवाभ्यां

जो बात [आचार्यने] 'वह विदितसे अन्य ही है और अविदितसे भी ऊपर है' इस वाक्यद्वारा कही थी उसी वस्तु-को अपने अनुमान और अनुभवसे

वाक्य-भाष्य

विदिताविदिताभ्यामन्यत्वाद्ब्रह्मणः तस्मान्मया विदितं ब्रह्मेति मन्य इति वाक्यार्थः ।

ऐसा अभिप्राय है । क्योकि ब्रह्म विदित और अविदित—दोनोसे ही भिन्न है । अतः 'ब्रह्म मुझे विदित है—यह मानता हूँ'—यही इस वाक्यका अर्थ है ।

अथवा वेद चेति नित्यविज्ञान-ब्रह्मस्वरूपतया नो न वेद वेदैव चाहं स्वरूपविक्रियाभावात् । विशेषविज्ञानं च पराध्यस्तं न स्वत इति परमार्थतो न च वेदेति ।

अथवा 'वेद च' इसका यह अभिप्राय है कि मैं नित्यविज्ञान-ब्रह्म-स्वरूप होनेके कारण 'नही जानता'—ऐसी बात नही है बल्कि जानता ही हूँ, क्योकि अपने स्वरूपमे कोई विकार नही है । तथा विशेष विज्ञान भी दूसरोका आरोपित किया हुआ ही है स्वरूपसे नही है—इसलिये परमार्थतः नही भी जानता ।

पद-भाष्य

संयोज्य निश्चितं वाक्यान्तरेण नो न वेदेति वेद च इत्यवोचत् आचार्यबुद्धिसंवादार्थं मन्दबुद्धिग्रहणव्यपोहार्थं च। तथा च गर्जितमुपपन्नं भवति 'यो नस्तद्वेद तद्वेद' इति ॥२॥

मिलाकर निश्चित करके आचार्यकी बुद्धिको सम्यक् प्रकारसे बतलाने और मन्दबुद्धियोंकी बुद्धिकी पहुँचसे बचानेके लिये एक दूसरे वाक्यसे 'मै नहीं जानता—ऐसा भी नहीं है जानता भी हूँ' ऐसा कहा है। ऐसा होनेपर ही 'हममेसे जो इस [वाक्यके मर्म] को जानता है वही जानता है' यह गर्जना उचित हो सकती है ॥ २ ॥

वाक्य-भाष्य

यो नस्तद्वेद तद्वेदेति पक्षान्तरनिरासार्थमाम्नाय उक्तार्थानुवादात्। यो नोऽस्माकं मध्ये स एव तद्ब्रह्म वेद नान्यः। उपास्यब्रह्मवित्त्वादतोऽन्यस्य यथाहं वेदेति। वेद चेति पक्षान्तरे ब्रह्मवित्त्वं निरस्यते। कुतोऽयमर्थोऽवसीयत इत्युच्यते। उक्तानुवादादुक्तं ह्यनुवदति नो न वेदेति वेद चेति ॥ २ ॥

'यो नस्तद्वेद तद्वेद' यह आगम उपर्युक्त अर्थका अनुवाद होनेके कारण इससे अन्य पक्षोंका निषेध करनेके लिये है। हममेसे जो उस ब्रह्मको इस प्रकार विदित-अविदितसे भिन्न जानता है वही जानता है, और कोई नहीं; क्योंकि जैसा मै जानता हूँ उससे अन्य प्रकार जाननेवाला तो उपास्य अर्थात् कार्यब्रह्मको ही जाननेवाला है। 'वेद च' इस पदसे अन्य पक्षवालेमे ब्रह्मवित्त्वका निरास किया जाता है। किस कारण यह निष्कर्ष निकाला जाता है? सो बतलाते है। ऊपर कहे हुए अर्थका अनुवाद करनेके कारण; क्योंकि यहाँ 'नो न वेदेति वेद च' इस वाक्यसे पूर्वोक्तका ही अनुवाद करते है ॥ २ ॥

पद-भाष्य

शिष्याचार्यसंवादात्प्रतिनिवृत्य स्वेन रूपेण श्रुतिः समस्तसंवादनिर्वृत्तमर्थमेव बोधयति—यस्यामतमित्यादिना—

अब शिष्य और आचार्यके संवादसे निवृत्त होकर श्रुति समस्त संवादसे सम्पन्न होनेवाले अर्थको ही 'यस्यामतम्' इत्यादि अपने ही रूपसे बतलाती है—

ज्ञाता अज्ञ है और अज्ञ ज्ञानी है

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः ।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ॥ ३ ॥

ब्रह्म जिसको ज्ञात नहीं है उसीको ज्ञात है और जिसको ज्ञात है वह उसे नहीं जानता; क्योंकि वह जाननेवालोंका बिना जाना हुआ है और न जाननेवालोंका जाना हुआ है [क्योंकि अन्य वस्तुओंके समान दृश्य न होनेसे वह विषयरूपसे नहीं जाना जा सकता] ॥ ३ ॥

पद-भाष्य

यस्य ब्रह्मविदः अमतम् अविज्ञातम् अविदितं ब्रह्मेति मतम् अभिप्रायः निश्चयः, तस्य मतं ज्ञातं सम्यग्ब्रह्मेत्यभिप्रायः। यस्य पुनः मतं ज्ञातं विदितं

जिस ब्रह्मवेत्ताका ऐसा मत—अभिप्राय अर्थात् निश्चय है कि ब्रह्म अमत—अविज्ञात यानी अविदित है उसे ब्रह्म ठीक-ठीक मत अर्थात् ज्ञात हो गया है—ऐसा इसका तात्पर्य है। और जिसे 'मुझे ब्रह्म मत—ज्ञात अर्थात् विदित हो

वाक्य-भाष्य

यस्यामतम् इति श्रौतम् आख्यायिकार्थोपसंहारार्थम् । शिष्याचार्योक्तिप्रत्युक्तिलक्षणया अनुभवयुक्तिप्रधानया आख्यायिकया योऽर्थः सिद्धः स श्रौतेन

'यस्यामतम्' इत्यादि श्रुति-वचन इस आख्यायिकाका उपसंहार करनेके लिये है। शिष्य और आचार्यकी उक्ति-प्रत्युक्ति ही जिसका लक्षण है ऐसी इस अनुभव और युक्तिप्रधान आख्यायिकासे जो अर्थ सिद्ध हुआ है

पद-भाष्य

मया ब्रह्मेति निश्चयः, न वेदैव सः—न ब्रह्म विजानाति सः।

विद्वदविदुषोर्यथोक्तौ पक्षौ अवधारयति—अविज्ञातं विजानतामिति, अविज्ञातम् अमतम् अविदितमेव ब्रह्म विजानतां सम्यग्विदितवतामित्येतत् ।

गया है'—ऐसा निश्चय है वह जानता ही नहीं—उसे ब्रह्मका ज्ञान नहीं है।

अब 'अविज्ञातं विजानताम्' ऐसा कहकर विद्वान् और अविद्वान्-के उपर्युक्त पक्षोंका अवधारण (निश्चय) करते हैं—जाननेवालों अर्थात् भली प्रकार समझनेवालों-को वह ब्रह्म अविज्ञात—अमत यानी अविदित (अज्ञेय) ही है;

वाक्य-भाष्य

वचनेनागमप्रधानेन निगमनस्थानीयेन संक्षेपत उच्यते। यदुक्तं विदितादन्यद्वागादीनामगोचरत्वात् मीमांसितं चानुभवोपपत्तिभ्यां ब्रह्म तत्तथैव ज्ञातव्यम्।

कस्मात् ? यस्यामतं यस्य विविदिषाप्रयुक्तप्रवृत्तस्य साधकस्य अमतमविज्ञातमविदितं ब्रह्म इत्यात्मतत्त्वनिश्चयफलावसानावबोधतया विविदिषा निवृत्ता इत्यभिप्रायः; तस्य मतं ज्ञातं तेन विदितं ब्रह्म। येनाविषयत्वेन

वह सबका उपसंहार करनेवाले इस शास्त्रप्रधान श्रौतवचनसे संक्षेपमें कहा जाता है। जिसे वागादि इन्द्रियोंका अविषय होनेके कारण जाने हुए पदार्थोंसे भिन्न बतलाया था तथा अनुभव और उपपत्तिसे भी जिसकी मीमांसा की थी उस ब्रह्मको वैसा ही जानना चाहिये।

किस कारणसे ? [सो बतलाते हैं—] जिज्ञासासे प्रेरित होकर प्रवृत्त हुए जिस साधकको ब्रह्म अविज्ञात—अविदित है अर्थात् आत्मतत्त्वनिश्चय-रूप फलमें पर्यवसित होनेवाले ज्ञानरूप-से जिसकी जिज्ञासा निवृत्त हो गयी है उसीको वह विदित—ज्ञात है। तात्पर्य यह कि जिसने ब्रह्मको

पद-भाष्य

विज्ञातं विदितं ब्रह्म अविजानताम् असम्यग्दर्शिनाम्, इन्द्रियमनोबुद्धिष्वेवात्मदर्शिनामित्यर्थः;

तात्पर्य यह है कि इन्द्रिय, मन और बुद्धि आदिमे आत्मभाव करनेवाले असम्यग्दर्शी अज्ञानियोंके लिये ब्रह्म विज्ञात यानी विदित (ज्ञेय) ही है।*

वाक्य-भाष्य

आत्मत्वेन प्रतिबुद्धमित्यर्थः। स सम्यग्दर्शी यस्य विज्ञानानन्तरमेव ब्रह्मात्मभावस्यावसितत्वात् सर्वतः कार्याभावो विपर्ययेण मिथ्याज्ञानो भवति। कथम्? मतं विदितं ज्ञातं मया ब्रह्मेति यस्य विज्ञानं स मिथ्यादर्शी विपरीतविज्ञानो विदितादन्यत्वाद्ब्रह्मणो न वेद स न विजानाति।

अविषयरूपसे आत्मभावसे जाना है उसीने उसे जाना है। जिसे विज्ञानकी प्राप्तिके अनन्तर ही सब ओर ब्रह्मात्मभावकी प्राप्ति हो जानेके कारण कर्तव्यका अभाव हो जाता है वही सम्यग्दर्शी है। इससे विपरीत समझनेवाला मिथ्या ज्ञानी होता है। कैसे? [सो कहते हैं—] जिसका ऐसा विज्ञान है कि ब्रह्म मुझे विदित—ज्ञात अर्थात् मालूम है वह विपरीत विज्ञानवान् मिथ्यादर्शी है, क्योंकि ब्रह्म विदितसे भिन्न है; इसलिये वह ब्रह्मको नहीं जानता—नहीं समझता।

ततश्च सिद्धमवैदिकस्य विज्ञानस्य मिथ्यात्वम्, अब्रह्मविषयतया निन्दितत्वात्तथा कपिलकणभुगादिसमयस्यापि विदितब्रह्मविषयत्वादनवस्थिततर्कजन्यत्वाद्विविदिषानिवृत्तेश्च मिथ्यात्वमिति। स्मृतेश्च "या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च

इन कारणोंसे अवैदिक विज्ञानका मिथ्यात्व सिद्ध हुआ, क्योंकि वह ब्रह्मविषयक न होनेसे, निन्दित है। यही नहीं, कपिल और कणाद आदिके सिद्धान्त भी ज्ञातब्रह्मविषयक, अनवस्थिततर्कजनित और जिज्ञासाकी निवृत्ति न करनेवाले होनेसे मिथ्या ही हैं। "जो वेदबाह्य स्मृतियाँ हैं तथा

* इस वाक्यका तात्पर्य यह है कि 'जिन्हें ब्रह्मके स्वरूपका यथार्थ बोध हो गया है वे तो उसे मन-बुद्धि आदिसे अग्राह्य होनेके कारण अज्ञात यानी अज्ञेय ही मानते हैं। और जो अज्ञानी हैं वे मन-बुद्धि आदिको ही आत्मा समझनेके कारण ब्रह्मका उनके साथ अभेद समझकर यह मानने लगते हैं कि हमने उसे जान लिया है'।

पद-भाष्य

न त्वत्यन्तमेवाव्युत्पन्नबुद्धीनाम्। न हि तेषां विज्ञातम् अस्माभिर्ब्रह्मेति मतिर्भवति। इन्द्रियमनोबुद्ध्युपाधिष्वात्मदर्शिनां तु ब्रह्मोपाधिविवेकानुपलम्भात्, बुद्ध्याद्युपाधेश्च

हाँ, जिनकी बुद्धि अत्यन्त अव्युत्पन्न (अकुशल) है उनके लिये ऐसी बात नहीं है, क्योंकि उन्हें तो 'हमने ब्रह्मको जान लिया है' ऐसी बुद्धि ही नहीं होती। किन्तु जो लोग इन्द्रिय, मन और बुद्धि आदि उपाधियोंमें आत्मभाव करनेवाले हैं उन्हें तो, ब्रह्म और उपाधिके पार्थक्यका ज्ञान न होने तथा बुद्धि

वाक्य-भाष्य

कुदृष्टयः। सर्वास्ता निष्फलाः प्रोक्तास्तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः" (मनु० १२। ९५) इति विपरीतमिथ्याज्ञानयोर्नष्टत्वादिति।

और भी जो कोई कुविचार हैं वे सभी निष्फल कहे गये हैं और सब-के-सब अज्ञाननिष्ठ ही माने गये हैं" इस स्मृतिवाक्यसे भी विपरीत ज्ञान और मिथ्याज्ञानको नष्ट बतलाया गया है।

अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानतामिति पूर्वहेतूक्तिरनुवादस्यानर्थक्यात्। अनुवादमात्रेऽनर्थकं वचनमिति पूर्वोक्तयोर्यस्यामतमित्यादिना ज्ञानाज्ञानयोर्हेत्वर्थत्वेनेदमुच्यते।

'अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्' यह मन्त्रके पूर्वार्धमें कहे हुए अर्थका हेतु-कथन है, क्योंकि उसीका अनुवाद करना तो व्यर्थ होगा। अनुवादमात्रके लिये कोई बात कहना कुछ अर्थ नहीं रखता, इसलिये 'यस्यामतम्' इत्यादि पूर्व पदसे कहे हुए ज्ञान और अज्ञानके हेतुरूपसे ही यह कहा गया है।

अविज्ञातमविदितमात्मत्वेन अविषयतया ब्रह्म विजानतां यस्मात् तस्मात्तदेव ज्ञानम्। यत्तेषां विज्ञातं विदितं व्यक्तमेव बुद्ध्यादिविषयं

क्योंकि विज्ञानियोंको ब्रह्म आत्मस्वरूप होनेके कारण इन्द्रियोंका विषय न होनेसे अविज्ञात—अविदित है, इसलिये वही ज्ञान है। और जो अज्ञानी हैं, जो ऐसा नहीं जानते कि

पद-भाष्य

विज्ञातत्वाद् विदितं ब्रह्मेत्युपपद्यते भ्रान्तिरित्यतोऽसम्यग्दर्शनं पूर्वपक्षत्वेनोपन्यस्यते— विज्ञातमविजानतामिति । अथवा हेत्वर्थ उत्तरार्धोऽविज्ञातमित्यादिः ॥३॥

आदि उपाधिके ज्ञातरूप होनेसे 'ब्रह्म विदित है' ऐसी भ्रान्ति होनी उचित ही है । अतः यहाँ 'विज्ञातमविजानताम्' इस वाक्यद्वारा असम्यग्दर्शनका पूर्वपक्षरूपसे उल्लेख किया गया है । अथवा 'अविज्ञातं विजानताम्' इत्यादि जो मन्त्रका उत्तरार्द्ध है वह* हेतु-अर्थमे है ॥३॥

वाक्य-भाष्य

ब्रह्माविजानतां विदिताविदितव्यावृत्तमात्मभूतं नित्यविज्ञानस्वरूपमात्मस्थमविक्रियममृतमजरमभयमनन्यत्वादविषयमित्येवम् अविजानतां बुद्ध्यादिविषयात्मतयैव नित्यं विज्ञातं ब्रह्म । तस्माद्विदिताविदितव्यक्ताव्यक्तधर्माध्यारोपेण कार्यकारणभावेन सविकल्पमयथार्थविषयत्वात् । शुक्तिकादौ रजताद्यध्यारोपणज्ञानवन्मिथ्याज्ञानं तेषाम् ॥ ३ ॥

ज्ञात और अज्ञात पदार्थोंसे रहित, अपना आत्मा, नित्यविज्ञानस्वरूप, आत्मस्थ, अविक्रिय, अमृत, अजर, अभय और अनन्यरूप होनेके कारण ब्रह्म किसी इन्द्रियका विषय नहीं है— उन्हींको ब्रह्म विज्ञात—विदित—व्यक्त अर्थात् बुद्धि आदिके विषयरूपसे ही प्रतीत होता है, उन्हें सर्वदा बुद्धि आदिके विषयरूपसे ही ब्रह्मका ज्ञान है । अतः विदित-अविदित अथवा व्यक्त-अव्यक्त आदि धर्मोंके आरोपसे [उनका जाना हुआ ब्रह्म] कार्य-कारणभाव रहनेसे सविकल्प ही है क्योंकि वह अयथार्थविषयक है । उनका वह ज्ञान शुक्ति आदिमें आरोपित रजत आदि ज्ञानोंके समान मिथ्या ही है ॥ ३ ॥

* हेतु यों समझना चाहिये—ब्रह्म अज्ञानियोंको इसलिये ज्ञात है, क्योंकि विज्ञानियोंको वह अज्ञात है ।

पद-भाष्य

'अविज्ञातं विजानताम्' इत्यवधृतम् । यदि ब्रह्मात्यन्तम् एवाविज्ञातम्, लौकिकानां ब्रह्मविदां चाविशेषः प्राप्तः । 'अविज्ञातं विजानताम्' इति च परस्परविरुद्धम् । कथं तु तद्ब्रह्म सम्यग्विदितं भवतीत्येवमर्थमाह—

'ब्रह्म जाननेवालोको अविज्ञात है' ऐसा निश्चय हुआ । इस प्रकार यदि ब्रह्म अत्यन्त अविज्ञात ही है तो लौकिक पुरुष और ब्रह्मवेत्ताओंमें कोई भेद नहीं रह जाता; इसके सिवा 'जाननेवालोको अविज्ञात है' यह कथन परस्पर विरुद्ध भी है । फिर वह ब्रह्म सम्यक् प्रकारसे कैसे जाना जाता है—यही बात बतलानेके लिये कहते हैं—

विज्ञानावभासोंमें ब्रह्मकी अनुभूति

प्रतिबोधविदितं मतममृतत्वं हि विन्दते ।
आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम् ॥ ४ ॥

जो प्रत्येक बोध (बौद्ध प्रतीति) मे प्रत्यगात्मरूपसे जाना गया है वही ब्रह्म है—यही उसका ज्ञान है, क्योंकि उस ब्रह्मज्ञानसे अमृतत्वकी प्राप्ति होती है । अमृतत्व अपनेहीसे प्राप्त होता है, विद्यासे तो अज्ञानान्धकारको निवृत्त करनेका सामर्थ्य मिलता है ॥ ४ ॥

पद-भाष्य

प्रतिबोधविदितं बोधं बोधं प्रति विदितम् । बोधशब्देन बौद्धाः प्रत्यया उच्यन्ते । सर्वे प्रत्यया

'प्रतिबोधविदितम्' यानी जो बोध-बोधके प्रति विदित होता है । यहाँ 'बोध' शब्दसे बुद्धिसे होनेवाली प्रतीतियो (ज्ञानों) का कथन हुआ है । अतः समस्त

वाक्य-भाष्य

प्रतिबोधविदितं मतम् इति वीप्सा प्रत्ययानामात्मावबोधद्वारत्वात् । बोधं प्रति

'प्रतिबोधविदितम्' यह द्विरुक्ति है, क्योंकि प्रतीतियाँ ही आत्मज्ञानकी द्वार हैं । 'बोधप्रति बोधं प्रति' (बोध-

पद-भाष्य

विषयीभवन्ति यस्य स आत्मा सर्व-बोधान्प्रति बुध्यते। सर्वप्रत्यय-दर्शी चिच्छक्तिस्वरूपमात्रः प्रत्ययैरेव प्रत्ययेष्वविशिष्टतया लक्ष्यते; नान्यद्द्वारमन्तरात्मनो विज्ञानाय।

प्रतीतियाँ जिसकी विषय होती हैं वह आत्मा समस्त बोधोंके समय जाना जाता है। सम्पूर्ण प्रतीतियोंका साक्षी और चिच्छक्तिस्वरूपमात्र होनेके कारण वह प्रतीतियोंद्वारा सामान्यरूपसे प्रतीतियोंमे ही लक्षित होता है। उस अन्तरात्माका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये कोई और मार्ग नहीं है।

अतः प्रत्ययप्रत्यगात्मतया विदितं ब्रह्म यदा, तदा तन्मतं तत्सम्यग्दर्शनमित्यर्थः सर्वप्रत्ययदर्शित्वे चोपजनना-

प्रत्ययसाक्षितया ब्रह्मणोऽभेद-प्रतिपादनम्

अतः जिस समय ब्रह्मको प्रतीतियोंके अन्तःसाक्षीस्वरूपसे जाना जाता है उसी समय वह ज्ञात होता है; अर्थात् यही उसका सम्यक् ज्ञान है। सम्पूर्ण प्रतीतियोका साक्षी होनेपर ही

वाक्य-भाष्य

बोधं प्रतीति वीप्सा सर्वप्रत्यय-व्याप्त्यर्था। बौद्धा हि सर्वे प्रत्ययाः तप्तलोहवन्नित्यविज्ञानस्वरूपात्म-व्याप्तत्वाद् विज्ञानस्वरूपावभासाः, तदन्यावभासश्चात्मा तद्वि-लक्षणोऽग्निवदुपलभ्यत इति तेन ते द्वारीभवन्त्यात्मोपलब्धौ। तस्मात्प्रतिबोधावभासप्रत्यगात्म-

बोधके प्रति) यह द्विरुक्ति सम्पूर्ण प्रतीतियोमे [ब्रह्मकी] व्याप्ति सूचित करनेके लिये है। बुद्धिजनित सम्पूर्ण प्रतीतियाँ तपे हुए लोहेके समान नित्य विज्ञानस्वरूप आत्मासे व्याप्त रहनेके कारण उस विज्ञानस्वरूपसे ही अवभासित है तथा उनसे पृथक् उनका अवभासक आत्मा [लोहपिण्डमें व्याप्त हुए] अग्निके समान उनसे सर्वथा विलक्षण उपलब्ध होता है। अतः वे बौद्ध प्रत्यय आत्माकी उपलब्धिमे द्वारस्वरूप है। इसलिये प्रत्येक बौद्ध प्रत्ययके अवभासमे जो प्रत्यगात्म-

पद-भाष्य

पायवर्जितदृक्स्वरूपता नित्यत्वं विशुद्धस्वरूपत्वमात्मत्वं निर्विशेषतैकत्वं च सर्वभूतेषु सिद्धं भवेत्; लक्षणभेदाभावाद्व्योम्न इव घटगिरिगुहादिषु। विदिताविदिताभ्यामन्यद्ब्रह्मेत्यागमवाक्यार्थ एवं परिशुद्ध एवोपसंहृतो भवति। "दृष्टेर्द्रष्टा श्रुतेः श्रोता मतेर्मन्ता विज्ञातेर्विज्ञाता" इति हि श्रुत्यन्तरम्।

उसका वृद्धिक्षयशून्य साक्षित्व, नित्यत्व, विशुद्धस्वरूपत्व, आत्मत्व, निर्विशेषत्व और सम्पूर्ण भूतोमे [अनुस्यूत] एकत्व सिद्ध हो सकता है, जिस प्रकार कि लक्षणोमे भेद न होनेके कारण घट, पर्वत और गुहादिमें आकाशका अभेद है। इस प्रकार 'ब्रह्म विदित और अविदित—दोनोंहीसे भिन्न है' इस शास्त्रवचनके अर्थका ही भली प्रकार शोधन करके यहाँ उपसंहार किया गया है। इसके सिवा "वह दृष्टिका द्रष्टा है, श्रवणका श्रोता है, मतिका मनन करनेवाला है और विज्ञातिका विज्ञाता है" ऐसी एक दूसरी श्रुति भी है। [उससे भी यही सिद्ध होता है]।

वाक्य-भाष्य

तथा यद्विदितं तद्ब्रह्म तदेव मतं ज्ञातं तदेव सम्यग्ज्ञानवत्प्रत्यगात्मविज्ञानम्, न विषयविज्ञानम्।

आत्मत्वेन प्रत्यगात्मानमैक्षदिति च काठके।

आत्मज्ञानं अमृतत्व-निमित्तम्

'अमृतत्वं हि विन्दते' इति हेतुवचनम्; विपर्यये मृत्युप्राप्तेः। विषयात्मविज्ञाने हि मृत्युः प्रारभत

स्वरूपसे जाना जाता है वही ब्रह्म है, वही माना हुआ अर्थात् ज्ञात है तथा वही सम्यग्ज्ञानके सहित प्रत्यगात्माका ज्ञान है; विषयज्ञान सम्यग्ज्ञान नही है।

'प्रत्यगात्माको आत्मस्वरूपसे देखा' ऐसा कठोपनिषद्मे कहा है। 'अमृतत्वं हि विन्दते' (आत्मज्ञानसे अमरत्व ही प्राप्त होता है) यह हेतुसूचक वाक्य है, क्योंकि इससे विपरीत ज्ञानसे मृत्युकी प्राप्ति होती है। बुद्धि आदि विषयोमे आत्मत्व बोध होनेसे ही

पद-भाष्य

यदा पुनर्बोधक्रियाकर्तेति बोधक्रियालक्षणेन तत्कर्तारं विजानातीति बोधलक्षणेन विदितं प्रतिबोधविदितमिति व्याख्यायते, यथा यो वृक्षशाखाश्चालयति स वायुरिति तद्वत्; तदा बोधक्रियाशक्तिमानात्मा द्रव्यम्, न बोधस्वरूप एव । बोधस्तु जायते विनश्यति च । यदा बोधो जायते, तदा बोधक्रियया स-

जिस प्रकार, जो वृक्षकी शाखाओंको चलायमान करता है उसे वायु कहते हैं उसी प्रकार—जिस समय 'प्रतिबोधविदितम्' इसका ऐसा अर्थ किया जाता है कि आत्मा बोधक्रियाका कर्ता है; अतः बोधक्रियारूप लिङ्गसे उसके कर्ताको जानता है, इसलिये बोधरूपसे विदित होनेके कारण वह 'प्रतिबोधविदितम्' कहलाता है उस समय—आत्मा बोधक्रियारूप शक्तिसे युक्त एक द्रव्य सिद्ध होता है, साक्षात् बोधस्वरूप ही सिद्ध नहीं होता । बोध (बुद्धिगत प्रतीति) तो उत्पन्न होता है और नष्ट भी हो जाता है । अतः जिस समय बोध उत्पन्न होता है उस समय तो

वाक्य-भाष्य

इत्यात्मविज्ञानममृतत्वनिमित्तम् इति युक्तं हेतुवचनममृतत्वं हि विन्दत इति ।

आत्मज्ञानेन किममृतत्वमुत्पाद्यते ?

न ।

कथं तर्हि ?

आत्मना विन्दते स्वेनैव नित्यात्मस्वभावेनामृतत्वं विन्दते । नालम्बनपूर्वकम् । विन्दत इति

मृत्युका आरम्भ होता है, अतः आत्मविज्ञान अमरत्वका हेतु है, इसलिये 'अमृतत्वं हि विन्दते' यह हेतुवचन ठीक ही है ।

पूर्व०—क्या आत्मज्ञानसे अमरत्व उत्पन्न किया जाता है ?

सिद्धान्ती—नहीं ।

पूर्व०—तब कैसे ?

सिद्धान्ती—अमरत्व तो आत्मासे—अपने नित्यात्मस्वभावसे ही प्राप्त करते हैं, किसीके आश्रयसे नहीं । 'विन्दते' इससे यह समझना चाहिये कि उसकी

पद-भाष्य

विशेषः। यदा बोधो नश्यति, तदा नष्टबोधो द्रव्यमात्रं निर्विशेषः। तत्रैवं सति विक्रियात्मकः सावयवोऽनित्योऽशुद्ध इत्यादयो दोषा न परिहर्तुं शक्यन्ते।

वह बोधक्रियारूप विशेषणसे युक्त होता है और जब उसका नाश हो जाता है तो वह निर्विशेष द्रव्यमात्र रह जाता है। ऐसा माननेसे तो वह विकारी, सावयव, अनित्य और अशुद्ध निश्चित होता है, और उसके इन दोषोका किसी प्रकार परिहार नहीं किया जा सकता।

कणादमत-समीक्षा

यदपि काणादानाम् आत्ममनः संयोगजो बोध आत्मनि समवैति; अत आत्मनि बोद्धृत्वम्, न तु विक्रियात्मक आत्मा; द्रव्यमात्रस्तु भवति घट इव रागसमवायी; अस्मिन् पक्षेऽप्यचेतनं द्रव्यमात्रं ब्रह्मेति "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" (बृ०उ०३।९।२८)

तथा वैशेषिक मतावलम्बियोका जो मत है कि 'आत्मा और मनके संयोगसे उत्पन्न होनेवाला बोध आत्मामे समवाय-सम्बन्धसे रहता है, इसीसे आत्मामे बोद्धृत्व है, वस्तुतः आत्मा विकारी नहीं है, वह तो नीलपीतादि वर्णोंके समवायी घटके समान केवल द्रव्यमात्र है' —सो इस पक्षमे भी ब्रह्म अचेतन द्रव्यमात्र सिद्ध होता है और "ब्रह्म विज्ञान एवं आनन्दस्वरूप है"

वाक्य-भाष्य

आत्मविज्ञानापेक्षम्। यदि हि विद्योत्पाद्यममृतत्वं स्यादनित्यं भवेत्कर्मकार्यवत्। अतो न विद्योत्पाद्यम्।

प्राप्ति आत्मविज्ञानकी अपेक्षा रखनेवाली है। यदि अमृतत्व विद्यासे उत्पन्न किया जाने योग्य होता तो कर्मफलके समान अनित्य हो जाता। इसलिये वह विद्यासे उत्पाद्य नहीं है।

यदि चात्मनैवामृतत्वं विन्दते किं पुनर्विद्यया क्रियत इत्युच्यते।

यदि कहो कि जब अमृतत्व स्वतः ही मिल जाता है तो विद्या उसमे क्या करती है, तो इसमें हमे यह कहना है

पद-भाष्य

"प्रज्ञानं ब्रह्म" (ऐ० उ० ५ । ३) इत्याद्याः श्रुतयो बाधिताः स्युः । आत्मनो निरवयवत्वेन प्रदेशाभावात् नित्यसंयुक्तत्वाच्च मनसः स्मृत्युत्पत्तिनियमानुपपत्तिरपरिहार्या स्यात् । संसर्गधर्मित्वं चात्मनः श्रुतिस्मृतिन्यायविरुद्धं कल्पितं स्यात् । "असङ्गो न हि सज्जते" (बृ० उ० ३ । ९ । २६) "असक्तं सर्वभृत्" (गीता १३ । १४) इति हि श्रुतिस्मृती । न्यायश्च—गुणवद्गुणवता संसृज्यते, नातुल्यजातीयम् । अतः निर्गुणं निर्विशेषं सर्वविलक्षणं केनचिदप्यतुल्यजातीयेन संसृज्यत इत्येतत् न्यायविरुद्धं भवेत् । तस्मात् नित्यालुप्तज्ञानस्वरूप-

"प्रज्ञान ब्रह्म है" इत्यादि श्रुतियाँ बाधित हो जाती है। निरवयव होनेके कारण आत्मामे कोई देशविशेष नहीं है; और उससे मनका नित्यसंयोग है; इस कारण उसमे स्मृतिकी उत्पत्तिके नियमकी अनुपपत्ति अनिवार्य हो जाती है तथा श्रुति, स्मृति और युक्तिसे विरुद्ध आत्माके संसर्गधर्मी होनेकी कल्पना भी होती है। "असङ्ग [आत्मा] का किसीसे संग नहीं होता" "संगरहित और सबका पालन करनेवाला है" ऐसी श्रुति और स्मृति प्रसिद्ध है। युक्तिसे भी जो वस्तु सगुण होती है उसीका गुणवान्से संसर्ग होता है; विजातीय वस्तुओंका संयोग कभी नहीं होता। अतः निर्गुण निर्विशेप और सबसे विलक्षण आत्माका किसी भी विजातीय वस्तुसे संयोग होता है—ऐसा मानना न्यायविरुद्ध होगा। अतः नित्य अविनाशी ज्ञानस्वरूप प्रकाश-

वाक्य-भाष्य

अनात्मविज्ञानं निवर्तयन्ती सा तन्निवृत्त्या स्वाभाविकस्यामृतत्वस्य निमित्तमिति कल्प्यते । यत आह 'वीर्यं विद्यया विन्दते' ।

कि वह अनात्मविज्ञानको निवृत्त करती हुई उसकी निवृत्तिके द्वारा स्वाभाविक अमृतत्वकी हेतु बनती है, क्योंकि [अगले वाक्यसे] 'विद्यासे [अज्ञानान्धकारको निवृत्त करनेका] सामर्थ्य प्राप्त होता है' ऐसा कहा भी है।

पद-भाष्य

ज्योतिरात्मा ब्रह्मेत्ययमर्थः सर्वबोधबोद्धृत्वे आत्मनः सिध्यति, नान्यथा। तस्मात् 'प्रतिबोधविदितं मतम्' इति यथाव्याख्यात एवार्थोऽस्माभिः।

ब्रह्मणः स्वपरसंवेद्यताया औपाधिकत्वम्

यत्पुनः स्वसंवेद्यता प्रतिबोधविदितमित्यस्य वाक्यस्यार्थो वर्ण्यते, तत्र भवति सोपाधिकत्वे आत्मनो बुद्ध्युपाधिस्वरूपत्वेन भेदं परिकल्प्यात्मनात्मानं वेत्तीति संव्यवहारः—"आत्मन्येवात्मानं पश्यति" (बृ० उ० ४।४।२३) "स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम" (गीता १०।१५) इति। न तु निरुपाधिकस्यात्मन एकत्वे स्वसंवेद्यता परसंवेद्यता वा सम्भवति। संवेदनस्वरूप-

मय आत्मा ही ब्रह्म है—यह अर्थ आत्माके सम्पूर्ण बोधोंके बोद्धा होनेपर ही सिद्ध हो सकता है, और किसी प्रकार नहीं। इसलिये 'प्रतिबोधविदितम्' इसका—हमने जैसी व्याख्या की है—वही अर्थ है।

इसके सिवा 'प्रतिबोधविदितम्' इस वाक्यका जो स्वप्रकाशता अर्थ बतलाया जाता है वहाँ आत्माको सोपाधिक मानकर उसमें बुद्धि आदि उपाधिके रूपसे भेदकी कल्पना कर 'आत्मासे आत्माको जानता है' ऐसा व्यवहार हुआ करता है, जैसा कि "आत्मामें ही आत्माको देखता है" "हे पुरुषोत्तम! तुम स्वयं अपनेसे ही अपनेको जानते हो" इत्यादि वाक्योंद्वारा कहा गया है। किन्तु निरुपाधिक आत्मा तो एक रूप होनेके कारण उसमें स्वसंवेद्यता अथवा परसंवेद्यता सम्भव ही नहीं है। जिस प्रकार

वाक्य-भाष्य

वीर्यं सामर्थ्यमनात्माध्यारोपमायास्वान्तध्वान्तानभिभाव्यलक्षणं बलं विद्यया विन्दते। तच्च किंविशिष्टम्? अमृतमविनाशि।

विद्यासे वीर्य—सामर्थ्य यानी अनात्माके अध्यारोप तथा माया और अन्तःकरणके कारण प्राप्त हुए अज्ञानसे जिसका पराभव नहीं हो सकता ऐसा बल प्राप्त होता है। वह किस विशेषणसे युक्त है? वह अमृत यानी अविनाशी है।

पद-भाष्य

त्वात्संवेदनान्तरापेक्षा च न सम्भवति, यथा प्रकाशस्य प्रकाशान्तरापेक्षाया न सम्भवः तद्वत्।

बौद्धपक्षे स्वसंवेद्यतायां तु क्षणभङ्गुरत्वं निरात्मकत्वं च विज्ञानस्य स्यात्; "न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्" (बृ० उ० ४।३।३०) "नित्यं विभुं सर्वगतम्" (मु० उ० १।१।६) "स वा एष महानज आत्माजरोऽमरोऽमृतोऽभयः" (बृ० उ० ४।४।२५) इत्याद्याः श्रुतयो बाध्येरन्।

प्रतिबोधार्थविचार — यत्पुनः प्रतिबोधशब्देन निर्निमित्तो बोधः प्रतिबोधः यथा सुप्तस्य इत्यर्थं परिकल्पयन्ति, सकृद्वि-

प्रकाशको किसी अन्य प्रकाशकी अपेक्षा होना सम्भव नहीं है उसी प्रकार ज्ञानस्वरूप होनेके कारण उसे [अपने ज्ञानके लिये] किसी अन्य ज्ञानकी अपेक्षा नहीं है।

तथा बौद्धमतानुसार तो विज्ञानकी स्वसंवेद्यता स्वीकार करनेपर भी उसकी क्षणभङ्गुरता और निरात्मकता सिद्ध होने लगेगी। [ऐसा होनेपर] "अविनाशी होनेके कारण विज्ञाताकी विज्ञातिका लोप नहीं होता" "नित्य विभु और सर्वगत है" "वह यह महान् अज आत्मा अजर अमर अमृत और अभयरूप है" इत्यादि श्रुतियाँ बाधित हो जायँगी।

इसके सिवा जो लोग प्रतिबोधशब्दसे, जैसा कि सुषुप्त पुरुषको होता है वह निर्निमित्त बोध ही प्रतिबोध है—ऐसे अर्थकी कल्पना करते हैं अथवा जो दूसरे लोग

वाक्य-भाष्य

अविद्याजं हि वीर्यं विनाशि। विद्ययाविद्याया बाध्यत्वात्। न तु विद्याया बाधकोऽस्तीति विद्याजममृतं वीर्यम्। अतो विद्यामृतत्वे निमित्तमात्रं भवति। "नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः" इति चाथर्वणे (मु० उ० ३।२।४)

अविद्यासे होनेवाला बल नाशवान् होता है, क्योंकि अविद्या विद्यासे बाधित हो जाती है। किन्तु विद्याका बाधक और कोई नहीं है, अतः विद्याजनित वीर्य अमृत होता है। इसलिये विद्या तो अमृतत्वमें केवल निमित्तमात्र होती है। आथर्वण श्रुतिमें भी कहा है—"यह आत्मा बलहीनसे प्राप्त होनेयोग्य नहीं है"।

पद-भाष्य

ज्ञानं प्रतिबोध इत्यपरे; निर्निमित्तः सनिमित्तः सकृद्वासकृद्वा प्रतिबोध एव हि सः। अमृतत्वम् अमरणभावं स्वात्मन्यवस्थानं मोक्षं हि यस्माद् विन्दते लभते यथोक्तात् प्रतिबोधात्प्रतिबोधविदितात्मकात्, तस्मात्प्रतिबोधविदितमेव मतमित्यभिप्रायः । बोधस्य हि प्रत्यगात्मविषयत्वं च मतममृतत्वे हेतुः। न ह्यात्मनोऽनात्मत्वममृतत्वं भवति। आत्मत्वादात्मनोऽमृतत्वं निर्निमित्तमेव,

[मुक्तिके कारणभूत] एक बार होनेवाले विज्ञानको ही प्रतिबोध समझते है—[वे कुछ भी माना करें] बिना निमित्तसे हो अथवा निमित्तसे तथा एक बार हो अथवा अनेक बार वह सबका सब प्रतिबोध ही है [इसका विशेष विवेचन करनेसे हमे कोई प्रयोजन नही है]। क्योंकि मुमुक्षुगण उपर्युक्त प्रतिबोधसे अर्थात् प्रत्येक बौद्ध प्रत्ययमे होनेवाले आत्मज्ञानसे ही अमृतत्व—अमरणभाव अर्थात् अपने आत्मामे स्थित होनारूप मोक्ष प्राप्त करते है। अतः वह (ब्रह्म) प्रत्येक बोधमे अनुभव होनेवाला ही माना गया है—ऐसा इसका अभिप्राय है । क्योंकि बोधका प्रत्यगात्मविषयक होना ही अमरत्वमे कारण माना गया है। आत्माकी अनात्मरूपता उसके अमरत्वका कारण नही हो सकती। आत्माका अमरत्व उसका स्वरूपभूत होनेके कारण अहैतुक ही है।

वाक्य-भाष्य

लोकेऽपि विद्याजमेव बलमभिभवति न शारीरादिसामर्थ्यं यथा हस्त्यादेः।

लोकमे भी विद्याजनित बल ही दूसरे बलोका पराभव करता है, शरीर आदिका बल नही; जैसे हाथी-घोड़े आदिके शारीरिक बल [मनुष्यके] विद्याजनित बलको नही दबा सकते ।

पद-भाष्य

एवं मर्त्यत्वमात्मनो यदविद्यया अनात्मत्वप्रतिपत्तिः ।

ज्ञानेनामृतत्वप्राप्तिप्रकारः

कथं पुनर्यथोक्तयात्मविद्यया-मृतत्वं विन्दत इत्यत आह—आत्मना स्वेन रूपेण विन्दते लभते वीर्यं बलं सामर्थ्यम् । धनसहायमन्त्रौषधितपोयोगकृतं वीर्यं मृत्युं न शक्नोत्यभिभवितुम् अनित्यवस्तुकृतत्वात्; आत्मविद्याकृतं तु वीर्यमात्मनैव विन्दते, नान्येन इत्यतोऽनन्यसाधनत्वादात्मविद्यावीर्यस्य तदेव वीर्यं मृत्युं शक्नोत्य-

इसी प्रकार आत्माकी मृत्यु भी अविद्यावश उसमें अनात्मत्वकी उपलब्धि ही है ।

तो फिर उपर्युक्त आत्मज्ञानसे किस प्रकार अमरत्व लाभ कर लेता है ? इसपर कहते हैं—[मुमुक्षु पुरुष] आत्मा अर्थात् अपने स्वरूपके ज्ञानसे वीर्य—बल यानी [अमरत्व-प्राप्तिका] सामर्थ्य प्राप्त करता है । धन, सहाय, मन्त्र, ओषधि, तप और योगसे प्राप्त होनेवाला वीर्य अनित्य वस्तुका किया हुआ होनेसे मृत्युका पराभव करनेमें समर्थ नहीं है; किन्तु आत्मविद्यासे होनेवाला वीर्य तो आत्माद्वारा ही प्राप्त किया जाता है—अन्य किसीसे नहीं । इसलिये आत्मविद्याजनित वीर्य किसी अन्य साधनसे प्राप्त होनेवाला नहीं है; अतः वही वीर्य

वाक्य-भाष्य

अथवा प्रतिबोधविदितं मतमिति सकृदेवाशेषविपरीतनिरस्तसंस्कारेण स्वप्नप्रतिबोधवद्यद्विदितं तदेव मतं ज्ञातं भवतीति । अथवा गुरूपदेशः प्रतिबोधस्तेन

अथवा 'प्रतिबोधविदितं मतम्' इस वाक्यका ऐसा अर्थ समझना चाहिये कि स्वप्नसे जागे हुएके समान जिसके सम्पूर्ण विपरीत संस्कारोंका एक बार ही बाध हो गया है, उसीसे जो जाना जाता है वही मत अर्थात् ज्ञात होता है । अथवा गुरुका उपदेश ही प्रतिबोध है, उससे जाना

पद-भाष्य

भिभवितुम् । यत एवमात्मविद्याकृतं वीर्यमात्मनैव विन्दते, अतः विद्यया आत्मविषयया विन्दतेऽमृतम् अमृतत्वम् । "नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः" (मु० उ० ३ । २ । ४) इत्याथर्वणे । अतः समर्थो हेतुः अमृतत्वं हि विन्दत इति ॥४॥

मृत्युका पराभव कर सकता है । क्योंकि [मुमुक्षु पुरुष] इस प्रकार आत्मविद्याजनित वीर्यको आत्माद्वारा ही प्राप्त करता है, इसलिये आत्मसम्बन्धिनी विद्यासे ही अमरत्व प्राप्त करता है । अथर्ववेदीय (मुण्डक) उपनिषद्मे कहा है—"यह आत्मा बलहीन पुरुषको प्राप्त होने योग्य नहीं है" । अतः यह आत्मविद्यारूप हेतु [मृत्युका निवारण करनेमे] समर्थ है क्योंकि इससे अमरत्व प्राप्त करता है ॥ ४ ॥

कष्टा खलु सुरनरतिर्यक्प्रेतादिषु संसारदुःखबहुलेषु प्राणिनिकायेषु जन्मजरामरणरोगादि संप्राप्तिरज्ञानात् । अतः—

जिनमे सांसारिक दुःखोंकी बहुलता है उन देवता, मनुष्य, तिर्यक् और प्रेतादि प्राणियोमे अज्ञानवश जन्म, जरा, मरण और रोगादिकी प्राप्ति होना निश्चय ही बड़े दुःखकी बात है । अतः—

वाक्य-भाष्य

वा विदितं मतमिति । उभयत्र प्रतिबोधशब्दप्रयोगोऽस्ति सुप्तप्रतिबुद्धो गुरुणा प्रतिबोधित इति । पूर्वं तु यथार्थम् ॥ ४ ॥

हुआ ही मत (जाना हुआ) है । सोनेसे जागा हुआ तथा गुरुद्वारा प्रतिबोधित—दोनो ही जगह 'प्रतिबोध' शब्दका प्रयोग होता है । परन्तु इन तीनोमे सबसे पहला अर्थ ही ठीक है ॥ ४ ॥

आत्मज्ञान ही सार है

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः । भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकाद-मृता भवन्ति ॥ ५ ॥

यदि इस जन्ममे ब्रह्मको जान लिया तब तो ठीक है और यदि उसे इस जन्ममे न जाना तब तो बडी भारी हानि है । बुद्धिमान् लोग उसे समस्त प्राणियोमे उपलब्ध करके इस लोकसे जाकर (मरकर) अमर हो जाते है ॥ ५ ॥

पद-भाष्य

इह एव चेत् मनुष्योऽधिकृतः समर्थः सन् यदि अवेदीद् आत्मानं यथोक्तलक्षणं विदितवान् यथोक्तेन प्रकारेण, अथ तदा अस्ति सत्यं मनुष्यजन्म-न्यस्मिन्नविनाशोऽर्थवत्ता वा

यदि किसी अधिकारी पुरुषने सामर्थ्य लाभ कर इस लोकमे ही उपर्युक्त लक्षणोसे युक्त आत्माको पूर्वोक्त प्रकारसे जान लिया, तब तो उसके इस मनुष्यजन्ममे सत्य—अविनाशिता—सार्थकता—सद्भाव

वाक्य-भाष्य

इह चेदवेदीत् इत्यवश्यकर्तव्यतोक्तिर्विपर्यये विनाशश्रुतेः । इह मनुष्यजन्मनि सत्यवश्यमात्मा वेदितव्य इत्येतद्विधीयते । कथमिह चेदवेदीद्विदितवान्, अथ सत्यं परमार्थतत्त्वमस्त्यवाप्तं तस्य जन्म सफलमित्यभिप्रायः । न चेदिहावेदीन्न विदितवान्

'इहचेदवेदीदथ सत्यमस्ति' यह श्रुति आत्मसाक्षात्कारकी अवश्य-कर्त्तव्यता बतलानेवाली है, क्योंकि इसकी विपरीत अवस्थामे श्रुतिने विनाश बतलाया है । इह अर्थात् इस मनुष्य-जन्मके रहते हुए आत्माको अवश्य जान लेना चाहिये—ऐसा विधान किया जाता है । किस प्रकार कि यदि इस जन्ममे आत्माको जान लिया तो ठीक है, उसे परमार्थतत्त्व प्राप्त हो गया; अभिप्राय यह कि उसका जन्म सफल हो गया । और यदि उसे इस जन्ममे न जाना—न

पद-भाष्य

सद्भावो वा परमार्थता वा सत्यं विद्यते । न चेदिहावेदीदिति, न चेद् इह जीवंश्चेद् अधिकृतः अवेदीत् न विदितवान्, तदा महती दीर्घा अनन्ता विनष्टिः विनाशनं जन्मजरामरणादि-प्रबन्धाविच्छेदलक्षणा संसार-गतिः ।

अथवा परमार्थता विद्यमान है । और यदि न जाना अर्थात् इस लोकमे जीवित रहते हुए ही उस अधिकारीने आत्मज्ञान प्राप्त न किया तो उसे महान्—दीर्घ यानी अनन्त विनाश अर्थात् जन्म, जरा और मरण आदिकी परम्पराका विच्छेद न होनारूप संसारगतिकी ही प्राप्ति होती है ।

तस्मादेवं गुणदोषौ विजानन्तो ब्राह्मणाः भूतेषु भूतेषु सर्वभूतेषु स्थावरेषु चरेषु च एकमात्मतत्त्वं ब्रह्म विचित्य विज्ञाय

अतः इस प्रकार गुण और दोषको जाननेवाले धीर—बुद्धिमान् ब्राह्मण-लोग प्राणी-प्राणीमे अर्थात् सम्पूर्ण चराचर जीवोमे एक ब्रह्मस्वरूप आत्मतत्त्वको 'विचित्य'—जानकर

वाक्य-भाष्य

वृथैव जन्म । अपि च महती विनष्टिर्महान्विनाशो जन्म-मरणप्रबन्धाविच्छेदप्राप्तिलक्षणः स्याद्यतस्तस्मादवश्यं तद्विच्छेदाय ज्ञेय आत्मा ।

समझा तो उसका जन्म वृथा ही गया । यही नही, जन्म-मरणपरम्पराकी अविच्छिन्नतारूप बडी भारी हानि भी है । अतः उस परम्पराके विच्छेदके लिये आत्माको अवश्य जान लेना चाहिये ।

ज्ञानेन तु किं स्यादित्युच्यते । भूतेषु भूतेषु चराचरेषु सर्वेषु इत्यर्थः । विचित्य पृथङ्निष्कृष्य एकमात्मतत्त्वं संसारधर्मैरस्पृष्ट-

आत्मज्ञानसे होगा क्या सो [भूतेषु भूतेषु आदि वाक्यसे] बतलाते है । भूत-भूतमे अर्थात् सम्पूर्ण चराचर प्राणियोमे आत्माका शोधनकर—उसे उससे अलग निकालकर यानी ससार-धर्मोंसे अस्पृष्ट एकमात्र आत्मतत्त्वको

पद-भाष्य

साक्षात्कृत्य धीराः धीमन्तः प्रेत्य व्यावृत्य ममाहंभावलक्षणाद्-विद्यारूपादस्माल्लोकाद् उपरम्य सर्वात्मैकभावमद्वैतमापन्नाः सन्तः अमृता भवन्ति ब्रह्मैव भवन्तीत्यर्थः। "स यो ह वै तत्परं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" (मु० उ० ३।२।९) इति श्रुतेः ॥५॥

अर्थात् साक्षात् कर यहाँसे लौटनेपर अर्थात् ममता-अहंतारूप इस अविद्यात्मक लोकसे उपरत होकर सबमे आत्मैकत्वरूप अद्वैतभावको प्राप्त होकर अमर अर्थात् ब्रह्म ही हो जाते है, जैसा कि "जो पुरुष निश्चयपूर्वक उस परब्रह्मको जानता है वह ब्रह्म ही हो जाता है" इस श्रुतिसे सिद्ध होता है ॥ ५ ॥

इति द्वितीयः खण्डः ॥ २ ॥

वाक्य-भाष्य

मात्मभावेनोपलभ्येत्यर्थः अनेकार्थत्वाद्धातूनां न पुनश्चित्वेति सम्भवति विरोधात्; धीराः धीमन्तो विवेकिनो विनिवृत्तबाह्यविषयाभिलाषाः प्रेत्य मृत्वास्माल्लोकाच्छरीराद्यनात्मलक्षणात् व्यावृत्तममत्वाहंकाराः सन्त इत्यर्थः। अमृता अमरणधर्माणो नित्यविज्ञानामृतत्वस्वभावा एव भवन्ति ॥ ५ ॥

आत्मभावसे उपलब्ध कर धीर—बुद्धिमान् अर्थात् विवेकी पुरुष—जिनकी बाह्य विषयोकी अभिलाषा निवृत्त हो गयी है—मरकर अर्थात् इस शरीरादि अनात्मस्वरूप लोकसे जिनका ममत्व और अहंकार निवृत्त हो गया है ऐसे होकर अमृत—अमरणधर्मा यानी नित्यविज्ञानामृतस्वभाववाले ही हो जाते है। धातुओके अनेक अर्थ होते है [इसीलिये यहाँ 'विचित्य' क्रियाका उपर्युक्त अर्थ ठीक है] यहाँ इसका 'चयन करके' ऐसा अर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि आत्माके सम्बन्धमे ऐसा अर्थ करनेसे विरोध आता है ॥ ५ ॥

इति द्वितीयः खण्डः ॥ २ ॥
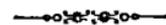
तृतीय खण्ड

यक्षोपाख्यान

वाक्य-भाष्य

यक्षोपाख्यानस्य प्रयोजने विकल्पा

ब्रह्म ह देवेभ्य इति ब्रह्मणो दुर्विज्ञेयतोक्तिर्यत्नाधिक्यार्था। समाप्ता ब्रह्मविद्या यदधीनः पुरुषार्थः। अत ऊर्ध्वमर्थवादेन ब्रह्मणो दुर्विज्ञेयतोच्यते। तद्विज्ञाने कथं नु नाम यत्नमधिकं कुर्यादिति।

'ब्रह्म ह देवेभ्यो' इत्यादि वाक्यसे [आरम्भ होनेवाली आख्यायिकाके द्वारा] जो ब्रह्मकी दुर्विज्ञेयता बतलायी गयी है वह, ब्रह्मप्राप्तिके लिये अधिक यत्न करना चाहिये—इस प्रयोजनके लिये है। जिसके अधीन पुरुषार्थ है वह ब्रह्मविद्या तो समाप्त हो गयी। अब आगे अर्थवादद्वारा ब्रह्मकी दुर्विज्ञेयता बतलायी जाती है, जिससे कि उसे प्राप्त करनेके लिये मनुष्य किसी-न-किसी तरह अधिक यत्न करे।

शमाद्यर्थो वाम्नायोऽभिमानशातनात्। शमादि वा ब्रह्मविद्यासाधनं विधित्सितं तदर्थोऽयमर्थवादाम्नायः। न हि शमादिसाधनरहितस्याभिमानरागद्वेषाद्युक्तस्य ब्रह्मविज्ञाने सामर्थ्यमस्ति। व्यावृत्तबाह्यमिथ्याप्रत्ययग्राह्यत्वाद्ब्रह्मणः। यस्माच्चाग्न्यादीनां जयाभिमानं शातयति। ततश्च ब्रह्मविज्ञानं दर्शयत्यभिमानोपशमे। तस्माच्छमादिसाधनविधानार्थोऽयमर्थवाद इत्यवसीयते।

अथवा यह श्रुतिभाग अभिमानका नाश करनेवाला होनेसे शमादिकी प्राप्तिके लिये हो सकता है। या शमादिको ब्रह्मविद्याका साधन बतलाना इष्ट है, अतः उसीके लिये यह अर्थवाद-श्रुति है। जो पुरुष शमादि साधनसे रहित तथा अभिमान और राग-द्वेषादिसे युक्त है उसका ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिमें सामर्थ्य नहीं हो सकता, क्योंकि ब्रह्म बाह्य मिथ्या प्रतीतियोंके निरसनद्वारा ही ग्रहण किया जाने योग्य है। यह आख्यायिका अग्नि आदिके विजय-सम्बन्धी अभिमानको नष्ट करती है, इसलिये अभिमानके शान्त होनेपर ही ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति दिखलाती है। अतः इसका सारांश यह हुआ कि यह अर्थवाद शमादि साधनोंका विधान करनेके लिये ही है।

वाक्य-भाष्य

सगुणोपासनार्थो वापोदितत्वात्। नेदं यदिदमुपासत इत्युपास्यत्वं ब्रह्मणोऽपोदितमपोदितत्वादनुपास्यत्वे प्राप्ते तस्यैव ब्रह्मणः सगुणत्वेनाधिदैवमध्यात्मं चोपासनं विधातव्यमित्येवमर्थो वा। इत्यधिदैवतं तद्वनमित्युपासितव्यमिति हि वक्ष्यति।

अथवा यह सगुणोपासनाका विधान करनेके लिये भी हो सकता है, क्योंकि पहले ब्रह्मके उपास्यत्वका निषेध कर चुके हैं। पहले 'नेदं यदिदमुपासते' इस श्रुतिसे ब्रह्मके उपास्यत्वका निषेध हो चुका है; इस प्रकार निषिद्ध हो जानेसे ब्रह्मकी अनुपास्यता प्राप्त होनेपर उसी ब्रह्मकी सगुणभावसे अधिदैव या अध्यात्म उपासना करनी चाहिये इसीको बतलानेके लिये यह अर्थवाद हो सकता है, जैसा कि आगे चलकर 'तद्वनमित्युपासितव्यम्' इस [४। ६ मन्त्र] से उसके अधिदैवरूपके उपास्यत्वका वर्णन करेंगे।

ब्रह्मपदाभिप्रायः

ब्रह्मेति परो लिङ्गात्। न ह्यन्यत्र परादीश्वरात् नित्यसर्वज्ञात् परिभूयाग्न्यादींस्तृणं वज्रीकर्तुं सामर्थ्यमस्ति तन्न शशाक दग्धुमित्यादिलिङ्गाद्ब्रह्मशब्दवाच्य ईश्वर इत्यवसीयते। न ह्यन्यथाग्निस्तृणं दग्धुं नोत्सहते वायुर्वादातुम्। ईश्वरेच्छया तृणमपि वज्रीभवतीत्युपपद्यते। तत्सिद्धिर्जगतो नियतप्रवृत्तेः।

'ब्रह्म' इस शब्दसे यहाँ परमात्मा (ईश्वर) समझना चाहिये, क्योंकि यहाँ उसीकी सूचना देनेवाले लिंग (चिह्न) देखे जाते हैं। नित्यसर्वज्ञ परमेश्वरको छोड़कर और किसीमे अग्नि आदि देवताओंका पराभव करके तृणको वज्र बना देनेकी शक्ति नहीं हो सकती। अतः 'तन्न शशाक दग्धुम्' (उसे अग्नि नहीं जला सका) इत्यादि लिंगसे ब्रह्मशब्दका वाच्य ईश्वर ही है—ऐसा निश्चित होता है। इसके सिवा और किसी कारणसे अग्नि तृणको जलानेमे और वायु उसे उड़ानेमे असमर्थ नहीं हो सकते थे। हाँ, यह ठीक है कि ईश्वरकी इच्छासे तो तृण भी वज्र हो जाता है। उस ईश्वरकी सिद्धि संसारकी नियमित प्रवृत्तिसे होती है।

वाक्य-भाष्य

श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धिभिर्नित्यसर्वविज्ञान ईश्वरे सर्वात्मनि सर्वशक्तौ सिद्धेऽपि शास्त्रार्थनिश्चयार्थमुच्यते। तस्येश्वरस्य सद्भावसिद्धिः कुतो भवतीत्युच्यते।

यद्यपि नित्यसर्वविज्ञानस्वरूप, सर्वात्मा, सर्वशक्तिमान् ईश्वर श्रुति, स्मृति और प्रसिद्धिसे सिद्ध भी है तो भी शास्त्रके अर्थको निश्चय करनेके लिये यहाँ यह [अनुमान] कहा जाता है। उस ईश्वरके सद्भावकी सिद्धि किस प्रकार होती है ? इसपर कहते हैं—

ईश्वरस्य जगन्नियन्तृत्वनिरूपणम्

यदिदं जगद्देवगन्धर्वयक्षरक्षःपितृपिशाचादिलक्षणं द्युवियत्पृथिव्यादित्यचन्द्रग्रहनक्षत्रविचित्रं विविधप्राण्युपभोगयोग्यस्थानसाधनसम्बन्धि तदत्यन्तकुशलशिल्पिभिरपि दुर्निर्माणं देशकालनिमित्तानुरूपनियतप्रवृत्तिनिवृत्तिक्रममेतद्भोक्तृकर्मविभागज्ञप्रयत्नपूर्वकं भवितुमर्हति; कार्यत्वे सति यथोक्तलक्षणत्वात्। गृहप्रासादरथशयनासनादिवत्। विपक्ष आत्मादिवत्।

स्वर्ग, आकाश, पृथिवी, सूर्य, चन्द्र, ग्रह और नक्षत्रोंके कारण विचित्र दीखनेवाला तथा नाना प्रकारके प्राणियोंके उपभोगयोग्य स्थान और साधनोंसे सम्बन्ध रखनेवाला यह जितना देवता, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पितृगण और पिशाचादिरूप जगत् है वह अत्यन्त कुशल शिल्पियोंद्वारा भी बनाया जाना कठिन है। अतः यह देश, काल और निमित्तके अनुरूप नियमित प्रवृत्ति-निवृत्तिके क्रमवाला जगत् भोक्ता और कर्मके विभागको जाननेवाले किसी चेतनके प्रयत्नपूर्वक ही हो सकता है, क्योंकि कार्यरूप होनेके कारण यह उपर्युक्त लक्षणोंवाला है। जैसे कि गृह, प्रासाद, रथ, शय्या और आसन आदि [सभी कार्यरूप अनित्य पदार्थ देखे जाते हैं]; तथा इसके विपरीत [व्यतिरेकी दृष्टान्तस्वरूप] आत्मा आकाश आदि [नित्य पदार्थ हैं]।

वाक्य-भाष्य

कर्मणामस्वातन्त्र्यम्

कर्मण एवेति चेत् ? न । परतन्त्रस्य निमित्तमात्रत्वात् । यदिदमुपभोगवैचित्र्यं प्राणिनां तत्साधनवैचित्र्यं च देशकालनिमित्तानुरूपनियतप्रवृत्तिनिवृत्तिक्रमं च तन्न नित्यसर्वज्ञकर्तृकम् । किं तर्हि ? कर्मण एव तस्याचिन्त्यप्रभावत्वात् सर्वैश्च फलहेतुत्वाभ्युपगमात् । सति कर्मणः फलहेतुत्वे किमीश्वराधिककल्पनयेति न नित्यस्येश्वरस्य नित्यसर्वज्ञशक्तेः फलहेतुत्वं चेति चेत् ।

यदि कहो कि जगत्की उत्पत्ति कर्मसे ही है तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि कर्म परतन्त्र होनेके कारण केवल उसका निमित्त हो सकता है । [मीमांसककी युक्तिको स्पष्ट करके दिखलाते है] यह जो प्राणियोंके उपभोगकी विचित्रता है तथा उनके साधनोंकी विभिन्नता और देश, काल तथा निमित्तके अनुरूप प्रवृत्ति-निवृत्तिका नियमित क्रम् है वह किसी नित्य सर्वज्ञका रचा हुआ नहीं है । तो किसका रचा हुआ है ? [इसपर कहते है—] यह केवल कर्मका ही फल है क्योंकि वह अचिन्त्य प्रभाववाला है तथा सभीने उसे फलके हेतुरूपसे स्वीकार किया है । इस प्रकार फलके हेतुरूपसे कर्मके रहते हुए ईश्वरकी अधिक कल्पना करनेसे क्या लाभ है ? अतः नित्य सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् ईश्वरमें फलका हेतुत्व नहीं है ।

न कर्मण एवोपभोगवैचित्र्याद्युपपद्यते । कस्मात् ? कर्तृतन्त्रत्वात्कर्मणः । चितिमत्प्रयत्ननिर्वृत्तं हि कर्म तत्प्रयत्नोपरमात् उपरतं सद्देशान्तरे कालान्तरे वा नियतनिमित्तविशेषापेक्षं कर्तुः फलं जनयिष्यतीति न युक्तमनपेक्ष्यान्यदात्मनः प्रयोक्तृ ।

सिद्धान्ती—केवल कर्मसे ही उपभोग आदिकी विचित्रता सम्भव नहीं है । किस कारणसे ? क्योंकि कर्म कर्ताके अधीन है । चेतन पुरुषके यत्नसे निष्पन्न होनेवाला कर्म उसके प्रयत्नके निवृत्त होनेसे निवृत्त होकर देशान्तर या कालान्तरमें किसी नियत निमित्तविशेषकी अपेक्षासे ही कर्ताको फलकी प्राप्ति करावेगा—ऐसी व्यवस्था होनेके कारण यह कहना उचित नहीं कि वह अपने किसी दूसरे प्रवर्तककी अपेक्षा न करके ही फल दे देता है । यदि

वाक्य-भाष्य

कर्तैव फलकाले प्रयोक्तेति चेन्मया निर्वर्तितोऽसि त्वां प्रयोक्ष्ये फलाय यदात्मानुरूपं फलमिति ।

कर्म करनेवाले जीवको ही फलकालमें उसका प्रवर्तक माना जाय तो [उस समय वह कर्मसे कहेगा—] 'अरे कर्म ! मैंने तुझे किया था, अब मैं ही तुझे फल देनेके लिये प्रवृत्त करता हूँ; अतः मुझे अपने अनुरूप फल दे ।'

न । देशकालनिमित्तविशेषानभिज्ञत्वात् । यदि हि कर्ता देशविशेषाभिज्ञः सन्स्वातन्त्र्येण कर्म नियुञ्ज्यात्ततोऽनिष्टफलस्याप्रयोक्ता स्यात् । न च निर्निमित्तं तदनिच्छयात्मसमवेतं तच्चर्मवद्विक्रियते कर्म ।

किन्तु ऐसा होना सम्भव नहीं है, क्योंकि जीव देश, काल और निमित्तविशेषसे अनभिज्ञ है । यदि कर्ता ही देशादि विशेषका ज्ञाता होकर स्वतन्त्रतापूर्वक कर्मको प्रवृत्त करता तो अनिष्ट फलके लिये तो उसे प्रेरित ही न किया करता । इसके सिवा, किसी अन्य निमित्तकी अपेक्षा न रखकर कर्ताके इच्छाके बिना ही, आत्माके साथ नित्यसम्बद्ध हुआ कर्म अपने-आप ही चमड़ेके समान विकारको प्राप्त नहीं होता ।

न चात्मकृतमकर्तृसमवेतमयस्कान्तमणिवदाकृष्टृ भवति प्रधानकर्तृसमवेतत्वात्कर्मणः । भूताश्रयमिति चेन्न साधनत्वात् । कर्तृक्रियायाः साधनभूतानि भूतानि क्रियाकालेऽनुभूतव्यापाराणि समाप्तौ च हलादिवत्कर्त्रा

क्षणिक-विज्ञानरूप आत्माका किया हुआ कर्म कर्तासे नित्यसम्बद्ध न होकर चुम्बक-पत्थरके समान अपने-आप ही फलका आकर्षण नहीं कर सकता, क्योंकि कर्मका प्रधान कर्तासे नित्यसम्बन्ध है। यदि कहो कि कर्म भूतोंके आश्रयसे रहता है तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि वे तो केवल उसके साधन हैं । कर्ताकी क्रियाके साधनरूप भूत, जो केवल क्रियाकालमें उसके व्यापारका अनुभव करते हैं और व्यापारके समाप्त हो जानेपर हल आदिके समान

वाक्य-भाष्य

परित्यक्तानि न फलं कालान्तरे कर्तुमुत्सहन्ते न हि हलं क्षेत्राद् व्रीहीन्गृहं प्रवेशयति । भूतकर्मणोश्चाचेतनत्वात्स्वतः प्रवृत्त्यनुपपत्तिः । वायुवदिति चेन्नासिद्धत्वात् । न हि वायोरचितिमतः स्वतःप्रवृत्तिः सिद्धा रथादिष्वदर्शनात् ।

शास्त्रात्कर्मण एवेति चेच्छास्त्रं हि क्रियातः फलसिद्धिमाह नेश्वरादेः स्वर्गकामो यजेतेत्यादि । न च प्रमाणाधिगतत्वादानर्थक्यं युक्तम् । न चेश्वरास्तित्वे प्रमाणान्तरमस्तीति चेत् ।

न । दृष्टन्यायहानानुपपत्तेः ।

क्रियाभेद-निरूपणम्

क्रिया हि द्विविधा दृष्टफलादृष्टफला च, दृष्टफलापि द्विविधानन्तरफलागामिफला च, अनन्तरफला गतिभुजिलक्षणा । कालान्तरफला

कर्ताद्वारा त्याग दिये जाते हैं, कालान्तरमे उसका फल देनेमे समर्थ नही हो सकते । हल धान्योको खेतसे ले जाकर घरमे नही पहुँचा सकता । अतः अचेतन होनेके कारण भूत और कर्मोंकी स्वतः प्रवृत्ति असम्भव है । यदि कहो कि [अचेतन होनेपर भी] वायुके समान इनकी स्वतः प्रवृत्ति हो सकती है तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योकि वह असिद्ध है । अचेतन वायुकी स्वतः प्रवृत्ति सिद्ध नही हो सकती, क्योकि रथादि अन्य अचेतन पदार्थोंमे वह देखी नही जाती ।

मीमासक—शास्त्रानुसार तो कर्मसे ही फल मिलता है, क्योकि 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि शास्त्र कर्मसे ही फलकी सिद्धि बतलाता है, ईश्वरादिसे नही । इस प्रकार जो बात प्रमाणसिद्ध है उसको व्यर्थ बतलाना भी ठीक नहीं है, और ईश्वरकी सत्तामे भी [अर्थापत्तिको छोड़कर] और कोई प्रमाण नही है ।

सिद्धान्ती—ऐसा कहना ठीक नही, क्योकि दृष्ट न्यायको त्यागना उचित नही है । क्रिया दो प्रकारकी है—दृष्टफला और अदृष्टफला । दृष्टफलाके भी दो भेद हैं—अनन्तरफला[1] और आगामिफला[2] । गमन और भोजन इत्यादि क्रियाएँ अनन्तरफला है तथा कृषि और सेवा आदि

१. तत्काल फल देनेवाली । २. भविष्यमें फल देनेवाली ।

वाक्य-भाष्य

च कृषिसेवादिलक्षणा तत्रानन्तरफला फलापवर्गिण्येव कालान्तरफला तूत्पन्नप्रध्वंसिनी ।

आत्मसेव्याद्यधीनं हि कृषिसेवादेः फलम् यतः । न चोभयन्यायव्यतिरेकेण स्वतन्त्रं कर्म ततो वा फलं दृष्टम् । तथा च कर्मफलप्राप्तौ न दृष्टन्यायहानमुपपद्यते । तस्माच्छान्ते यागादि कर्मणि नित्यः कर्तृकर्मफलविभागज्ञ ईश्वरः सेव्यादिवद्यागाद्यनुरूपफलदातोपपद्यते । स चात्मभूतः सर्वस्य सर्वक्रियाफलप्रत्ययसाक्षी नित्यविज्ञानस्वभावः संसारधर्मैरसंस्पृष्टः ।

ईश्वरास्तित्वसाधनम्

श्रुतेश्च । "न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः" (क० उ० २।२।११) "जरां मृत्युमत्येति" (बृ० उ० ३।५।१) "विजरो विमृत्युः" । (छा० उ० ८।७।१) "सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः" (छा० उ० ८।७।१) "एष सर्वेश्वरः" (मा० उ० ६) "साधु कर्म कारयति" (कौषी० उ० ३।९) "अनश्नन्नन्यो अभि-

कालान्तरफला है । उनमें जो जो अनन्तरफला है वे फलोदयके समय ही नष्ट हो जाती है तथा कालान्तरफला उत्पन्न होकर [फल देनेसे पूर्व ही] नष्ट हो जानेवाली है ।

क्योंकि कृषिका फल अपने अधीन है और सेवा आदिका फल अपने सेव्यके अधीन है। इस दो प्रकारके न्यायको छोडकर कर्म या उससे प्राप्त होनेवाला फल स्वतन्त्र देखा भी नहीं जाता; तथा कर्मफलकी प्राप्तिमें इस स्पष्ट दीखनेवाले न्यायको छोड़ना उचित भी नहीं है, इसलिये यागादि कर्मोंके समाप्त हो जानेपर उन यागादिके अनुरूप फल देनेवाला तथा कर्ता, कर्म और फलके विभागको जाननेवाला ईश्वर सेव्य आदिके समान होना ही चाहिये, और वह सबका अन्तरात्मा, सम्पूर्ण कर्मफल और प्रतीतियोंका साक्षी, नित्यविज्ञानस्वरूप तथा सांसारिक धर्मोंसे अछूता होना चाहिये ।

यही बात श्रुतिसे भी सिद्ध होती है । "सम्पूर्ण लोकोंसे विलक्षण परमात्मा लोकके दुःखसे लिप्त नहीं होता" "वह जरा और मृत्युको पार किये हुए है" "जरा और मृत्युसे रहित है" "वह सत्यकाम सत्यसङ्कल्प है" "यह सर्वेश्वर है" "वह शुभ कर्म कराता है" "दूसरा [पक्षी] कर्मफलको न भोगता हुआ

वाक्य-भाष्य

चाकशीति" (श्वे० उ० ४ । ६) "एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने" (बृ० उ० ३ । ८ । ९) इत्याद्या असंसारिण एकस्यात्मनो नित्यमुक्तस्य सिद्धौ श्रुतयः । स्मृतयश्च सहस्रशो विद्यन्ते । न चार्थवादाः शक्यन्ते कल्पयितुम् । अनन्ययोगित्वे सति विज्ञानोत्पादकत्वात् । न चोत्पन्नं विज्ञानं बाध्यते ।

केवल उसे देखता है" "इस अक्षरब्रह्मकी आज्ञामें [सूर्य और चन्द्रमा स्थित हैं]" इत्यादि श्रुतियाँ संसारधर्मोंसे रहित एक नित्यमुक्त आत्माकी सिद्धिमें ही प्रमाणभूत हैं । इसी प्रकार सहस्रों स्मृतियाँ भी मौजूद हैं । ये सब अर्थवाद हैं—ऐसी कल्पना भी नहीं की जा सकती, क्योंकि वे किसी अन्य विधिके शेषभूत न होनेके कारण स्वतन्त्र ज्ञान उत्पन्न करनेवाले हैं और उनसे उत्पन्न हुआ ज्ञान [किसी प्रमाणान्तरसे] बाधित भी नहीं होता ।

अप्रतिषेधाच्च । न चेश्वरो नास्तीति निषेधोऽस्ति । प्राप्त्यभावादिति चेन्नोक्तत्वात् । न हिंस्यादितिवत्प्राप्त्यभावात्प्रतिषेधो नारभ्यत इति चेन्न । ईश्वरसद्भावे न्यायस्योक्तत्वात् । अथवाप्रतिषेधादिति कर्मणः फलदान ईश्वरकालादीनां न प्रतिषेधोऽस्ति । न च निमित्तान्तर-

[ईश्वरका] निषेध न होनेके कारण भी [पूर्वोक्त श्रुतियाँ अर्थवाद नहीं हैं] । ईश्वर नहीं है—ऐसा निषेध कहीं भी नहीं मिलता । यदि कहो कि ईश्वरकी प्राप्ति (सिद्धि) न होनेके कारण निषेध नहीं है, तो ऐसा कहना उचित नहीं, क्योंकि उसके विषयमें कहा जा चुका है । अर्थात् यदि ऐसा कहो कि [शास्त्रमें] ईश्वरका कोई प्रसङ्ग ही नहीं आता, इसीलिये 'न हिंस्यात्सर्वा भूतानि' इस वाक्यके समान ईश्वरके निषेधका भी आरम्भ नहीं किया गया, तो ऐसी बात भी नहीं है, क्योंकि ईश्वरकी सत्तामें उपर्युक्त न्याय कहा गया है । अथवा 'अप्रतिषेधात्' इस हेतुका यह तात्पर्य समझना चाहिये कि कर्मका फल देनेमें ईश्वर और काल आदिका प्रतिषेध नहीं किया गया है । कर्मको,

वाक्य-भाष्य

निरपेक्षं केवलेन कर्त्रैव प्रयुक्तं फलदं दृष्टम् । न विनष्टोऽपि यागः कालान्तरे फलदो भवति ।

किसी अन्य निमित्तकी अपेक्षा न करके केवल कर्तासे ही प्रेरित होकर फल देते देखा भी नहीं है। सर्वथा नष्ट हुआ याग कालान्तरमें फल देनेवाला कभी नहीं होता।

कर्मफलप्रदाने ईश्वरस्य प्राधान्यम्

सेव्यबुद्धिवत्सेवकेन सर्वज्ञेश्वरबुद्धौ तु संस्कृतायां यागादिकर्मणा विनष्टेऽपि कर्मणि सेव्यादिव ईश्वरात्फलं कर्तुर्भवतीति युक्तम्। न तु पुनः पदार्था वाक्यशतेनापि देशान्तरे कालान्तरे वा स्वं स्वं स्वभावं जहति । न हि देशकालान्तरेषु चाग्निरनुष्णो भवति। एवं कर्मणोऽपि कालान्तरे फलं द्विप्रकारमेवोपलभ्यते ।

जिस प्रकार सेवककी सेवासे सेव्य (स्वामी) की बुद्धिपर संस्कार पड़ जाता है उसी प्रकार यागादि कर्मसे सर्वज्ञ ईश्वरकी बुद्धिके संस्कारयुक्त हो जानेसे, फिर उस कर्मके नष्ट हो जानेपर भी, जैसे सेवकको स्वामीसे वैसे ही कर्ताको ईश्वरसे फल मिल जाता है—ऐसा विचार ही ठीक है। पदार्थ तो, सैकड़ों प्रमाणभूत वाक्य होनेपर भी, देशान्तर या कालान्तरमें अपने स्वभावको नहीं छोड़ते। अग्नि किसी भी देश या कालान्तरमें शीतल नहीं हो सकता। इस प्रकार कर्मोंका भी कालान्तरमें दो ही प्रकार फल मिलता देखा जाता है।

बीजक्षेत्रसंस्कारपरिरक्षाविज्ञानवत्कर्त्रपेक्षफलं कृष्यादि विज्ञानवत्सेव्यबुद्धिसंस्कारापेक्षफलं च सेवादि । यागादेः कर्मणस्तथाविज्ञानवत्कर्त्रपेक्षफलत्वानुपपत्तौ कालान्तरफलत्वात्कर्मदेशकालनिमित्तविपाकविभागज्ञबुद्धिसंस्कारापेक्षं फलं भवितु-

कृषि आदि कर्म ऐसे कर्ताकी अपेक्षासे फल देनेवाले हैं जिसे बीज, क्षेत्रसंस्कार तथा खेतीकी रक्षा आदिका ज्ञान हो, और सेवा आदि कर्म विज्ञानवान् सेव्यकी बुद्धिके संस्कारकी अपेक्षासे फलदायक हैं। यागादि कर्म कालान्तरमें फल देनेवाले हैं इसलिये उनकी फलप्राप्तिको अज्ञानी कर्ताकी अपेक्षासे मानना तो ठीक नहीं है; अतः उनका फल कर्म, देश, काल, निमित्त और कर्मविपाकके विभागको जाननेवाले किसी चेतनकी बुद्धिके संस्कारकी अपेक्षासे ही हो

वाक्य-भाष्य

मर्हति; सेवादिकर्मानुरूपफलज्ञ-सेव्यबुद्धिसंस्कारापेक्षफलस्येव। तस्मात्सिद्धः सर्वज्ञ ईश्वरः सर्वजन्तुबुद्धिकर्मफलविभागसाक्षी सर्वभूतान्तरात्मा। "यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरः" (बृ० उ० ३।४।१) इति श्रुतेः।

सकता है, जैसे कि सेवा आदि कर्मोंका फल उसके अनुरूप फलको जाननेवाले सेव्यकी बुद्धिपर हुए संस्कारकी अपेक्षासे मिलता है। इससे सम्पूर्ण जीवोंकी बुद्धि कर्म और फलके विभागका साक्षी, सर्वान्तर्यामी, सर्वज्ञ ईश्वर सिद्ध हुआ। "जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है जो सर्वान्तर आत्मा है" इस श्रुतिसे भी यही प्रमाणित होता है।

ईश्वरस्य सार्वात्म्य-स्थापनम्

स एव चात्रात्मा जन्तूनां नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा श्रोता मन्ता विज्ञाता "नान्यदतोऽस्ति विज्ञातृ" (बृ० उ० ३।८।११) इत्याद्यात्मान्तरप्रतिषेधश्रुतेः। "तत्त्वमसि" (छा० उ० ६।८-१६) इति चात्मत्वोपदेशात्। न हि मृत्पिण्डः काञ्चनात्मत्वेनोपदिश्यते।

और वही इस सृष्टिमें जीवोंका आत्मा है। उससे भिन्न और कोई द्रष्टा, श्रोता, मन्ता अथवा विज्ञाता नहीं है, जैसा कि "इससे भिन्न और कोई विज्ञाता नहीं है" इत्यादि भिन्न आत्माका प्रतिषेध करनेवाली श्रुतिसे, तथा "तत्त्वमसि" इस महावाक्यद्वारा ब्रह्मका आत्मत्व उपदेश करनेसे सिद्ध होता है। मिट्टीके ढेलेका सुवर्णरूपसे कभी उपदेश नहीं किया जाता।

ज्ञानशक्तिकर्मोपास्योपासकशुद्धाशुद्धमुक्तामुक्तभेदादात्मभेद एवेति चेन्न। भेददृष्ट्यपवादात्।

यदि कहो कि ज्ञान, शक्ति, कर्म, उपास्य-उपासक, शुद्ध-अशुद्ध तथा मुक्त-अमुक्त इत्यादि भेदोंके कारण आत्माका भेद ही है, तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि भेददृष्टिकी निन्दा की गयी है।

पद-भाष्य

वक्ष्यमाणा-ख्यायिकाया-प्रयोजनम्

'अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्' इत्यादिश्रवणाद् यदस्ति तद्विज्ञातं प्रमाणैः यन्नास्ति तदविज्ञातं शशविषाणकल्पमत्यन्तमेवासद्दृष्टम् ; तथेदं ब्रह्माविज्ञातत्वादसदेवेति मन्दबुद्धीनां व्यामोहो मा भूदिति तदर्थेयमाख्यायिका आरभ्यते ।

'ब्रह्म जाननेवालोंके लिये अविज्ञात है और न जाननेवालोंके लिये ज्ञात है' इस श्रुतिसे मन्दबुद्धि पुरुषोंको ऐसा भ्रम न हो जाय कि 'जो वस्तु है वह तो प्रमाणोंसे जान ही ली जाती है और जो नहीं है वह अविज्ञात वस्तु तो खरगोशके सींगके समान अत्यन्त अभावरूप ही देखी गयी है, अतः यह ब्रह्म भी अविज्ञात होनेके कारण असत् ही है' इसीलिये यह आख्यायिका आरम्भ की जाती है ।

वाक्य-भाष्य

यदुक्तं संसारिण ईश्वरादनन्या इति; तन्न ।

पूर्व०—तुमने जो कहा कि संसारी जीवोंका ईश्वरसे अभेद है सो ठीक नहीं ।

किं तर्हि ?

सिद्धान्ती—तो फिर क्या बात है ?

भेद एव संसार्यात्मनाम् ।

पूर्व०—संसारी जीव और परमात्माका तो परस्पर भेद ही है ।

कस्मात् ?

सिद्धान्ती—क्यों ?

लक्षणभेदादश्वमहिषवत् । कथं लक्षणभेद इत्युच्यते—ईश्वरस्य तावन्नित्यं सर्वविषयं ज्ञानं सवितृप्रकाशवत् । तद्विपरीतं संसारिणां खद्योतस्येव । तथैव शक्तिभेदोऽपि । नित्या

पूर्व०—घोड़े और भैंसके समान उनके लक्षणोंमें भेद होनेके कारण; और यदि कहो कि 'उनके लक्षणोंमें किस प्रकार भेद है' तो बतलाते हैं [सुनो,] सूर्यके प्रकाशके समान ईश्वरको सब विषयोंका सर्वदा ज्ञान रहता है, उसके विपरीत संसारी जीवोंको खद्योत (जुगनू) के समान अल्पज्ञान है। इसी प्रकार दोनोंकी शक्तियोंमें भी भेद है । ईश्वरकी शक्ति नित्य

पद-भाष्य

तदेव हि ब्रह्म सर्वप्रकारेण प्रशास्तृ देवानामपि परोदेवः, ईश्वराणामपि परमेश्वरः, दुर्विज्ञेयः, देवानां जयहेतुः, असुराणां

वह ब्रह्म ही सब प्रकारसे शासन करनेवाला, देवताओंका भी परम देव, ईश्वरोंका भी परम ईश्वर, दुर्विज्ञेय तथा देवताओंकी जयका कारण और असुरोंकी पराजयका हेतु है।

वाक्य-भाष्य

सर्वविषया चेश्वरशक्तिर्विपरीतेतरस्य। कर्म च चित्स्वरूपात्मसत्तामात्रनिमित्तमीश्वरस्य। औष्ण्यस्वरूपद्रव्यसत्तामात्रनिमित्तदहनकर्मवत्। राजायस्कान्तप्रकाशकर्मवच्च स्वात्माविक्रियारूपम्। विपरीतमितरस्य। उपासीतेतिवचनादुपास्य ईश्वरो गुरुराजवत्। उपासकश्चेतरः शिष्यभृत्यवत्। अपहतपाप्मादिश्रवणान्नित्यशुद्ध ईश्वरः। पुण्यो वै पुण्येनेतिवचनाद्विपरीत इतरः।

और सर्वतोमुखी है तथा जीवकी इसके विपरीत है। ईश्वरका कर्म भी उसके चित्स्वरूपकी सत्तामात्रसे ही होनेवाला है जैसे कि उष्णतारूप [सूर्यकान्तमणि आदि] द्रव्योंकी सत्तामात्रसे दहनकार्य निष्पन्न हो जाता है, अथवा जैसे राजा, चुम्बक और प्रकाशसे होनेवाले कार्य [उनकी सन्निधिमात्रसे] होते हैं उसी प्रकार ईश्वरके कर्म उसके स्वरूपमें विकार उत्पन्न करनेवाले नहीं हैं, किन्तु जीवके कर्म इससे विपरीत हैं। "उपासीत" इस श्रुतिके अनुसार ईश्वर गुरु एवं राजाके समान उपासनीय है तथा जीव शिष्य और सेवकके समान उपासक है। "अपहतपाप्मा" आदि श्रुतियोंके अनुसार ईश्वर नित्यशुद्ध है तथा "पुण्यो वै पुण्येन" आदि श्रुतिवाक्योंसे जीव इसके विपरीत-स्वभाववाला है।

अत एव नित्यमुक्त एवेश्वरो नित्याशुद्धियोगात्संसारीतरः। अपि च यत्र ज्ञानादिलक्षणभेदः

अतः ईश्वर तो नित्यमुक्त ही है किन्तु जीव नित्य अशुद्धिके योगके कारण संसारी है। तथा जहाँ ज्ञानादि लक्षणोंमें भेद रहता है वहाँ सर्वदा भेद

पद-भाष्य

पराजयहेतुः; तत्कथं नास्तीत्येतस्यार्थस्यानुकूलानि ह्युत्तराणि वचांसि दृश्यन्ते ।

तब वह है किस प्रकार नहीं ? [अर्थात् अवश्य ही है] । इस अर्थके अनुकूल ही इस खण्डके आगेके वाक्य देखे जाते हैं ।

वाक्य-भाष्य

अस्ति तत्र भेदो दृष्टः; यथाश्वमहिषयोः । तथा ज्ञानादिलक्षणभेदादीश्वरादात्मनां भेदोऽस्तीति चेत् ।

न ।

कस्मात् ?

"अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद" (बृ० उ० १।४।१०) "ते क्षय्यलोका भवन्ति" (छा० उ० ७।२५।२) "मृत्योः स मृत्युमाप्नोति" (क०उ० २।१।१०) इति भेददृष्टिर्ह्यपोह्यते। एकत्वप्रतिपादिन्यश्च श्रुतयः सहस्रशो विद्यन्ते ।

यदुक्तं ज्ञानादिलक्षणभेदादित्यत्रोच्यते—न

ज्ञानादिभेदस्य औपाधिकत्वम्

अनभ्युपगमात् । बुद्ध्यादिभ्यो व्यतिरिक्ता विलक्षणाश्चेश्वराद्भिन्नलक्षणा आत्मानो न सन्ति। एक एवेश्वरश्चात्मा सर्वभूतानां

ही देखा गया है; जैसे घोड़े और भैंसमें । अतः इसी प्रकार ज्ञानादि लक्षणोंमें भेद रहनेके कारण ईश्वर और जीवोंमें भेद ही है ।

सिद्धान्ती—यह बात नहीं है ।

पूर्व०—कैसे ?

सिद्धान्ती—क्योंकि "यह (ब्रह्म) अन्य है और मैं अन्य हूँ—ऐसा जो जानता है वह [ब्रह्मके यथार्थ स्वरूपको] नहीं जानता" "वे नाशवान् लोकोंको प्राप्त होते हैं" "वह मृत्युसे मृत्युको प्राप्त होता है" इत्यादि वाक्योंसे भेददृष्टिका निषेध किया जाता है और एकत्वका प्रतिपादन करनेवाली तो सहस्रों श्रुतियाँ विद्यमान हैं ।

तथा तुमने जो कहा कि ज्ञानादि लक्षणोंमें भेद होनेके कारण जीव और ईश्वरका भेद ही है, सो इस विषयमें मेरा यह कथन है कि उनमें कुछ भी भेद नहीं है, क्योंकि हमें उनके ज्ञानादिका भेद मान्य नहीं है । बुद्धि आदि उपाधियोंसे व्यतिरिक्त और विलक्षण ऐसे कोई जीव नहीं हैं जो ईश्वरसे भिन्न लक्षणवाले हों । एक ही नित्यमुक्त ईश्वर सम्पूर्ण प्राणियोंका आत्मा माना

पद-भाष्य

अथवा ब्रह्मविद्यायाः स्तुतये। कथम्? ब्रह्मविज्ञानाद्धि अग्न्यादयो देवा देवानां श्रेष्ठत्वं जग्मुः। ततोऽप्यतितरामिन्द्र इति।

अथवा इस (आख्यायिका) का आरम्भ ब्रह्मविद्याकी स्तुतिके लिये है। किस प्रकार? क्योंकि ब्रह्मज्ञानसे ही अग्नि आदि देवगण देवताओंमें श्रेष्ठत्वको प्राप्त हुए थे और उनमें भी इन्द्र सबसे बढकर हुआ।

वाक्य-भाष्य

नित्यमुक्तोऽभ्युपगम्यते। बाह्यश्चक्षुर्बुद्ध्यादिसमाहारसन्तानाहंकारममत्वादिविपरीतप्रत्ययप्रबन्धाविच्छेदलक्षणो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तविज्ञानात्मेश्वरगर्भो नित्यविज्ञानाभासश्चित्तचैत्यबीजबीजिस्वभावः कल्पितोऽनित्यविज्ञान ईश्वरलक्षणविपरीतोऽभ्युपगम्यते, यस्याविच्छेदे संसारव्यवहारः विच्छेदे च मोक्षव्यवहारः।

जाता है; क्योंकि चक्षु और बुद्धि आदि संघातकी परम्परासे प्राप्त हुए अहंकार और ममतारूप विपरीत ज्ञानका विच्छेद न होना ही जिसका लक्षण है, नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त विज्ञानस्वरूप ईश्वर ही जिसका अन्तर्यामी है, जो स्वयं नित्यविज्ञानका अवभास (प्रतिबिम्ब) चित्त, चैत्य (सुखादि विषय), बीज (अविद्यादि) और बीजी (शरीरादि) से तादात्म्यको प्राप्त होकर तद्रूप हो गया है तथा जो कल्पित, अनित्य विज्ञानवान् और ईश्वरके लक्षणसे विपरीत है वही बाह्य जीव माना गया है; जिसके इस औपाधिक स्वरूपका विच्छेद न होनेसे संसारका व्यवहार होता है तथा विच्छेद हो जानेपर मोक्षव्यवहार होता है।

अन्यश्च मृत्प्रलेपवत्प्रत्यक्षप्रध्वंसो देवपितृमनुष्यादिलक्षणो भूतविशेषसमाहारो न पुनश्चतुर्थोऽन्यो भिन्नलक्षण ईश्वरादभ्युपगम्यते।

इसमें जो देव, पितृ और मनुष्यरूप भूतोंका संघातविशेष है वह मृत्तिकाके लेपके समान प्रत्यक्ष नष्ट हो जानेवाला और [चेतन आत्मासे] सर्वथा भिन्न है; किन्तु जो [स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों प्रकारके शरीरोंसे] विलक्षण चौथा आत्मा है वह ईश्वरसे भिन्न लक्षणोंवाला नहीं माना जा सकता।

पद-भाष्य

अथवा दुर्विज्ञेयं ब्रह्मेत्येतत् प्रदर्श्यते—येनाग्न्यादयोऽतितेजसोऽपि क्लेशेनैव ब्रह्म विदितवन्तस्तथेन्द्रो देवानामीश्वरोऽपि सन्निति ।

अथवा इससे यह दिखलाया गया है कि ब्रह्म दुर्विज्ञेय है, क्योंकि अग्नि आदि परम तेजस्वी होनेपर भी कठिनतासे ही ब्रह्मको जान सके थे तथा देवताओंका स्वामी होनेपर भी इन्द्रने उसे बड़ी कठिनतासे पहचाना था ।

वाक्य-भाष्य

बुद्ध्यादिकल्पितात्मव्यतिरेकाभिप्रायेण तु लक्षणभेदात् इत्याश्रयासिद्धो हेतुः ईश्वरात् अन्यस्यात्मनोऽसत्त्वात् ।

यदि कहो कि बुद्धि आदि कल्पित आत्मासे [निरुपाधिक चेतनस्वरूप] आत्मा भिन्न है इस अभिप्रायसे हमने 'लक्षणभेद होनेके कारण' ऐसा हेतु दिया है, तो तुम्हारा यह हेतु आश्रयासिद्ध * है, क्योंकि ईश्वरसे भिन्न और किसी आत्माकी सत्ता नहीं है ।

ईश्वरस्यैव विरुद्धलक्षणत्वमयुक्तमिति चेत्सुखदुःखादियोगश्च ।

पूर्व०—[यदि ईश्वरसे भिन्न और कोई आत्मा नहीं है तो] ईश्वरमें ही विरुद्धलक्षणत्व तथा सुख-दुःख आदिका योग होना तो ठीक नहीं है ।

न । निमित्तत्वे सति लोकविपर्ययाध्यारोपणात्सवितृवत् । यथा हि सविता नित्यप्रकाशरूप-

सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है क्योंकि आत्मा सूर्यके समान केवल निमित्तमात्र है; लोकोंकी उसमें जो विपरीत बुद्धि है वह केवल आरोपके कारण है । जिस प्रकार सूर्य नित्यप्रकाशस्वरूप होनेके

* जहाँ पक्षमें पक्षतावच्छेदकालका अभाव होता है वहाँ आश्रयासिद्ध हेत्वाभास माना जाता है, जैसे—'आकाशकुसुम सुगन्धिमान् है, कुसुम होनेके कारण, अन्यकुसुमवत्', इस अनुमानमें 'आकाशकुसुम' जो पक्ष है उसमें पक्षतावच्छेदकाल यानी कुसुमत्वका अभाव है, क्योंकि आकाशकुसुम कभी किसीने नहीं देखा । इसी प्रकार यहाँ समझना चाहिये ।

पद-भाष्य

वक्ष्यमाणोपनिषद्विधिपरं वा सर्वं ब्रह्मविद्याव्यतिरेकेण प्राणिनां कर्तृत्वभोक्तृत्वाद्यभिमानो मिथ्या

अथवा आगे कही जानेवाली समस्त उपनिषद् विधिपरक है। और ब्रह्मविद्यासे अतिरिक्त प्राणियों-का जो कर्तृत्व-भोक्तृत्वादिका अभि-

वाक्य-भाष्य

त्वाल्लोकाभिव्यक्त्यनभिव्यक्ति-निमित्तत्वे सति लोकदृष्टिविपर्य-येणोदयास्तमयाहोरात्रादिकर्तृ-त्वाध्यारोपभाग्भवत्येवमीश्वरे नित्यविज्ञानशक्तिरूपे लोकज्ञाना-पोहसुखदुःखस्मृत्यादिनिमित्तत्वे सति लोकविपरीतबुद्ध्याध्यारो-पितं विपरीतलक्षणत्वं सुख-दुःखाश्रयश्च न स्वतः।

कारण लौकिक पदार्थोंकी अभिव्यक्ति और अनभिव्यक्तिका निमित्तमात्र होता है तथापि लोकोंकी दृष्टिमे विपरीत भाव आ जानेके कारण इस अध्यारोप-का पात्र बनता है कि वह उदय-अस्त और दिन-रात्रि आदिका कर्ता है, उसी प्रकार नित्यविज्ञानशक्तिस्वरूप ईश्वरमे भी लोकोके ज्ञानका विनाश तथा सुख, दुःख और स्मृति आदिकी निमित्तता उपस्थित होनेपर लोकोंकी विपरीत बुद्धिसे विपरीतलक्षणत्व तथा सुख-दुःखाश्रयत्वका आरोप कर लिया जाता है, उसमे स्वतः ऐसा कोई भाव नहीं है।

आत्मदृष्ट्यनुरूपाध्यारोपाच्च। यथा घनादिविप्रकीर्णेऽम्बरे येनैव सवितृप्रकाशो न दृश्यते स आत्मदृष्ट्यनुरूपमेवाध्यस्यति सवितेदानीमिह न प्रकाशयतीति सत्येव प्रकाशेऽन्यत्र भ्रान्त्या।

इसके सिवा सभी जीव अपनी-अपनी दृष्टिके अनुरूप ही उसमे आरोप करते हैं [इसलिये भी वह उन सब आरोपोसे अछूता है]। जिस प्रकार आकाशके मेघ आदिसे आच्छादित हो जानेपर जिस-जिसको सूर्यका प्रकाश दिखलायी नहीं देता वही-वही अन्यत्र प्रकाश रहनेपर भी भ्रान्तिवश अपनी दृष्टिके अनुसार ऐसा आरोप करता है कि 'इस समय यहाँ सूर्य प्रकाशमान नहीं है।' इसी प्रकार इस आत्मतत्त्वमे

पद-भाष्य

इत्येतद्दर्शनार्थं वा आख्यायिका, यथा देवानां जयाद्यभिमानः तद्वदिति ।

मान है वह देवताओंके जय आदिके अभिमानके समान मिथ्या है—यह बात दिखानेके लिये ही प्रस्तुत आख्यायिका है ।

वाक्य-भाष्य

एवमिह बौद्धादिवृत्त्युद्भवाभिभवाकुलभ्रान्त्याध्यारोपितः सुखदुःखादियोग उपपद्यते ।

तत्स्मरणाच्च । तस्यैवेश्वरस्यैव हि स्मरणम्—"मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च" (गीता १५ । १५) "नादत्ते कस्यचित्पापम्" (गीता ५ । १५) इत्यादि । अतो नित्यमुक्त एकस्मिन्सवितरीव लोकाविद्याध्यारोपितमीश्वरे संसारित्वम् । शास्त्रादिप्रामाण्यादभ्युपगतमसंसारित्वमित्यविरोध इति ।

एतेन प्रत्येकं ज्ञानादिभेदः प्रत्युक्तः सौक्ष्म्यचैतन्यसर्वगत्वाद्यविशेषे च भेदहेत्वभावात् । विक्रियावत्त्वे चानित्यत्वात् । मोक्षे च विशेषानभ्युपगमादभ्युपगमे चानित्यत्वप्रसङ्गात् । अविद्यावदुपलभ्यत्वाच्च भेदस्य ।

भी बुद्धि आदिकी वृत्तियोंके उदय और अस्तसे वैचित्र्यको प्राप्त हुई भ्रान्तिसे आरोपित सुख-दुःखादिका योग हो सकता है ।

इस विषयमें उसीकी स्मृति भी है अर्थात् उस ईश्वरके ही स्मृतिवाक्य भी हैं; जैसे—"मुझहीसे प्राणियोंको स्मृति, ज्ञान और अज्ञान प्राप्त होते हैं" "ईश्वर किसीके पापको स्वीकार नहीं करता" इत्यादि । अतः सूर्यके समान एक ही नित्यमुक्त ईश्वरमें लोकने अविद्यावश संसारित्वका आरोप कर रखा है, तथा शास्त्रादि प्रमाणोंसे उसका असंसारित्व जाना गया है, इसलिये इसमें कोई विरोध नहीं है ।

इससे प्रत्येक जीवके ज्ञानादि भेदका प्रत्याख्यान हो गया, क्योंकि उन सभीमें सूक्ष्मता, चैतन्य और सर्वगतत्वादि धर्म समानरूपसे रहनेके कारण भेदके हेतुका अभाव है । यदि उन्हें विकारी माना जाय तो वे अनित्य हो जायँगे । इसके सिवा मुक्तावस्थामें किसीने भी आत्माका कोई विशेष भाव नहीं माना, यदि कोई मानेगा तो अनित्यत्वका प्रसंग उपस्थित हो जायगा । तथा भेद तो केवल अविद्यावान्‌को ही उपलब्ध होता;

देवताओंका गर्व

ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये तस्य ह ब्रह्मणो विजये देवा अमहीयन्त ॥ १ ॥

यह प्रसिद्ध है कि ब्रह्मने देवताओंके लिये विजय प्राप्त की। कहते हैं, उस ब्रह्मकी विजयमें देवताओंने गौरव प्राप्त किया ॥ १ ॥

पद-भाष्य

ब्रह्म यथोक्तलक्षणं परं हं किल देवेभ्योऽर्थाय विजिग्ये जयं लब्धवत् देवानामसुराणां च

यह प्रसिद्ध है कि उपर्युक्त लक्षणोंवाले परब्रह्मने देवताओंके लिये जय प्राप्त की। अर्थात् देवता और असुरोंके संग्राममें संसारके

वाक्य-भाष्य

तत्क्षयेऽनुपपत्तिरिति सिद्धम् एकत्वम् ।

है, अविद्याका क्षय होनेपर उसकी सिद्धि नहीं होती। अतः [जीव और ईश्वरका] एकत्व ही सिद्ध होता है।

बन्धमोक्ष-व्यवस्था

तस्माच्छरीरेन्द्रियमनोबुद्धिविषयवेदनासन्तानस्य अहङ्कारसम्बन्धादज्ञानबीजस्य नित्यविज्ञानान्यनिमित्तस्यात्मतत्त्वयाथात्म्यविज्ञानाद्विनिवृत्तावज्ञानबीजस्य विच्छेद आत्मनो मोक्षसंज्ञा; विपर्यये च बन्धसंज्ञा, स्वरूपापेक्षत्वादुभयोः ।

अतः अहंकारके सम्बन्धसे अज्ञानके बीजभूत शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, विषय और इन्द्रियज्ञानके प्रवाहका, जो नित्यविज्ञानस्वरूप आत्मासे भिन्न किसी अन्य निमित्तसे स्थित है, आत्मतत्त्वके यथार्थ ज्ञानसे उस निमित्तके निवृत्त हो जानेपर जो अज्ञानके बीजका उच्छेद हो जाना है वही आत्माका मोक्ष कहलाता है और उससे विपरीतका नाम बन्ध है, क्योंकि वे [बन्ध और मोक्ष] दोनों ही [बुद्ध्यादि उपाधिविशिष्ट] स्वरूपकी अपेक्षासे हैं।

ब्रह्म ह इत्यैतिह्यार्थः । पुरा किल देवासुरसंग्रामे जगत्स्थितिपरिपिपालयिषयात्मानुशासनानुवर्तिभ्यो देवेभ्योऽर्थिभ्योऽर्थाय

'ब्रह्म ह' इसमें 'ह' ऐतिह्य (इतिहास) का द्योतक है। कहते हैं, पूर्वकालमें देवासुरसंग्राममें ब्रह्मने जगत्-स्थिति (लोक-मर्यादा) की रक्षाके लिये अपनी आज्ञामें चलनेवाले विजयार्थी देवताओंके लिये असुरोंको

पद-भाष्य

संग्रामेऽसुराञ्जित्वा जगदरातीनीश्वरसेतुभेत्तॄन् देवेभ्यो जयं तत्फलं च प्रायच्छज्जगतः स्थेम्ने। तस्य ह किल ब्रह्मणो विजये देवाः अग्न्यादयः अमहीयन्त महिमानं प्राप्तवन्तः ॥ १ ॥

शत्रु तथा ईश्वरकी मर्यादा भङ्ग करनेवाले असुरोको जीतकर जगत्‌की स्थितिके लिये वह जय और उसका फल देवताओको दे दिया। कहते है, ब्रह्मकी उस विजयमे अग्नि आदि देवगण महिमाको प्राप्त हुए॥१॥

यक्षका प्रादुर्भाव

त ऐक्षन्तास्माकमेवायं विजयोऽस्माकमेवायं महिमेति । तद्धैषां विजज्ञौ तेभ्यो ह प्रादुर्बभूव तन्न व्यजानत किमिदं यक्षमिति ॥ २ ॥

उन्होंने सोचा हमारी ही यह विजय है, और हमारी ही यह महिमा है। कहते है, वह ब्रह्म देवताओंके अभिप्रायको जान गया और उनके सामने प्रादुर्भूत हुआ। तब देवतालोग [यक्षरूपमे प्रकट हुए] उस ब्रह्मको 'यह यक्ष कौन है?' ऐसा न जान सके ॥ २ ॥

वाक्य-भाष्य

विजिग्येऽजैपीदसुरान्। ब्रह्मण इच्छानिमित्तो विजयो देवानां बभूवेत्यर्थः। तस्य ह ब्रह्मणो विजये देवा अमहीयन्त। यज्ञादिलोकस्थित्यपहारिष्वसुरेषु पराजितेषु देवा वृद्धिं पूजां वा प्राप्तवन्तः ॥ १ ॥

जीत लिया। अर्थात् ब्रह्मकी इच्छारूप निमित्तसे देवताओंकी विजय हो गयी। ब्रह्मकी उस विजयमें देवताओंको महत्ता प्राप्त हुई। लोककी स्थितिके हेतुभूत यज्ञादिको नष्ट करनेवाले असुरोंके पराजित हो जानेपर देवताओंने वृद्धि अथवा खूब सत्कार प्राप्त किया ॥१॥

त ऐक्षन्त इति मिथ्याप्रत्ययत्वाद्धेयत्वख्यापनार्थमाम्नायः।

'त ऐक्षन्त' इत्यादि शास्त्रवाक्य, मिथ्याप्रत्ययरूप होनेके कारण [अभिमानका] हेयत्व प्रतिपादन करनेके लिये है।

पद-भाष्य

तदा आत्मसंस्थस्य प्रत्यगात्मन ईश्वरस्य सर्वज्ञस्य सर्वक्रियाफलसंयोजयितुः प्राणिनां सर्वशक्तेः जगतः स्थितिं चिकीर्षोः अयं जयो महिमा चेत्यजानन्तः ते देवाः ऐक्षन्त ईक्षितवन्तः अग्न्यादिस्वरूपपरिच्छिन्नात्मकृतोऽस्माकमेवायं विजयः अस्माकमेवायं महिमा अग्निवाय्विन्द्रत्वादिलक्षणो जयफलभूतोऽस्माभिरनुभूयते; नास्मत्प्रत्यगात्मभूतेश्वरकृत इति ।

एवं मिथ्याभिमानेक्षणवतां तत् ह किल एषां मिथ्येक्षणं विजज्ञौ विज्ञातवद्ब्रह्म । सर्वेक्षितृ

तब, अन्तःकरणमे स्थित, प्रत्यगात्मा, सर्वज्ञ, प्राणियोके सम्पूर्ण कर्मफलोका संयोग करानेवाले, सर्वशक्तिमान् एवं जगत्की रक्षा करनेके इच्छुक ईश्वरकी ही यह सम्पूर्ण जय और महिमा है यह न जानते हुए आत्माको अग्नि आदि रूपोसे परिच्छिन्न माननेवाले देवता सोचने लगे कि—हमलोगोकी ही यह विजय हुई है, और इस विजयकी फलभूत अग्नित्व, वायुत्व एवं इन्द्रत्वरूप यह महिमा भी हमारी ही है; अतः हमारे द्वारा ही इसका अनुभव किया जाता है; यह विजय अथवा महिमा हमारे अन्तरात्मभूत ईश्वरकी की हुई नहीं है ।

इस प्रकार मिथ्या अभिमानसे विचार करनेवाले उन देवताओके इस मिथ्या विचारको ब्रह्मने जान लिया, क्योकि समस्त जीवोके

वाक्य-भाष्य

ईश्वरनिमित्ते विजये स्वसामर्थ्यनिमित्तोऽस्माकमेवायं विजयोऽ-

जो विजय ईश्वरके निमित्तसे प्राप्त हुई थी उसमें 'यह हमारी सामर्थ्यसे प्राप्त हुई हमारी ही विजय है, हमारी

पद-भाष्य

हि तत् सर्वभूतकरणप्रयोक्तृत्वात् देवानां च मिथ्याज्ञानमुपलभ्य मैवासुरवद्देवा मिथ्याभिमानात्पराभवेयुरिति तदनुकम्पया देवान्मिथ्याभिमानापनोदनेनानुगृह्णीयामिति तेभ्यः देवेभ्यः ह किलार्थाय प्रादुर्बभूव

अन्तःकरणोका प्रेरक होनेके कारण वह सबका साक्षी है। देवताओंके इस मिथ्या ज्ञानको जानकर 'इस मिथ्या ज्ञानसे असुरोंकी ही भाँति देवताओंका भी पराभव न हो जाय' इस प्रकार उनपर अनुकम्पा करते हुए यह सोचकर कि 'देवताओंके मिथ्याज्ञानको निवृत्त करके मै उन्हे अनुगृहीत करूँ' वह उन देवताओके लिये प्रादुर्भूत हुआ अर्थात्

वाक्य-भाष्य

स्माकमेवायं महिमेत्यात्मनो जयादि श्रेयोनिमित्तं सर्वात्मानमात्मस्थं सर्वकल्याणास्पदमीश्वरमेवात्मत्वेनाबुद्ध्वा पिण्डमात्राभिमानाः सन्तो यं मिथ्याप्रत्ययं चक्रुस्तस्य पिण्डमात्रविषयत्वेन मिथ्याप्रत्ययत्वात्सर्वात्मेश्वरयाथात्म्यावबोधेन हातव्यता-

ही महिमा है' इस प्रकार [अभिमान करके] अपनी विजय आदि कल्याणके हेतुभूत सर्वात्मा सर्वकल्याणास्पद आत्मस्थ ईश्वरको ही आत्मभावसे न जानकर पिण्डमात्रके अभिमानी होकर उन्होने जो मिथ्या प्रत्यय कर लिया था वह केवल पिण्डमात्रसे सम्बन्ध रखनेवाला होनेसे मिथ्या ज्ञानस्वरूप था। अतः सर्वात्मा ईश्वरके यथार्थ स्वरूपके बोधसे उसका हेयत्व प्रकट करनेके लिये ही यह 'तद्धैषाम्' (वह ब्रह्म उन

पद-भाष्य

स्वयोगमाहात्म्यनिर्मितेनात्यद्भुतेन विस्मापनीयेन रूपेण देवानामिन्द्रियगोचरे प्रादुर्बभूव प्रादुर्भूतवत् । तत् प्रादुर्भूतं ब्रह्म न व्यजानत नैव विज्ञातवन्तः देवाः किमिदं यक्षं पूज्यं महद्भूतमिति ॥२॥

अपनी योगमायाके प्रभावसे सबको विस्मित करनेवाले अति अद्भुतरूपसे देवताओंकी इन्द्रियोंका विषय होकर प्रादुर्भूत अर्थात् प्रकट हुआ । उस प्रकट हुए ब्रह्मको देवतालोग यह न जान सके कि यह यक्ष अर्थात् पूजनीय महान् प्राणी कौन है ? ॥२॥

वाक्य-भाष्य

ख्यापनार्थस्तद्धैषामित्याद्याख्यायिकाम्नायः ।

तद्ब्रह्म ह किलैषां देवानामभिप्रायं मिथ्याहङ्काररूपं विजज्ञौ विज्ञातवत् । ज्ञात्वा च मिथ्याभिमानशातनेन तदनुजिघृक्षया देवेभ्योऽर्थाय तेषामेवेन्द्रियगोचरे नातिदूरे प्रादुर्बभूव । महेश्वरशक्तिमायोपात्तेनात्यन्ताद्भुतेन प्रादुर्भूतं किल केनचिद्रूपविशेषेण । तत्किलोपलभमाना अपि देवा न व्यजानत न विज्ञातवन्तः किमिदं यदेतद्यक्षं पूज्यमिति ॥ २ ॥

देवताओंके अभिप्रायको जान गया) आदि आख्यायिकारूप आम्नाय (शास्त्र) है ।

कहते हैं, वह ब्रह्म इन देवताओंके मिथ्या अहंकाररूप अभिप्रायको समझ गया—उसे इसका ज्ञान हो गया । उसे जानकर उस मिथ्याभिमानके छेदनद्वारा देवताओंपर अनुग्रह करनेकी इच्छासे वह देवताओंके ही लिये उनकी इन्द्रियोंका विषय होकर उनसे थोड़ी ही दूरपर प्रकट हुआ । वह महेश्वरकी मायाशक्तिसे ग्रहण किये हुए किसी बड़े ही विचित्र रूपविशेषसे प्रकट हुआ, जिसे देखकर भी देवता लोग यह न जान सके—न पहचान सके कि यह यक्ष अर्थात् पूज्य कौन है ? ॥ २ ॥

अग्निकी परीक्षा

तेऽग्निमब्रुवञ्जातवेद एतद्विजानीहि किमिदं यक्षमिति तथेति ॥ ३ ॥

उन्होंने अग्निसे कहा—'हे अग्ने ! इस बातको मालूम करो कि यह यक्ष कौन है ?' उसने कहा—'बहुत अच्छा' ॥ ३ ॥

पद-भाष्य

ते तदजानन्तो देवाः सान्तर्भयास्तद्विजिज्ञासवः अग्निम् अग्रगामिनं जातवेदसं सर्वज्ञकल्पम् अब्रुवन् उक्तवन्तः । हे जातवेदः एतद् अस्मद्गोचरस्थं यक्षं विजानीहि विशेषतो बुध्यस्व त्वं नस्तेजस्वी किमेतद्यक्षमिति ॥ ३ ॥

उसे न जाननेवाले देवताओंने भीतरसे डरते-डरते उसे जाननेकी इच्छासे सबसे आगे चलनेवाले सर्वज्ञकल्प जातवेदा अग्निसे कहा—'हे जातवेदः ! हमारे नेत्रोंके सम्मुख स्थित इस यक्षको जानो—विशेषरूपसे मालूम करो कि यह यक्ष कौन है; क्योंकि तुम हम सबमे तेजस्वी हो' ॥३॥

तदभ्यद्रवत्तमभ्यवदत्कोऽसीत्यग्निर्वा अहमस्मीत्यब्रवीज्जातवेदा वा अहमस्मीति ॥ ४ ॥

अग्नि उस यक्षके पास गया । उसने अग्निसे पूछा, 'तू कौन है ?' उसने कहा, 'मै अग्नि हूँ, मै निश्चय जातवेदा ही हूँ' ॥ ४ ॥

पद-भाष्य

तथा अस्तु इति तद् यक्षम् अभि अद्रवत् तत्प्रति गतवानग्निः । तं च गतवन्तं पिपृच्छिषुं तत्समीपेऽप्रगल्भत्वात्तूष्णींभूतं तद्यक्षम् अभ्यवदद्

तब 'बहुत अच्छा' ऐसा कहकर अग्नि उस यक्षकी ओर अभिद्रुत हुआ अर्थात् उसके पास गया । इस प्रकार गये हुए और धृष्ट न होनेके कारण अपने समीप चुपचाप खड़े हुए प्रश्न करनेकी इच्छावाले उस अग्निसे यक्षने कहा—'तू

पद-भाष्य

अग्निं प्रति अभाषत कोऽसीति । एवं ब्रह्मणा पृष्टोऽग्निः अब्रवीत्—अग्निर्वै अग्निर्नामाहं प्रसिद्धो जातवेदा इति च नामद्वयेन प्रसिद्धतयात्मानं श्लाघयन्निति ॥ ४ ॥

कौन है ?' ब्रह्मके इस प्रकार पूछनेपर—'मै अग्नि हूँ—मै अग्नि नामसे प्रसिद्ध जातवेदा हूँ'— इस प्रकार अग्निने दो नामसे प्रसिद्ध होनेके कारण अपनी प्रशंसा करते हुए कहा ॥ ४ ॥

तस्मिꣳस्त्वयि किं वीर्यमित्यपीदꣳ सर्वं दहेयं यदिदं पृथिव्यामिति ॥ ५ ॥

[फिर यक्षने पूछा—] 'उस [जातवेदारूप] तुझमे सामर्थ्य क्या है ?' [अग्निने कहा—] 'पृथिवीमे यह जो कुछ है उस सभीको जला सकता हूँ' ॥ ५ ॥

पद-भाष्य

एवमुक्तवन्तं ब्रह्मावोचत् तस्मिन् एवं प्रसिद्धगुणनामवति त्वयि किं वीर्यं सामर्थ्यम् इति । सोऽब्रवीद् इदं जगत् सर्वं दहेयं भस्मीकुर्यां यद् इदं स्थावरादि पृथिव्याम् इति । पृथिव्यामित्युपलक्षणार्थम्, यतोऽन्तरिक्षस्थमपि दह्यत एवाग्निना ॥ ५ ॥

इस प्रकार बोलते हुए उस अग्निसे ब्रह्मने कहा—'ऐसे प्रसिद्ध गुण और नामवाले तुझमे क्या वीर्य—सामर्थ्य है ?' वह बोला—'पृथिवीपर जो यह चराचररूप जगत् है इस सबको जला सकता हूँ—भस्म कर सकता हूँ।' 'पृथिवीमे' यह केवल उपलक्षणके लिये है, क्योकि जो वस्तु आकाशमे रहती है वह भी अग्निसे जल ही जाती है ॥ ५ ॥

तस्मै तृणं निदधावेतद्दहेति । तदुपप्रेयाय सर्वजवेन तन्न शशाक दग्धुं स तत एव निववृते नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद्यक्षमिति ॥ ६ ॥

तब यक्षने उस अग्निके लिये एक तिनका रख दिया और कहा—'इसे जला'। अग्नि उस तृणके समीप गया, परन्तु अपने सारे वेगसे भी उसे जलानेमे समर्थ नही हुआ। वह उसके पाससे ही लौट आया और बोला, 'यह यक्ष कौन है—इस बातको मै नहीं जान सका' ॥ ६ ॥

पद-भाष्य

तस्मै एवमभिमानवते ब्रह्म तृणं निदधौ पुराग्नेः स्थापितवत्। ब्रह्मणा 'एतत् तृणमात्रं ममाग्रतः दह; न चेदसि दग्धुं समर्थः, मुञ्च दग्धृत्वाभिमानं सर्वत्र' इत्युक्तः तत् तृणम् उपप्रेयाय तृणसमीपं गतवान् सर्वजवेन सर्वोत्साहकृतेन वेगेन। गत्वा तत् न शशाक नाशकद्दग्धुम्।

इस प्रकार अभिमान करनेवाले उस अग्निके लिये ब्रह्मने एक तृण रखा अर्थात् उसके आगे तृण डाल दिया। ब्रह्मके ऐसा कहनेपर कि 'तू मेरे सामने इस तिनकेको जला; यदि तू इसे जलानेमे समर्थ नहीं है तो सर्वत्र जलानेवाला होनेका अभिमान छोड़ दे' वह अपने सारे बल अर्थात् उत्साहकृत सम्पूर्ण वेगसे उस तृणके पास गया। किन्तु वहाँ जाकर भी वह उसे जलानेमे समर्थ न हुआ।

सः जातवेदाः तृणं दग्धुमशक्तो व्रीडितो हतप्रतिज्ञः तत एव यक्षादेव तूष्णीं देवान्प्रति निववृते निवृत्तः प्रतिगतवान् न एतत् यक्षम् अशकं शक्तवानहं विज्ञातुं विशेषतः यदेतद्यक्षमिति ॥ ६ ॥

इस प्रकार उस तिनकेको जलानेमे असमर्थ वह अग्नि हतप्रतिज्ञ होनेके कारण लज्जित होकर उस यक्षके पाससे चुपचाप देवताओके प्रति निवृत्त हुआ—अर्थात् उनके पास लौट आया [और बोला—] 'इस यक्षको मै विशेषरूपसे ऐसा नहीं जान सका कि यह यक्ष कौन है ?' ॥ ६ ॥

वायुकी परीक्षा

अथ वायुमब्रुवन्वायवेतद्विजानीहि किमेतद्यक्षमिति तथेति ॥ ७ ॥

तदनन्तर, उन देवताओंने वायुसे कहा—'हे वायो ! इस बातको मालूम करो कि यह यक्ष कौन है?' उसने कहा—'बहुत अच्छा' ॥ ७ ॥

तदभ्यद्रवत्तमभ्यवदत्कोऽसीति वायुर्वा अहमस्मीत्यब्रवीन्मातरिश्वा वा अहमस्मीति ॥ ८ ॥

वायु उस यक्षके पास गया, उसने वायुसे पूछा—'तू कौन है?' उसने कहा—'मै वायु हूँ—मै निश्चय मातरिश्वा ही हूँ' ॥ ८ ॥

तस्मिंस्त्वयि किं वीर्यमित्यपीदꣳ सर्वमाददीय यदिदं पृथिव्यामिति ॥ ९ ॥

[तब यक्षने पूछा—] 'उस [मातरिश्वारूप] तुझमें क्या सामर्थ्य है?' [वायुने कहा—] 'पृथिवीमे यह जो कुछ है उस सभीको ग्रहण कर सकता हूँ ॥ ९ ॥

तस्मै तृणं निदधावेतदादत्स्वेति तदुपप्रेयाय सर्वजवेन तन्न शशाकादातुं स तत एव निववृते नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद्यक्षमिति ॥ १० ॥

तब यक्षने उस वायुके लिये एक तिनका रखा और कहा—'इसे ग्रहण कर'। वायु उस तृणके समीप गया। परन्तु अपने सारे वेगसे भी

वह उसे ग्रहण करनेमे समर्थ न हुआ। तब वह उसके पाससे लौट आया और बोला—'यह यक्ष कौन है—इस बातको मै नहीं जान सका' ॥ १० ॥

पद-भाष्य

अथ अनन्तरं वायुमब्रुवन् हे वायो एतद्विजानीहीत्यादि समानार्थं पूर्वेण। वानाद्गमनाद्गन्धनाद्वा वायुः। मातर्यन्तरिक्षे श्वयतीति मातरिश्वा। इदं सर्वमपि आददीय गृह्णीयाम् यदिदं पृथिव्यामित्यादि समानमेव ॥ १० ॥

तदनन्तर उन्होने वायुसे कहा—'हे वायो! इसे जानो' इत्यादि सब अर्थ पहलेहीके समान है। [वायुको] वान अर्थात् गमन या गन्धग्रहण करनेके कारण 'वायु' कहा जाता है। 'मातरि' अर्थात् अन्तरिक्षमे श्वयन (विचरण) करनेके कारण वह 'मातरिश्वा' है। पृथिवीमे जो कुछ है मै इस सभीको ग्रहण कर सकता हूँ—इत्यादि शेष अर्थ पहलेहीके समान है ॥ १० ॥

वाक्य-भाष्य

तद्विज्ञानायाग्निमब्रुवन्। तृणनिधानेऽयमभिप्रायोऽत्यन्तसम्भावितयोरग्निमारुतयोस्तृणदहनादानाशक्त्यात्मसम्भावना शातिता भवेदिति ॥ ३-१० ॥

देवताओंने उसे जाननेके लिये अग्निसे कहा। अग्नि और वायुके सामने तृण रखनेमे ब्रह्मका यह अभिप्राय था कि एक तिनकेको जलाने और ग्रहण करनेमे असमर्थ होनेसे इन अत्यन्त प्रतिष्ठित अग्नि और वायुका आत्माभिमान क्षीण हो जाय ॥ ३-१० ॥

इन्द्रकी नियुक्ति

अथेन्द्रमब्रुवन्मघवन्नेतद्विजानीहि किमेतद्यक्षमिति तथेति तदभ्यद्रवत्तस्मात्तिरोदधे ॥ ११ ॥

तदनन्तर देवताओंने इन्द्रसे कहा—'मघवन्! यह यक्ष कौन है—इस बातको मालूम करो।' तब इन्द्र 'बहुत अच्छा' कह उस यक्षके पास गया, किन्तु वह इन्द्रके सामनेसे अन्तर्धान हो गया ॥ ११ ॥

पद-भाष्य

अथेन्द्रमब्रुवन्मघवन्नेतद्विजानीहीत्यादि पूर्ववत्। इन्द्रः परमेश्वरो मघवा बलवत्त्वात् तथेति तदभ्यद्रवत्। तस्मात् इन्द्रादात्मसमीपं गतात् तद्ब्रह्म तिरोदधे तिरोभूतम्। इन्द्रस्येन्द्रत्वाभिमानोऽतितरां निराकर्तव्य इत्यतः संवादमात्रमपि नादाद्ब्रह्मेन्द्राय ॥ ११ ॥

फिर देवताओंने इन्द्रसे 'हे मघवन्! इसे जानो' इत्यादि पूर्ववत् कहा। इन्द्र अर्थात् परमेश्वर, जो बलवान् होनेके कारण 'मघवा' कहा गया है, बहुत अच्छा—ऐसा कहकर उसकी ओर चला। अपने समीप आये हुए उस इन्द्रके सामनेसे वह ब्रह्म अन्तर्धान हो गया। इन्द्रका सबसे बढ़ा हुआ इन्द्रत्वका अभिमान तोड़ना चाहिये—इसलिये इन्द्रको ब्रह्मने संवादमात्रका भी अवसर नहीं दिया ॥ ११ ॥

वाक्य-भाष्य

इन्द्र आदित्यो वज्रभृद्वा; अविरोधात्। इन्द्रोपसर्पणे ब्रह्म तिरोदध इत्यत्रायमभिप्रायः—इन्द्रोऽहमित्यधिकतमोऽभिमानोऽस्य सोऽहमग्न्यादिभिः प्राप्तं

इन्द्र आदित्य अथवा वज्रधारी देवराजका नाम है, क्योंकि दोनों ही अर्थोंमें कोई विरोध नहीं है। ब्रह्म जो इन्द्रके समीप आते ही अन्तर्धान हो गया इसमें यह अभिप्राय था कि [ब्रह्मने देखा—] इसे 'मैं इन्द्र (देवराज) हूँ' ऐसा सोचकर सबसे अधिक अभिमान है, अतः मेरे साथ अग्नि आदिको जो वाणीका सम्भाषण-

उमाका प्रादुर्भाव

स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमाना-मुमाꣳ हैमवतीं ताꣳ होवाच किमेतद्यक्षमिति ॥१२॥

वह इन्द्र उसी आकाशमे [जिसमे कि यक्ष अन्तर्धान हुआ था] एक अत्यन्त शोभामयी स्त्रीके पास आया और उस सुवर्णाभूपणभूषिता [अथवा हिमालयकी पुत्री] उमा (पार्वतीरूपिणी ब्रह्मविद्या) से बोला—'यह यक्ष कौन है ?' ॥ १२ ॥

पद-भाष्य

तद्यक्षं यस्मिन्नाकाशे आकाश-प्रदेशे आत्मानं दर्शयित्वा तिरो-भूतमिन्द्रश्च ब्रह्मणस्तिरोधान-काले यस्मिन्नाकाशे आसीत्, स इन्द्रः तस्मिन्नेव आकाशे तस्थौ किं तद्यक्षमिति ध्यायन्; न निववृतेऽग्न्यादिवत् ।

वह यक्ष जिस आकाशमें—आकाशके जिस भागमे अपना दर्शन देकर तिरोहित हुआ था और उसके तिरोहित होनेके समय इन्द्र जिस आकाशमे था, वह इन्द्र यह सोचता हुआ कि 'यह यक्ष कौन है ?' उसी आकाशमें खडा रहा । अग्नि आदि-के समान पीछे नहीं लौटा ।

वाक्य-भाष्य

वाक्सम्भापणमात्रमप्यनेन न प्राप्तोऽस्मीत्यभिमानं कथं न नाम जह्यादिति तदनुग्रहायैवान्तर्हितं तद्ब्रह्म बभूव ॥ ११ ॥

मात्र भी प्राप्त हो गया था उसके लिये भी मै इसे प्राप्त न हो सका—ऐसा सोचकर यह किसी तरह अपना अभिमान छोड़ दे । अतः उसपर कृपा करनेके लिये ही ब्रह्म अन्तर्धान हो गया ॥ ११ ॥

स शान्ताभिमान इन्द्रोऽत्यर्थं ब्रह्म विजिज्ञासुर्यस्मिन्नाकाशे ब्रह्मणः प्रादुर्भाव आसीत्तिरोधानं च तस्मिन्नेव स्त्रियमतिरूपिणीं

इस प्रकार अभिमान शान्त हो जानेपर इन्द्र ब्रह्मका अत्यन्त जिज्ञासु होकर उसी आकाशमे, जिसमे कि ब्रह्मका आविर्भाव एवं तिरोभाव हुआ था, एक अत्यन्त रूपवती स्त्री—

पद-भाष्य

तस्येन्द्रस्य यक्षे भक्तिं बुद्ध्वा विद्या उमारूपिणी प्रादुरभूत्स्त्रीरूपा । स इन्द्रः ताम् उमां बहुशोभमानाम्—सर्वेषां हि शोभमानानां शोभनतमा विद्या, तदा बहुशोभमानेति विशेषणमुपपन्नं भवति; हैमवतीं हेमकृताभरणवतीमिव बहुशोभमानामित्यर्थः; अथवा उमैव हिमवतो दुहिता हैमवती नित्यमेव सर्वज्ञेनेश्वरेण सह वर्तत इति ज्ञातुं समर्थेति कृत्वा ताम्—उपजगाम इन्द्रस्तां ह उमां किल उवाच पप्रच्छ—ब्रूहि किमेतद्दर्शयित्वा तिरोभूतं यक्षमिति ॥१२॥

उस इन्द्रकी यक्षमे भक्ति जानकर स्त्रीवेशधारिणी उमारूपा विद्यादेवी प्रकट हुई। वह इन्द्र उस अत्यन्त शोभामयी हैमवती उमाके पास गया। समस्त शोभायमानोमे विद्या ही सबसे अधिक शोभामयी है; इसलिये उसके लिये 'बहुशोभमाना' यह विशेषण उचित ही है। हैमवती अर्थात् हेम (सुवर्ण) निर्मित आभूषणोवालीके समान अत्यन्त शोभामयी। अथवा हिमवान्की कन्या होनेसे उमा (पार्वती) ही हैमवती है। वह सर्वदा उस सर्वज्ञ ईश्वरके साथ वर्तमान रहती है; अतः उसे जाननेमे समर्थ होगी—यह सोचकर इन्द्र उसके पास गया, और उससे पूछा—'बतलाइये, इस प्रकार दर्शन देकर छिप जानेवाला यह यक्ष कौन है?' ॥ १२ ॥

इति तृतीयः खण्डः ॥ ३ ॥

वाक्य-भाष्य

विद्यामाजगाम। अभिप्रायोद्बोधहेतुत्वाद्रुद्रपत्न्युमा हैमवतीव सा शोभमाना विद्यैव। विरूपोऽपि विद्यावान्बहु शोभते ॥ १२ ॥

विद्यादेवीके पास आया। ब्रह्मके गुप्त हो जानेके अभिप्रायको प्रकट करनेके कारण रुद्रपत्नी हिमालयपुत्री पार्वतीके समान शोभामयी वह ब्रह्मविद्या ही थी; क्योंकि विद्यावान् पुरुष रूपहीन होनेपर भी बहुत शोभा पाता है॥१२॥

इति तृतीयः खण्डः ॥ ३ ॥

चतुर्थ खण्ड

उमाका उपदेश

सा ब्रह्मेति होवाच ब्रह्मणो वा एतद्विजये महीयध्वमिति ततो हैव विदाञ्चकार ब्रह्मेति ॥ १ ॥

उस विद्यादेवीने स्पष्टतया कहा—'यह ब्रह्म है, तुम ब्रह्मके ही विजयमे इस प्रकार महिमान्वित हुए हो'। कहते है, तभीसे इन्द्रने यह जाना कि यह ब्रह्म है ॥ १ ॥

पद-भाष्य

सा ब्रह्मेति होवाच ह किल ब्रह्मणो वै ईश्वरस्यैव विजये—ईश्वरेणैव जिता असुराः; यूयं तत्र निमित्तमात्रम्; तस्यैव विजये—यूयं महीयध्वं महिमानं प्राप्नुथ। एतदिति क्रियाविशेष-

उसने 'यह ब्रह्म है' ऐसा कहा। 'निस्सन्देह ब्रह्म—ईश्वरके विजयमे ही [तुम महिमाको प्राप्त हुए हो]। असुरोको ईश्वरने ही जीता था; तुम तो उसमे निमित्तमात्र थे। अतः उसके ही विजयमे तुम्हे यह महिमा मिली है।' मूलमे 'एतत्' यह क्रियाविशेषणके लिये

वाक्य-भाष्य

तां च पृष्ट्वा तस्या एव वचनाद् विदाञ्चकार विदितवान्। अत इन्द्रस्य बोधहेतुत्वाद्विद्यैवोमा। विद्यासहायवानीश्वर इति स्मृतिः। यस्मादिन्द्रविज्ञानपूर्वकम् अग्निवाय्विन्द्रास्ते ह्येनन्नेदिष्टमति-

इन्द्रने उस उमासे पूछकर उसीके वचनसे [ब्रह्मको] जाना था, अतः इन्द्रके बोधकी हेतुभूता होनेसे उमा विद्या ही है। 'ईश्वर विद्यासहायवान् है' ऐसी स्मृति भी है। क्योकि इन्द्रके विज्ञानपूर्वक अग्नि वायु और इन्द्र इन देवताओने ही ब्रह्मको, उसके

पद-भाष्य

णार्थम् । मिथ्याभिमानस्तु युष्माकम्—अस्माकमेवायं विजयोऽस्माकमेवायं महिमेति । ततः तस्मादुमावाक्याद् ह एव विदांचकार ब्रह्मेति इन्द्रः; अवधारणात् ततो हैव इति, न स्वातन्त्र्येण ॥ १ ॥

है । 'यह हमारी ही विजय है, यह हमारी ही महिमा है' यह तो तुम्हारा मिथ्या अभिमान ही है । तब उमादेवीके उस वाक्यसे ही इन्द्रने जाना कि 'यह ब्रह्म है' । 'ततः' पदके साथ 'ह' और 'एव' ये अव्यय निश्चय करानेके लिये ही प्रयुक्त हुए है । [अर्थात् उमा देवीके वाक्यसे ही इन्द्रने ब्रह्मको जाना] स्वतन्त्रतासे नहीं ॥ १ ॥

यस्मादग्निवाय्विन्द्रा एते देवा ब्रह्मणः संवाददर्शनादिना सामीप्यमुपगताः—

क्योंकि अग्नि, वायु और इन्द्र—ये देवता ही ब्रह्मके साथ संवाद और दर्शनादि करनेके कारण उसकी समीपताको प्राप्त हुए थे—

तस्माद्वा एते देवा अतितरामिवान्यान्देवान्यदग्निर्वायुरिन्द्रस्ते ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पृशुस्ते ह्येनत्प्रथमो विदाञ्चकार ब्रह्मेति ॥ २ ॥

क्योकि अग्नि वायु और इन्द्र—इन देवताओने ही इस समीपस्थ ब्रह्मको स्पर्श किया था और उन्होने ही उसे पहले-पहल 'यह ब्रह्म है' ऐसा जाना था, अतः वे अन्य देवताओंसे बढकर हुए ॥ २ ॥

वाक्य-भाष्य

समीपं ब्रह्मविद्यया ब्रह्म प्राप्ताः सन्तः पस्पृशुः स्पृष्टवन्तः—ते हि प्रथमः प्रथमं विदाञ्चकार विदाञ्चक्रुरित्येतत्—तस्माद‌तितराम् अतीत्यान्यानतिशयेन दीप्यन्ते

नेदिष्ठ अर्थात् अत्यन्त समीप पहुँचकर ब्रह्मविद्याद्वारा स्पर्श किया था—उन्होंने प्रथम यानी पहले-पहल उसे जाना था इसलिये वे अन्य देवताओसे बढ़े हुए है—उनसे अधिक देदीप्यमान होते है;

पद-भाष्य

तस्मात् स्वैर्गुणैः अतितरामिव शक्तिगुणादिमहाभाग्यैः अन्यान् देवान् अतितराम् अतिशेरत इव एते देवाः। इव शब्दोऽनर्थकोऽवधारणार्थो वा। यद् अग्निः वायुः इन्द्रः ते हि देवा यस्मात् एनत् ब्रह्म नेदिष्ठम् अन्तिकतमं प्रियतमं पस्पर्शुः स्पृष्टवन्तो यथोक्तैर्ब्रह्मणः संवादादिप्रकारैः, ते हि यस्माच्च हेतोः एनद् ब्रह्म प्रथमः प्रथमाः प्रधानाः सन्त इत्येतत्, विदांचकार विदांचक्रुरित्येतद्ब्रह्मेति ॥२॥

इसलिये निश्चय ही ये देवगण अपने शक्ति एवं गुण आदि महान् सौभाग्योंके कारण अन्य देवताओंसे बढ़कर हुए। 'इव' शब्द निरर्थक अथवा निश्चयार्थबोधक है। क्योंकि अग्नि, वायु और इन्द्र—इन देवताओंने इस ब्रह्मको पूर्वोक्त संवाद आदि प्रकारोंसे नेदिष्ठ अर्थात् अत्यन्त निकटवर्ती एवं प्रियतम भावसे स्पर्श किया था और उन्होंने ही इस ब्रह्मको प्रथम अर्थात् प्रधानरूपसे 'यह ब्रह्म है' ऐसा जाना था ॥ २ ॥

यस्मादग्निवायू अपि इन्द्रवाक्यादेव विदांचक्रतुः, इन्द्रेण हि उमावाक्यात्प्रथमं श्रुतं ब्रह्मेति—

क्योंकि अग्नि और वायुने भी इन्द्रके वाक्यसे ही उसे जाना था, कारण कि उमाके वाक्यसे तो इन्द्रने ही पहले सुना था कि 'यह ब्रह्म है'—

तस्माद्वा इन्द्रोऽतितरामिवान्यान्देवान्स ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पर्श स ह्येनत्प्रथमो विदाञ्चकार ब्रह्मेति ॥ ३ ॥

इसलिये इन्द्र अन्य सब देवताओंसे बढ़कर हुआ क्योंकि उसने ही इस समीपस्थ ब्रह्मको स्पर्श किया था—उसने ही पहले-पहल 'यह ब्रह्म है' इस प्रकार इसे जाना था ॥ ३ ॥

वाक्य-भाष्य

अन्यान्देवांस्ततोऽपीन्द्रोऽतितरां दीप्यते। आदौ ब्रह्मविज्ञानात् ॥१-३॥

उनमें भी इन्द्र सबसे अधिक दीप्तिमान् है, क्योंकि सबसे पहले उसे ही ब्रह्मका ज्ञान हुआ था ॥ १-३ ॥

पद-भाष्य

तस्माद्वै इन्द्रः अतितरामिव अतिशेरत इव अन्यान् देवान् । स ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पर्श यस्मात् स ह्येनत्प्रथमो विदांचकार ब्रह्मेत्युक्तार्थं वाक्यम् ॥ ३ ॥

अतः इन्द्र इन अन्य देवताओंकी अपेक्षा भी बढ़कर हुआ, क्योंकि उसीने इसे सबसे समीपसे स्पर्श किया था—उसीने इसे सबसे पहले जाना था कि 'यह ब्रह्म है' इस प्रकार इस वाक्यका अर्थ पहले ही कहा जा चुका है ॥ ३ ॥

ब्रह्मविषयक अधिदैव आदेश

तस्यैष आदेशो यदेतद्विद्युतो व्यद्युतदा३ इती- न्न्यमीमिषदा३ इत्यधिदैवतम् ॥ ४ ॥

उस ब्रह्मका यह [उपासना-सम्बन्धी] आदेश है । जो बिजलीके चमकनेके समान तथा पलक मारनेके समान प्रादुर्भूत हुआ वह उस ब्रह्मका अधिदैवत रूप है ॥ ४ ॥

पद-भाष्य

तस्य प्रकृतस्य ब्रह्मण एष आदेश उपमोपदेशः । निरुपमस्य ब्रह्मणो येनोपमानेनोपदेशः

उस प्रस्तावित ब्रह्मके विषयमे यह आदेश यानी उपमोपदेश है । जिस उपमासे उस निरुपम ब्रह्मका उपदेश किया जाता है वह

वाक्य-भाष्य

तस्यैष आदेशः । तस्य ब्रह्मण एष वक्ष्यमाण आदेश उपासनोपदेश इत्यर्थः । यस्माद्देवेभ्यो

उसका यह आदेश है । अर्थात् उस ब्रह्मका यह आगे कहा जानेवाला आदेश—उपासनासम्बन्धी उपदेश है । क्योंकि ब्रह्म देवताओके सामने विद्युत्-

पद-भाष्य

सोऽयमादेश इत्युच्यते । किं तत्? यदेतत् प्रसिद्धं लोके विद्युतो व्यद्युतद् विद्योतनं कृतवदित्येतदनुपपन्नमिति विद्युतो विद्योतनमिति कल्प्यते । आ३ इत्युपमार्थः । विद्युतो विद्योतनमिवेत्यर्थः, "यथा सकृद्विद्युतम्" इति श्रुत्यन्तरे च दर्शनात् । विद्युदिव हि सकृदात्मानं दर्शयित्वा तिरोभूतं ब्रह्म देवेभ्यः ।

'आदेश' कहा जाता है। वह आदेश क्या है? यह जो लोकमे प्रसिद्ध बिजलीका चमकना है। यहाँ 'व्यद्युतत्' शब्दका 'प्रकाश किया' ऐसा अर्थ अनुपपन्न होनेके कारण 'विद्युतो विद्योतनम्—विद्युत्का चमकना' ऐसा अर्थ माना जाता है। 'आ' यह अव्यय उपमाके लिये है। अर्थात् बिजली चमकनेके समान [ऐसा तात्पर्य है]। जैसा कि "यथा सकृद्विद्युतम्" इस अन्य श्रुतिसे भी देखा जाता है, क्योंकि ब्रह्म विद्युत्के समान ही अपनेको एक बार प्रकाशित करके देवताओंके सामनेसे तिरोभूत हो गया था।

अथवा विद्युतः 'तेजः' इत्यध्याहार्यम्। व्यद्युतद् विद्योतित-

अथवा 'विद्युतः' इस पदके आगे 'तेजः' पदका अध्याहार करना चाहिये। 'व्यद्युतत्'का अर्थ

वाक्य-भाष्य

विद्युदिव सहसैव प्रादुर्भूतं ब्रह्म द्युतिमत्तस्माद्विद्युतो विद्योतनं यथा यदेतद्ब्रह्म व्यद्युतद्विद्योतितवत् । आ इवेत्युपमार्थ आशब्दः । यथा

के समान सहसा (अकस्मात्) ही प्रकट हो गया था, इसलिये जो यह ब्रह्म प्रकाशमय है वह विद्युत्के प्रकाशके समान प्रकाशित हुआ। 'आ' का अर्थ 'इव' है; यह 'आ' शब्द उपमाके लिये है। जिस प्रकार बिजली सघन

पद-भाष्य

वत् आ३ इव । विद्युतस्तेजः सकृद्विद्योतितवदिवेत्यभिप्रायः । इतिशब्द आदेशप्रतिनिर्देशार्थः—इत्ययमादेश इति । इच्छब्दः समुच्चयार्थः ।

अयं चापरस्तस्यादेशः । कोऽसौ? न्यमीमिषद् यथा चक्षुः न्यमीमिषद् निमेषं कृतवत् ।

है 'प्रकाशित हुआ' तथा 'आ' का अर्थ 'समान' है । अतः इसका अभिप्राय यह हुआ कि 'जो बिजलीकी तेजके समान एक बार प्रकाशित हुआ ।' 'इति' शब्द आदेशका सङ्केत करनेके लिये है अर्थात् 'यह आदेश है' ऐसा बतलानेके लिये है, और 'इत्' शब्द समुच्चयार्थक है ।

इसके सिवा एक दूसरा आदेश यह भी है । वह क्या है? [सुनो—] जिस प्रकार नेत्र निमेष करता है, उसी प्रकार उसने भी निमेष किया ।

वाक्य-भाष्य

घनान्धकारं विदार्य विद्युत्सर्वतः प्रकाशत एवं तद्ब्रह्म देवानां पुरतः सर्वतः प्रकाशवद्व्यक्तीभूतमतो व्यद्युतदिवेत्युपास्यम् । यथा सकृद्विद्युतमिति च वाजसनेयके ।

यस्माच्चेन्द्रोपसर्पणकाले न्यमीमिषत् । यथा कश्चिच्चक्षुर्निमेषणं कृतवानिति । इतीदित्यनर्थकौ निपातौ । निमिषितवदिव तिरोभूतम् । इति एवमधिदैवतं देवताया अधि यद्दर्शनमधिदैवतं तत् ॥ ४ ॥

[जिस प्रकार बिजली घने] अन्धकारको विदीर्ण करके सब ओर प्रकाशित होती है उसी प्रकार वह ब्रह्म देवताओंके सामने सब ओर प्रकाशयुक्त होकर व्यक्त हुआ; इसलिये 'यह बिजलीकी चमकके समान है' इस प्रकार उपासना करनेयोग्य है । जैसा कि वाजसनेयक श्रुतिमें भी 'यथा सकृद्विद्युतम्' ऐसा कहा है ।

क्योंकि इन्द्रके समीप जानेके समय ब्रह्म इसप्रकार सङ्कुचित हो गया था, मानो किसीने नेत्र मूँद लिये हों; अतः वह नेत्र मूँदनेके समान तिरोहित हुआ । इस प्रकार यह अधिदैवत ब्रह्मदर्शन है । जो दर्शन देवतासम्बन्धी होता है वह अधिदैवत कहलाता है । 'इति' और 'इत्' इन दोनो निपातोंका यहाँ कुछ अर्थ नहीं है ॥ ४ ॥

—•◦•—

पद-भाष्य

स्वार्थे णिच् । उपमार्थ एव आकारः । चक्षुषो विषयं प्रति प्रकाशतिरोभाव इव चेत्यर्थः । इति अधिदैवतं देवताविषयं ब्रह्मण उपमानदर्शनम् ॥ ४ ॥

यहाँ स्वार्थमें 'णिच्' प्रत्यय हुआ है। 'आ' उपमाके ही लिये है। इस प्रकार 'नेत्रके विषयसे प्रकाशके छिप जानेके समान' ऐसा अर्थ हुआ। इस तरह यह ब्रह्मकी अधिदैवत—देवताविषयक उपमा दिखलायी गयी ॥ ४ ॥

ब्रह्मविषयक अध्यात्म आदेश

अथाध्यात्मं यदेतद्गच्छतीव च मनोऽनेन चैतदुपस्मरत्यभीक्ष्णꣳसङ्कल्पः ॥ ५ ॥

इसके अनन्तर अध्यात्मउपासनाका उपदेश कहते है—यह मन जो जाता हुआ सा कहा जाता है वह ब्रह्म है—इस प्रकार उपासना करनी चाहिये, क्योंकि इससे ही यह ब्रह्मका स्मरण करता है और निरन्तर संकल्प किया करता है ॥ ५ ॥

पद-भाष्य

अथ अनन्तरम् अध्यात्मं प्रत्यगात्मविषय आदेश उच्यते ।

इसके पश्चात् अब अध्यात्म अर्थात् प्रत्यगात्मा-सम्बन्धी आदेश

वाक्य-भाष्य

अथ अनन्तरमध्यात्ममात्मविषयमध्यात्ममुच्यत इति वाक्यशेषः । यदेतद्यथोक्तलक्षणं ब्रह्म

अब आगे अध्यात्म—आत्मविषयक उपासना कही जाती है—इस प्रकार इस वाक्यमे 'उच्यते' यह क्रियापद शेष है । जो यह मन उपर्युक्त लक्षणोंवाले ब्रह्मके प्रति मानो जाता—

पद-भाष्य

यदेतद् गच्छतीव च मनः। एतद्ब्रह्म ढौकत इव विषयीकरोतीव। यच्च अनेन मनसा एतद् ब्रह्म उपस्मरति समीपतः स्मरति साधकः अभीक्ष्णं भृशम्। संकल्पश्च मनसो ब्रह्मविषयः। मन-उपाधिकत्वाद्धि मनसः संकल्प-स्मृत्यादिप्रत्ययैरभिव्यज्यते ब्रह्म, विषयीक्रियमाणमिव। अतः स एष ब्रह्मणोऽध्यात्ममादेशः।

कहा जाता है। यह जो मन जाता हुआ-सा मालूम होता है, सो वह मानो ब्रह्मको ही विषय करता है। और साधक पुरुष इस मनसे जो ब्रह्मका वारम्बार उपस्मरण—समीपसे स्मरण करता है [वह उसका अध्यात्म आदेश है]। मनका सङ्कल्प भी ब्रह्मको ही विषय करनेवाला है। ब्रह्म मनरूप उपाधिवाला है; इसलिये मनकी सङ्कल्प एवं स्मृति आदि प्रतीतियोंसे मानो विषय किया जाता हुआ ब्रह्म ही अभिव्यक्त होता है। अतः यह उस ब्रह्मका अध्यात्म आदेश है।

वाक्य-भाष्य

गच्छतीव प्राप्नोतीव विषयीकरोतीवेत्यर्थः। न पुनर्विषयीकरोति मनसोऽविषयत्वाद्ब्रह्मणोऽतो मनो न गच्छति। येनाहुर्मनो मतमिति हि चोक्तम्। तु गच्छतीवेति मनसोऽपि मनस्त्वात्।

प्राप्त होता अर्थात् विषय करता है [वह ब्रह्म है—इस प्रकार उपासना करनी चाहिये]। मन वस्तुतः ब्रह्मको विषय नहीं करता, क्योंकि ब्रह्म तो मनका अविषय है; इसलिये वह उसतक नहीं पहुँच सकता, जैसा कि पहले कह चुके हैं कि 'जिससे मन मनन किया कहा जाता है।' अतः मनका भी मन होनेके कारण 'गच्छतीव' (मानो जाता है) ऐसा कहा गया है।

पद-भाष्य

विद्युन्निमेषणवदधिदैवतं द्रुतप्रकाशनधर्मि, अध्यात्मं च मनःप्रत्ययसमकालाभिव्यक्तिधर्मि—इत्येष आदेशः। एवमादिश्यमानं हि ब्रह्म मन्दबुद्धिगम्यं भवतीति ब्रह्मण आदेशोपदेशः। न हि निरुपाधिकमेव ब्रह्म मन्दबुद्धिभिराकलयितुं शक्यम् ॥ ५ ॥

विद्युत् और निमेषोन्मेषके समान ब्रह्म शीघ्र प्रकाशित होनेवाला है—यह अधिदैवत आदेश कहा गया और वह मनकी प्रतीतिके समकालमें अभिव्यक्त होनेवाला है—यह उसका अध्यात्म आदेश है। इस प्रकार उपदेश किया हुआ ब्रह्म मन्दबुद्धियोंकी भी समझमे आ जाता है—इसलिये यह [सोपाधिक] ब्रह्मका उपदेश किया गया, क्योंकि मन्द-बुद्धि पुरुषोंद्वारा निरुपाधिक ब्रह्मका ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता ॥ ५ ॥

वाक्य-भाष्य

आत्मभूतत्वाच्च ब्रह्मणस्तत्समीपे मनो वर्तत इति। उपस्मरत्यनेन मनसैव तद्ब्रह्म विद्वान्यस्मात्तस्माद्ब्रह्म गच्छतीवेत्युच्यते। अभीक्ष्णं पुनः पुनश्च सङ्कल्पो ब्रह्मप्रेषितस्य मनसः। अत उपस्मरणसङ्कल्पादिभिर्लिङ्गैर्ब्रह्म मनोऽध्यात्मभूतमुपास्यमित्यभिप्रायः ॥ ५ ॥

अर्थात् ब्रह्मका स्वरूपभूत होनेके कारण मन उसके समीप रहता है। क्योंकि विद्वान् इस मनसे ही उस ब्रह्मका स्मरण करता है इसलिये [मन] ब्रह्मके समीप मानो जाता है' ऐसा कहा जाता है। ब्रह्मद्वारा प्रेरित मनका ही बारम्बार सङ्कल्प होता है। अतः तात्पर्य यह है कि स्मरण और सङ्कल्प आदि लिङ्गोंसे मनकी अध्यात्म ब्रह्मस्वरूपसे उपासना करनी चाहिये ॥ ५ ॥

किंच

तथा—

वन-संज्ञक ब्रह्मकी उपासनाका फल

तद्ध तद्वनं नाम तद्वनमित्युपासितव्यं स य एतदेवं वेदाभि हैनꣳ सर्वाणि भूतानि संवाञ्छन्ति ॥ ६ ॥

वह यह ब्रह्म ही वन (सम्भजनीय) है। उसकी 'वन'—इस नामसे उपासना करनी चाहिये। जो उसे इस प्रकार जानता है उसे सभी भूत अच्छी तरह चाहने लगते है ॥ ६ ॥

पद-भाष्य

तद् ब्रह्म ह किल तद्वनं नाम तस्य वनं तद्वनं तस्य प्राणिजातस्य प्रत्यगात्मभूतत्वाद्वनं वननीयं संभजनीयम्। अतः तद्वनं नाम; प्रख्यातं ब्रह्म तद्वनमिति यतः, तस्मात् तद्वनमिति अनेनैव गुणाभिधानेन उपासितव्यं चिन्तनीयम्।

वह ब्रह्म निश्चय ही 'तद्वन' नामवाला है। 'तस्य वनं तद्वनम्' [इस प्रकार यहाँ षष्ठी तत्पुरुष समास है]। अर्थात् यह उस प्राणिसमूहका प्रत्यगात्मस्वरूप होनेके कारण वन—वननीय अर्थात् भजनीय है। इसलिये इसका नाम 'तद्वन' है। क्योंकि ब्रह्म 'तद्वन' इस नामसे प्रसिद्ध है, इसलिये उसकी 'तद्वन' इस गुणव्यञ्जक नामसे ही उपासना—चिन्तन करना चाहिये।

वाक्य-भाष्य

तस्य चाध्यात्ममुपासने गुणो विधीयते—

तद्ध तद्वनम् तदेतद्ब्रह्म तच्च तद्वनं च तत्परोक्षं वनं सम्भजनीयम्। वनतेस्तत्कर्म-

उस ब्रह्मकी अध्यात्म-उपासनामे गुणका विधान किया जाता है—

'वह ब्रह्म तद् वन' है, यानी यह ब्रह्म तत् अर्थात् परोक्ष और वन—अच्छी तरह भजन करने योग्य है। [वन् धातुका अर्थ अच्छी प्रकार भजन करना है] तत् शब्द जिसका कर्मभूत

पद-भाष्य

अनेन नाम्नोपासनस्य फलमाह स यः कश्चिद् एतद् यथोक्तं ब्रह्म एवं यथोक्तगुणं वेद उपास्ते अभि ह एनम् उपासकं सर्वाणि भूतानि अभि संवाञ्छन्ति ह प्रार्थयन्त एव यथा ब्रह्म ॥ ६ ॥

इस नामसे की हुई उपासनाका फल बतलाते है—'जो कोई इस पूर्वोक्त ब्रह्मको उपर्युक्त गुणोसे युक्त जानता अर्थात् उपासना करता है उस उपासकसे समस्त प्राणी इसी प्रकार अपने सम्पूर्ण अभीष्ट फलोकी इच्छा यानी प्रार्थना करने लगते है, जैसे कि ब्रह्मसे ॥ ६ ॥

एवमनुशिष्टः शिष्य आचार्यमुवाच—

इस प्रकार उपदेश पाकर शिष्यने आचार्यसे कहा—

वाक्य-भाष्य

णस्तस्मात्तद्वनं नाम । ब्रह्मणो गौणं हीदं नाम । तस्मादनेन गुणेन तद्वनमित्युपासितव्यम् । स यः कश्चिदेतद्यथोक्तमेवं यथोक्तेन गुणेन वनमित्यनेन नाम्नाभिधेयं ब्रह्म वेदोपास्ते तस्यैतत्फलमुच्यते । सर्वाणि भूतान्येनमुपासकमभिसंवाञ्छन्तीहाभिसम्भजन्ते सेवन्ते स्मेत्यर्थः । यथागुणोपासनं हि फलम् ॥ ६ ॥

है ऐसे वन् धातुसे तद्वन शब्द सिद्ध होता है; अतः उसका 'तद्वन' नाम है । ब्रह्मका यह नाम गुणविशेषके कारण है । अतः इस गुणके कारण वह 'वन है' इस प्रकार उपासना करने योग्य है । वह, जो कोई उपर्युक्त गुणके कारण पहले कहे हुए 'वन' इस नामसे इसके अभिधेय ब्रह्मको जानता अर्थात् उपासना करता है उसके लिये यह फल बतलाया जाता है । इस उपासककी सभी भूत इच्छा करते है अर्थात् सभी उसका भजन यानी सेवा करते है । यह प्रसिद्ध ही है कि जैसे गुणवालेकी उपासना की जाती है वैसा ही फल होता है ॥ ६ ॥

उपसंहार

उपनिषदं भो ब्रूहीत्युक्ता त उपनिषद्ब्राह्मी वाव त उपनिषदमब्रूमेति ॥ ७ ॥

[शिष्यके यह कहनेपर कि] हे गुरो ! उपनिषद् कहिये [गुरुने कहा] 'हमने तुझसे उपनिषद् कह दी । अब हम तेरे प्रति ब्राह्मण-जातिसम्बन्धिनी उपनिषद् कहेंगे' ॥ ७ ॥

पद-भाष्य

उपनिषदं रहस्यं यच्चिन्त्यं भो भगवन् ब्रूहि इति ।

हे भगवन् ! जो चिन्तनीय उपनिषद् यानी रहस्य है वह मुझसे कहिये ।

एवमुक्तवति शिष्ये आहाचार्यः—उक्ता अभिहिता ते तव उपनिषत् । का पुनः सेत्याह—ब्राह्मीं ब्रह्मणः परमात्मन इयं ब्राह्मीं ताम्, परमात्मविषयत्वादतीतविज्ञानस्य, वाव एव ते उपनिषदमब्रूमेति उक्तामेव परमात्मविषयामुपनिषदमब्रूमेत्यवधारयत्युत्तरार्थम् ।

शिष्यके ऐसा कहनेपर आचार्यने कहा, 'तुझसे उपनिषद् तो कह दी गयी ।' वह उपनिषद् क्या है ? सो बतलाते हैं—हमने तेरे प्रति ब्राह्मी—ब्रह्म यानी परमात्मसम्बन्धिनी उपनिषद् ही कही है, क्योंकि पूर्वकथित विज्ञान परमात्मसम्बन्धी ही था । 'वाव'—निश्चय ही 'ते उपनिषदमब्रूम' इस वाक्यके द्वारा पहले कही हुई उपनिषद्को ही लक्ष्य करके 'मैंने तुमसे परमात्मसम्बन्धिनी उपनिषद् ही कही है' इस प्रकार* अगले ग्रन्थका विषय स्पष्ट करनेके लिये निश्चय करते हैं ।

वाक्य-भाष्य

उपनिषदं भो ब्रूहि इत्युक्तायामप्युपनिषदि शिष्येणोक्त आचार्य आह—उक्ता कथिता

इस प्रकार उपनिषद् कह चुकनेपर भी जब शिष्यने कहा कि 'उपनिषद् कहिये' तब आचार्य बोले—'मैंने तुझसे उपनिषद् और आत्माकी

* उपनिषद्के जिज्ञासु शिष्यसे आचार्य पूर्वमें ही उपनिषद्का कथन कर यह स्पष्ट करते हैं कि उत्तर ग्रन्थमें उपनिषद्का वर्णन नहीं है ।

पद-भाष्य

परमात्मविषयामुपनिषदं श्रुतवतः उपनिषदं भो ब्रूहीति पृच्छतः शिष्यस्य कोऽभिप्रायः? यदि तावच्छ्रुतस्यार्थस्य प्रश्नः कृतः, ततः पिष्टपेषणवत्पुनरुक्तोऽनर्थकः प्रश्नः स्यात्। अथ सावशेषोक्तोपनिषत्स्यात्, ततस्तस्याः फलवचनेनोपसंहारो न युक्तः "प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति" (के० उ० २। ५) इति। तस्मादुक्तोपनिषच्छेषविषयोऽपि प्रश्नोऽनुपपन्न एव, अनवशेषितत्वात्। कस्तर्ह्यभिप्रायः प्रष्टुरित्युच्यते—

यहाँ परमात्मविषयिनी उपनिषद्को सुन चुकनेवाले शिष्यका 'उपनिषद् कहिये' इस प्रकार प्रश्न करनेमे क्या अभिप्राय है? यदि उसने सुनी हुई बातके विषयमे ही पुनः प्रश्न किया है तो उसका पुनः कहना पिष्टपेषण (पिसे हुएको पीसने) के समान निरर्थक ही है। और यदि पहले कही हुई उपनिषद् असम्पूर्ण होती तो "इस लोकसे प्रयाण करनेके अनन्तर वे अमर हो जाते है" इस प्रकार फल बतलाते हुए उसका उपसंहार करना उचित न होता। अतः पूर्वोक्त उपनिषद्के अवशिष्ट (कहनेसे बचे हुए) अंशके सम्बन्धमें प्रश्न करना भी अयुक्त ही है, क्योंकि उसमे कोई बात कहनेसे छोड़ी नहीं गयी। तो फिर प्रश्नकर्ताका क्या अभिप्राय हो सकता है? इसपर कहा जाता है—

वाक्य-भाष्य

ते तुभ्यमुपनिषदात्मोपासनं च। अधुना ब्राह्मीं वाव ते तुभ्यं ब्रह्मणो ब्राह्मणजातेरुपनिषदमब्रूम वक्ष्याम इत्यर्थः। वक्ष्यति हि। ब्राह्मी नोक्ता उक्ता त्वात्मोपनिषत्। तस्मान्न भूताभिप्रायोऽब्रूमेत्ययं शब्दः॥ ७॥

उपासना कह दी'। अब हम तुझे ब्राह्मी—ब्रह्मकी—ब्राह्मण-जातिकी उपनिषद् सुनाते है। यह उपनिषद् आगे कही जायगी। अबतक ब्राह्मी उपनिषद् नहीं कही गयी, केवल आत्मोपनिषद् ही कही गयी है। अतः 'अब्रूम' इस शब्दसे भूतकालका अभिप्राय नहीं है॥ ७॥

पदच्छेद-भाष्य

किं पूर्वोक्तोपनिषच्छेषतया तत्सहकारिसाधनान्तरापेक्षा, अथ निरपेक्षैव ? सापेक्षा चेदपेक्षितविषयामुपनिषदं ब्रूहि । अथ निरपेक्षा चेदवधारय पिप्पलादवन्नातः परमस्तीत्येवमभिप्रायः । एतदुपपन्नमाचार्यस्यावधारणवचनम् 'उक्ता त उपनिषत्' इति ।

पहले जो उपनिषद् कही गयी है उसके अवशेषरूपसे किन्हीं अन्य सहकारी साधनोकी अपेक्षा है अथवा वह सर्वथा निरपेक्षा ही कही गयी है ? यदि वह सापेक्षा है तो अपेक्षित विपयसम्बन्धिनी उपनिपद् कहिये और यदि उसे किसीकी अपेक्षा नहीं है तो पिप्पलादके समान* इससे पर और कुछ नहीं है—इस प्रकार निर्धारण कीजिये—यह शिष्यके प्रश्नका अभिप्राय है । अतः आचार्यका 'तुझसे उपनिपद् कह दी गयी' यह अवधारण वाक्य ठीक ही है ।

ननु नावधारणमिदम्, यतोऽन्यद्वक्तव्यमाह 'तस्यै तपो दमः' इत्यादि ।

शङ्का—यह अवधारण वाक्य नहीं हो सकता, क्योंकि 'तस्यै तपो दमः' इत्यादि आगामी वाक्यद्वारा कुछ और कहने योग्य बात कही गयी है ।

तपःप्रभृतीनां ब्रह्मविद्याया अशेषत्वप्रतिपादनम्

सत्यम्, वक्तव्यमुच्यते आचार्येण न तूक्तोपनिषच्छेषतया तत्सहकारिसाधनान्तराभिप्रायेण वा; किं तु ब्रह्मविद्याप्राप्त्युपायाभिप्रायेण वेदैस्तदङ्गैश्च

समाधान—ठीक है, आचार्यने एक दूसरे कथनीय विषयको तो कहा है; तथापि उसे पूर्वोक्त उपनिपद्के अवशेषरूप अथवा अन्य सहकारी साधनरूपसे नहीं कहा । बल्कि ब्रह्मविद्याकी प्राप्तिके उपाय बतलानेके ही अभिप्रायसे कहा है, क्योंकि मन्त्रमे वेद और

* देखिये प्रश्नोपनिषद् ६ । ७

पद-भाष्य

सहपाठेन समीकरणात्तपःप्रभृतीनाम् । न हि वेदानां शिक्षाद्यङ्गानां च साक्षाद्ब्रह्मविद्याशेषत्वं तत्सहकारिसाधनत्वं वा सम्भवति ।

उनके अंगोंके साथ तप आदिका पाठ करके उनसे इनकी समानता प्रकट की गयी है । ब्रह्मविद्याके साक्षात् शेषभूत अथवा सहकारी साधन वेद और उनके अंग शिक्षा आदि भी नहीं हो सकते । [अतः इनके साथ पाठ होनेसे तप आदि भी विद्याके अंग या साधन सिद्ध नहीं होते] ।

सहपठितानामपि यथायोगं विभज्य विनियोगः स्यादिति चेत्; यथा सूक्तवाकानुमन्त्रणमन्त्राणां यथादैवतं विभागः, तथा तपोदमकर्मसत्यादीनामपि ब्रह्मविद्याशेषत्वं तत्सहकारिसाधनत्वं चेति कल्प्यते । वेदानां तदङ्गानां चार्थप्रकाशकत्वेन

शङ्का—किन्तु [वेद-वेदाङ्गोंके] साथ-साथ पढ़े हुए होनेपर भी तप आदिका भी सम्बन्धके अनुसार विभाग करके प्रयोग किया जा सकता है । अर्थात् जिस प्रकार सूक्तवाकरूप अनुमन्त्रण मन्त्रोंका उनके देवताओंके अनुसार विभाग किया जाता है* उसी प्रकार तप दम कर्म और सत्यादिको भी ब्रह्मविद्याका शेषभूत अथवा सहकारी साधन माना जा सकता है । वेद और उनके अङ्ग अर्थके प्रकाशक होनेसे कर्म और

---

* अग्निरिद हविरजुषतावीवृधत महो ज्यायोऽकृत ।
अग्नीषोमाविद हविरजुषेतामवीवृधेतां महो ज्यायोऽक्राताम् ॥

इत्यादि सूक्तवाकमें ही समस्त यज्ञोंकी समाप्तिपर देवताओंका अनुमन्त्रण किया जाता है । यद्यपि इस सूक्तवाकमें बहुतसे देवताओंका निर्देश किया गया है; तो भी जिस यज्ञमें जिस देवताका आवाहन किया जाता है उसीके विसर्जनमें समर्थ होनेके कारण जिस प्रकार इस सूक्तवाकका विनियोग होता है उसी प्रकार तप आदिका भी विद्याके शेषरूपसे विनियोग हो जायगा ।

पद-भाष्य

कर्मात्मज्ञानोपायत्वमित्येवं ह्ययं विभागो युज्यते अर्थसम्बन्धोपपत्तिसामर्थ्यादिति चेत् ।

न; अयुक्तेः । न ह्ययं विभागो घटनां प्राञ्चति । न हि सर्वक्रियाकारकफलभेदबुद्धितिरस्कारिण्या ब्रह्मविद्यायाः शेषापेक्षा सहकारिसाधनसम्बन्धो वा युज्यते । सर्वविषयव्यावृत्तप्रत्यगात्मविषयनिष्ठत्वाच्च ब्रह्मविद्यायास्तत्फलस्य च निःश्रेयसस्य । "मोक्षमिच्छन्सदा कर्म त्यजेदेव ससाधनम् । त्यजतैव हि तज्ज्ञेयं त्यक्तुः प्रत्यक्परं पदम्" तस्मात्कर्मणां सहकारित्वं कर्मशेषापेक्षा वा न ज्ञानस्योपपद्यते । ततोऽसदेव सूक्तवाकानुमन्त्रणवद्यथायोगं विभाग इति ।

आत्मज्ञानके साधन हैं—इस प्रकार अर्थके सम्बन्धकी उपपत्तिके सामर्थ्यसे उनका ऐसा विभाग उचित ही है । ऐसा मानें तो ?

समाधान—युक्तिसङ्गत न होनेके कारण ऐसा मानना ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा विभाग प्रस्तुत प्रसंगके अनुकूल नहीं है । सब प्रकारकी क्रिया कारक फल और भेदबुद्धिका तिरस्कार करनेवाली ब्रह्मविद्यामें किसी प्रकारके शेषकी अपेक्षा अथवा उचित सहकारी साधनका सम्बन्ध मानना ठीक नहीं है, क्योंकि ब्रह्मविद्या और उसका फल निःश्रेयस—ये सब प्रकारके विषयोंसे निवृत्त होकर प्रत्यगात्मा-रूप विषयमें स्थित होनेवाले हैं । [कहा भी है] "मोक्षकी इच्छा करनेवाला पुरुष सर्वदा साधनसहित कर्मोंको त्याग दे । त्याग करनेसे ही त्यागीको अपने प्रत्यगात्मरूप परमपदका ज्ञान हो सकता है" । अतः कर्मको ज्ञानकी सहकारिता अथवा ज्ञानको कर्मका शेष होनेकी अपेक्षा सम्भव नहीं है । अतः सूक्तवाकरूप अनुमन्त्रणके समान इन तप आदिका भी सम्बन्धके अनुसार विभाग हो सकता है—ऐसा विचार मिथ्या ही है । अतः [शिष्यके उपर्युक्त]

पद-भाष्य

तस्मादवधारणार्थैव प्रश्नप्रतिवचनस्योपपद्यते । एतावत्येवेयम् उपनिषदुक्तान्यनिरपेक्षा अमृतत्वाय ॥ ७ ॥

प्रश्नका जो उत्तर है वह [उपदेशकी समाप्तिका] अवधारण करनेके लिये है—ऐसा मानना ही ठीक है। अर्थात् अमरत्व-प्राप्तिके लिये किसी अन्य साधनकी अपेक्षासे रहित इतनी ही उपनिषद् कही गयी है ॥ ७ ॥

विद्याप्राप्तिके साधन

तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा वेदाः सर्वाङ्गानि सत्यमायतनम् ॥ ८ ॥

उस (ब्राह्मी उपनिषद्) की तप, दम, कर्म तथा वेद और सम्पूर्ण वेदांग—ये प्रतिष्टा है एवं सत्य आयतन है ॥ ८ ॥

पद-भाष्य

यामिमां ब्राह्मीमुपनिषदं तवाग्रेऽब्रूमेति तस्यै तस्या उक्ताया उपनिषदः प्राप्त्युपायभूतानि तपआदीनि । तपः कायेन्द्रियमनसां समाधानम् । दमः उप-

तुम्हारे सामने जिस ब्राह्मी उपनिषद्का वर्णन किया है उस पूर्वकथित उपनिषद्की प्राप्तिके उपायभूत तप आदि हैं । शरीर, इन्द्रिय और मनके समाधानका नाम तप है । दम उपशम (विषयोंसे निवृत्त होने) को कहते

वाक्य-भाष्य

तस्या वक्ष्यमाणाया उपनिषदः तपो ब्रह्मचर्यादि दम उपशमः कर्म अग्निहोत्रादीत्येतानि प्रतिष्ठाश्रयः। एतेषु हि सत्सु ब्राह्म्युपनिषत् प्रतिष्ठिता भवति । वेदाश्चत्वारोऽङ्गानि च सर्वाणि । प्रतिष्ठेत्यनु-

उस आगे कही जानेवाली उपनिषद्की तप—ब्रह्मचर्यादि, दम—इन्द्रियनिग्रह तथा अग्निहोत्रादि कर्म—ये सब प्रतिष्ठा—आश्रय है । इनके होनेपर ही ब्राह्मी उपनिषद् प्रतिष्ठित हुआ करती है । चारो वेद तथा सम्पूर्ण वेदाङ्ग भी प्रतिष्ठा ही हैं । इस प्रकार [वेदाः सर्वाङ्गानिके आगे] 'प्रतिष्ठा'

पद-भाष्य

शमः । कर्म अग्निहोत्रादि । एतैर्हि संस्कृतस्य सत्त्वशुद्धिद्वारा तत्त्वज्ञानोत्पत्तिर्दृष्टा । दृष्टा ह्यमृदितकल्मषस्योक्तेऽपि ब्रह्मण्यप्रतिपत्तिर्विपरीतप्रतिपत्तिश्च, यथेन्द्रविरोचनप्रभृतीनाम् ।

तस्मादिह वातीतेषु वा बहुषु जन्मान्तरेषु तपआदिभिः कृतसत्त्वशुद्धेर्ज्ञानं समुत्पद्यते यथाश्रुतम्; "यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ । तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः" (श्वे० उ० ६ । २३) इति मन्त्रवर्णात् । "ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां

है । और कर्म अग्निहोत्रादि हैं । इनके द्वारा संस्कारयुक्त हुए पुरुषोंको ही चित्तशुद्धिद्वारा तत्त्वज्ञानकी उत्पत्ति होती देखी गयी है । जिनका मनोमल निवृत्त नहीं हुआ है उन पुरुषोंको तो उपदेश दिया जानेपर भी ब्रह्मके विषयमें अज्ञान अथवा विपरीत ज्ञान होता देखा गया है, जैसे इन्द्र और विरोचन आदिको ।

अतः इस जन्ममें अथवा बीते हुए अनेकों जन्मोंमें जिनका चित्त तप आदिसे शुद्ध हो गया है उन्हें ही श्रुत्युक्त ज्ञान उत्पन्न होता है । "जिसकी भगवान्‌में अत्यन्त भक्ति है और जैसी भगवान्‌में है वैसी ही गुरुमें भी है उस महात्माको ही ये पूर्वोक्त विषय प्रकाशित होते हैं" इस मन्त्रवर्णसे तथा "पापकर्मोंके

वाक्य-भाष्य

वर्तते । ब्रह्माश्रया हि विद्या । सत्यं यथाभूतवचनमपीडाकरम् आयतनं निवासः सत्यवत्सु हि सर्वं यथोक्तमायतन इवावस्थितम् ॥ ८ ॥

पदकी अनुवृत्ति की जाती है । क्योंकि विद्या ब्रह्म (वेद) के ही आश्रय रहनेवाली है । सत्य अर्थात् दूसरेको पीडा न पहुँचानेवाला यथार्थ वचन आयतन—निवासस्थान है, क्योंकि सत्यवान् पुरुषोंमें ही उपर्युक्त साधन आयतनके समान स्थित है ॥ ८ ॥

पद-भाष्य

क्षयात्पापस्य कर्मणः" (महा० शा० २०४ । ८) इति स्मृतेश्च ।

इतिशब्दः उपलक्षणत्वप्रदर्शनार्थः । इति एवमाद्यन्यदपि ज्ञानोत्पत्तेरुपकारकम् "अमानित्वमदम्भित्वम्"(गीता १३।७) इत्याद्युपदर्शितं भवति । प्रतिष्ठा पादौ पादाविवास्याः, तेषु हि सत्सु प्रतितिष्ठति ब्रह्मविद्या प्रवर्तते, पद्भ्यामिव पुरुषः । वेदाश्चत्वारः सर्वाणि चाङ्गानि शिक्षादीनि षट् कर्मज्ञानप्रकाशकत्वाद्वेदानां तद्रक्षणार्थत्वाद् अङ्गानां प्रतिष्ठात्वम् ।

अथवा, प्रतिष्ठाशब्दस्य पादरूपकल्पनार्थत्वाद्वेदास्त्वितराणि सर्वाङ्गानि शिरआदीनि । अस्मिन् पक्षे शिक्षादीनां वेदग्रहणेनैव ग्रहणं कृतं प्रत्येतव्यम् ।

क्षीण होनेपर पुरुषोंको ज्ञान उत्पन्न होता है" इस स्मृतिसे भी यही प्रमाणित होता है ।

[मूल मन्त्रमें] 'इति' शब्द [अन्य साधनोंका] उपलक्षणत्व प्रदर्शित करनेके लिये है । अर्थात् इसी प्रकार ज्ञानकी उत्पत्ति करनेवाले "अमानित्व अदम्भित्व" आदि अन्य साधन भी प्रदर्शित हो जाते हैं । 'प्रतिष्ठा' चरणोंको कहते हैं अर्थात् ये चरणोंके समान इसके आधारभूत हैं । जिस प्रकार पुरुष अपने चरणोंपर स्थित होकर व्यापार करता है उसी प्रकार इन साधनोंके रहते हुए ही ब्रह्मविद्या स्थित और प्रवृत्त होती है । ऋक् आदि चार वेद और शिक्षा आदि छः अङ्ग [भी प्रतिष्ठा] हैं । कर्म और ज्ञानके प्रकाशक होनेके कारण वेदोंको और उनकी रक्षाके कारणभूत होनेसे वेदाङ्गोंको ब्रह्मविद्याकी प्रतिष्ठा कहा गया है ।

अथवा 'प्रतिष्ठा' शब्दकी चरणरूपसे कल्पना की गयी है; इसलिये वेद उस ब्रह्मविद्याके शिर आदि अन्य सम्पूर्ण अङ्ग हैं । इस पक्षमें शिक्षा आदिको वेदका ग्रहण करनेसे ही ग्रहण किया समझ लेना चाहिये ।

पद-भाष्य

अङ्गिनि हि गृहीतेऽङ्गानि गृहीतानि एव भवन्ति, तदायत्तत्वादङ्गानाम् ।

क्योंकि अङ्गीके अधीन ही अङ्ग होते है इसलिये अङ्गीके गृहीत होनेपर उसके अङ्ग भी गृहीत हो ही जाते है ।

सत्यम् आयतनं यत्र तिष्ठत्युपनिषत् तदायतनम् । सत्यमिति अमायिता अकौटिल्यं वाङ्मनःकायानाम् । तेषु ह्याश्रयति विद्या ये अमायाविनः साधवः, नासुरप्रकृतिषु मायाविषु; "न येषु जिह्ममनृतं न माया च" (प्र० उ० १ । १६) इति श्रुतेः । तस्मात्सत्यमायतनमिति कल्प्यते । तपआदिषु एव प्रतिष्ठात्वेन प्राप्तस्य सत्यस्य पुनरायतनत्वेन ग्रहणं साधनातिशयत्वज्ञापनार्थम् । "अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम् । अश्वमेधसहस्राच्च सत्यमेकं विशिष्यते" (विष्णुस्मृ० ८) इति स्मृतेः ॥ ८ ॥

सत्य आयतन है । जहाँ वह उपनिषद् स्थित होती है वही उसका आयतन है । वाणी, मन और शरीरकी अमायिकता यानी अकुटिलताका नाम 'सत्य' है । जो लोग अमायावी और साधु (शुद्धस्वभाव) होते है उन्हींमें ब्रह्मविद्या आश्रय लेती है, आसुरी प्रकृतिवाले मायावियोमे नहीं, जैसा कि "जिनमे कुटिलता, मिथ्या और माया नही है" इत्यादि श्रुतिसे सिद्ध होता है । अतः सत्य उसका आयतन है—ऐसी कल्पना की जाती है । तप आदिमे ही प्रतिष्ठारूपसे प्राप्त हुए सत्यको फिर आयतनरूपसे ग्रहण करना उसका अतिशय साधनत्व प्रदर्शित करनेके लिये है । "सहस्र अश्वमेध और सत्य तराजूमे रखे जानेपर सहस्र अश्वमेधोकी अपेक्षा अकेला सत्य ही विशेष ठहरता है" इस स्मृतिसे भी यही प्रमाणित होता है ॥ ८ ॥

ग्रन्थावगाहनका फल

यो वा एतामेवं वेदापहत्य पाप्मानमनन्ते स्वर्गे लोके ज्येये प्रतितिष्ठति प्रतितिष्ठति ॥ ९ ॥

जो निश्चयपूर्वक इस उपनिषद्को इस प्रकार जानता है वह पापको क्षीण करके अनन्त और महान् स्वर्गलोकमे प्रतिष्ठित होता है, प्रतिष्ठित होता है ॥ ९ ॥

पद-भाष्य

यो वै एतां ब्रह्मविद्याम् 'केनेपितम्' इत्यादिना यथोक्ताम् एवं महाभागाम् 'ब्रह्म ह देवेभ्यः' इत्यादिना स्तुतां सर्वविद्याप्रतिष्ठां वेद 'अमृतत्वं हि विन्दते' इत्युक्तमपि ब्रह्मविद्याफलमन्ते निगमयति—

'केनेपितम्' इत्यादि वाक्यद्वारा कही हुई तथा 'ब्रह्म ह देवेभ्यः' आदि आख्यायिकाद्वारा स्तुत इस महाभागा और सम्पूर्ण विद्याओंकी आश्रयभूता ब्रह्मविद्याको जो पुरुष जानता है वह पापको छोड़कर अर्थात् अविद्या, कामना और कर्मरूप संसारके बीजको त्यागकर अनन्त—जिसका कोई पार नहीं है उस स्वर्गलोकमे अर्थात् सुखस्वरूप

वाक्य-भाष्य

तामेतां तपआद्यङ्गां तत्प्रतिष्ठां ब्राह्मीमुपनिषदं सायतनामात्मज्ञानहेतुभूतामेवं यथावद्यो वेद अनुवर्ततेऽनुतिष्ठति; तस्यैतत्फलम् आह—अपहत्य पाप्मानम् अपक्षीय धर्माधर्मावित्यर्थः अनन्तेऽपारेऽविद्यमानान्ते स्वर्गे लोके सुखप्राये निर्दुःखात्मनि

तप आदि अंगोंवाली और उन्हींपर प्रतिष्ठित इस ब्राह्मी उपनिषद्को, जो कि आत्मज्ञानकी हेतुभूत है, जो उसके आयतनके सहित इस प्रकार यथावत् जानता है—जो उसका अनुवर्तन यानी अनुष्ठान करता है उसके लिये यह फल बतलाया गया है। वह पापको क्षीण करके अर्थात् धर्म और अधर्मका क्षय करके जिसका अन्त न हो उस स्वर्गलोकमे अर्थात् दुःखरहित आनन्दप्राय और अनन्त—अपार अर्थात्

पद-भाष्य

अपहत्य पाप्मानम् अविद्याकामकर्मलक्षणं संसारबीजं विधूय अनन्ते अपर्यन्ते स्वर्गे लोके सुखात्मके ब्रह्मणीत्येतत् । अनन्ते इति विशेषणान्न त्रिविष्टपे अनन्तशब्द औपचारिकोऽपि स्याद् इत्यत आह—ज्येये इति । ज्येये ज्यायसि सर्वमहत्तरे स्वात्मनि मुख्ये एव प्रतितिष्ठति । न पुनः संसारमापद्यत इत्यभिप्रायः ॥९॥

ब्रह्ममे, जो ज्येय—बड़ा अर्थात् सबसे महान् है उस अपने मुख्य आत्मामें स्थित हो जाता है। तात्पर्य यह है कि वह फिर संसारको प्राप्त नहीं होता । 'अमृतत्वं हि विन्दते' इस वाक्यद्वारा पहले ब्रह्मविद्याका फल कह भी दिया है, तो भी इस वाक्यद्वारा उसका अन्तमे फिर उपसंहार करते है। 'अनन्त' ऐसा विशेषण होनेके कारण 'स्वर्गे लोके' से देवलोक नही समझना चाहिये; क्योकि उसमे भी उपचारसे 'अनन्त' शब्दकी प्रवृत्ति हो सकती है इसलिये 'ज्येये' यह विशेषण दिया गया है ॥ ९ ॥

इति चतुर्थः खण्डः ॥ ४ ॥

केनोपनिषत्पदभाष्यम्

सम्पूर्णम्

वाक्य-भाष्य

परे ब्रह्मणि ज्येये महति सर्वमहत्तरे प्रतितिष्ठति सर्ववेदान्तवेद्यं ब्रह्मात्मत्वेनावगम्य तदेव ब्रह्म प्रतिपद्यत इत्यर्थः ॥ ९ ॥

ज्येष्ठ—महान् यानी सबसे बड़े परब्रह्ममे प्रतिष्ठित हो जाता है। अर्थात् सम्पूर्ण वेदान्तवाक्योसे वेद्य ब्रह्मको आत्मभावसे जानकर उसी ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है ॥ ९ ॥

इति चतुर्थः खण्डः ॥ ४ ॥

केनोपनिषद्वाक्यभाष्यम्

सम्पूर्णम्
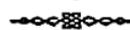
शान्तिपाठ

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि। सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु। तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

॥ हरिः ॐ तत्सत् ॥

श्रीहरिः

मन्त्राणां वर्णानुक्रमणिका

प्राक्कथन

कठोपनिषद् कृष्णयजुर्वेदकी कठशाखाके अन्तर्गत है। इसमें यम और नचिकेताके संवादरूपसे ब्रह्मविद्याका बड़ा विशद वर्णन किया गया है। इसकी वर्णनशैली बड़ी ही सुबोध और सरल है। श्रीमद्भगवद्गीतामें भी इसके कई मन्त्रोंका कहीं शब्दतः और कहीं अर्थतः उल्लेख है। इसमें, अन्य उपनिषदोंकी भाँति जहाँ तत्त्वज्ञानका गम्भीर विवेचन है वहाँ नचिकेताका चरित्र पाठकोंके सामने एक अनुपम आदर्श भी उपस्थित करता है। जब वे देखते हैं कि पिताजी जीर्ण-शीर्ण गौएँ तो ब्राह्मणोंको दान कर रहे हैं और दूध देनेवाली पुष्ट गायें मेरे लिये रख छोड़ी हैं तो बालावस्था होनेपर भी उनकी पितृभक्ति उन्हें चुप नहीं रहने देती और वे बालसुलभ चापल्य प्रदर्शित करते हुए वाजश्रवासे पूछ बैठते हैं—'तत कस्मै मां दास्यसि' (पिताजी, आप मुझे किसको देंगे ?) उनका यह प्रश्न ठीक ही था, क्योंकि विश्वजित् यागमें सर्वस्वदान किया जाता है, और ऐसे सत्पुत्रका दान किये विना वह पूर्ण नहीं हो सकता था। वस्तुतः सर्वस्वदान तो तभी हो सकता है जब कोई वस्तु 'अपनी' न रहे और यहाँ अपने पुत्रके मोहसे ही ब्राह्मणोंको निकम्मी और निरर्थक गौएँ दी जा रही थीं; अतः इस मोहसे पिताका उद्धार करना उनके लिये उचित ही था।

इसी तरह कई बार पूछनेपर जब वाजश्रवाने खीझकर कहा कि मैं तुझे मृत्युको दूँगा, तो उन्होंने यह जानकर भी कि पिताजी क्रोधवश ऐसा कह गये हैं, उनके कथनकी उपेक्षा नहीं की। महाराज दशरथने वस्तुस्थितिको बिना समझे ही कैकेयीको वचन दिये थे; किन्तु भगवान् रामने उनकी गम्भीरताका निर्णय करनेकी कोई आवश्यकता नही समझी। जिस समय द्रौपदीके स्वयंवरमें अर्जुनने मत्स्यवेध किया और पाण्डवलोग द्रौपदीको लेकर अपने निवास-स्थानपर आये उस समय माता कुन्तीने बिना जाने-बूझे घरके भीतरसे ही कह दिया था कि 'सब भाई मिलकर भोगो'। माताकी यह उक्ति सर्वथा लोकविरुद्ध और भ्रान्तिजनित थी, परन्तु मातृभक्त पाण्डवोंको उसका अक्षरशः पालन ही अभीष्ट हुआ। ऐसा ही प्रसंग नचिकेताके सामने उपस्थित हुआ और उन्होंने भी अपने पिताके वचनकी रक्षाके लिये उनके मोहजनित वात्सल्य और अपने ऐहिक जीवनको सत्यकी वेदीपर निछावर कर दिया।

हमारे बहुत-से भाइयोंको इस प्रकारके अनभिप्रेत और अनर्गल कथनकी मर्यादा रखनेके लिये इतना सरदर्द मोल लेना कोरी भूल और भोलापन ही जान पड़ेगा। किन्तु उन्हे इसका रहस्य समझनेके लिये कुछ गम्भीर विचारकी आवश्यकता है। योगदर्शनके साधन-पादमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पाँच यमोंका नाम-निर्देश करनेके अनन्तर ही कहा है—'जातिदेशकाल-समयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्' (यो० सू० २।३१) अर्थात् जाति, देश, काल और कर्त्तव्यानुरोधकी अपेक्षा न करते हुए इनका सर्वथा पालन करना महाव्रत है तथा जाति, देश और कालादिकी अपेक्षासे पालन करना अल्पव्रत कहलाता है। इनमें अल्पव्रतमें ही लोकाचार, सुविधा और हानि-लाभ आदिके विचारकी गुञ्जाइश है। उसे हम व्यावहारिक धर्म कह सकते हैं। वह किसी विशेष सिद्धिका कारण नहीं हो सकता; सिद्धियोंकी प्राप्ति तो महाव्रतसे ही होती है। योगदर्शनमें इससे आगे जो भिन्न-भिन्न यम-नियमादिकी प्रतिष्ठासे भिन्न-भिन्न सिद्धियोंकी प्राप्ति बतलायी है वह महाव्रतीको ही हो सकती है। इस प्रकारका महाव्रत, व्यवहारी लोगोंकी दृष्टिमें

भले ही व्यर्थ आग्रह और मानसिक संकीर्णता जान पड़े तथापि वह परिणाममें सर्वदा मंगलमय ही होता है। भगवान् रामका वनवास, परशुरामजीका मातृवध, पुरुका यौवनदान, तथा पाँच पाण्डवोंका एक ही द्रौपदीके साथ पाणिग्रहण करना—ये सब प्रसङ्ग इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं। ऐसा ही नचिकेताके साथ भी हुआ। उनका यमलोक-गमन उन्हींके लिये नहीं उनके पिताके लिये और सारे संसारके लिये भी कल्याणकर ही हुआ।

यमलोकमें पहुँचनेपर भी जबतक यमराजसे उनकी भेंट नहीं हुई तबतक उन्होंने अन्न-जल कुछ भी ग्रहण नहीं किया। इससे भी उनकी प्रौढ सत्यनिष्ठाका पता लगता है। उनका शरीर यमराजको दान दिया जा चुका था, अतः अब उसपर यमराजका ही पूर्ण अधिकार था; उनका तो सबसे पहला कर्तव्य यही था कि वे उसे धर्मराजको सौंप दें। इसीसे वे भोजनाच्छादनादिकी चिन्ता छोड़कर यमराजके द्वारपर ही पड़े रहे। तीन दिन पश्चात् जब यमराज आये तो उन्होंने उन्हें एक-एक दिनके उपवासके लिये एक-एक वर दिया। इससे अतिथिसत्कारका महत्त्व प्रकट होता है। अतिथिकी उपेक्षा करनेसे कितनी हानि होती है—यह बात वहाँ (अ० १ व० १ मं० ७, ८ में) स्पष्टतया बतलायी गयी है।

इसपर नचिकेताने यमराजसे जो तीन वर माँगे हैं उनके क्रममें भी एक अद्भुत रहस्य है। उनका पहला वर था पितृपरितोष। वे पिताके सत्यकी रक्षाके लिये उनकी इच्छाके विरुद्ध यमलोकको चले आये थे। इससे उनके पिता स्वभावतः बहुत खिन्न थे। इसलिये उन्हें सबसे पहले यही आवश्यक जान पड़ा कि उन्हें शान्ति मिलनी चाहिये। यह नियम है कि यदि हमारे कारण किसी व्यक्तिको खेद हो तो, जबतक हम उसका खेद निवृत्त न कर देंगे, हमें भी शान्ति नहीं मिल सकती। यह नियम मनुष्यमात्रके लिये समान है; और यहाँ तो स्वयं उनके पूज्य पिताको ही खेद था; इसलिये सबसे पहले उनकी शान्ति अभीष्ट होनी ही चाहिये थी। यह पितृपरितोष उनकी दृष्ट शान्तिका कारण था, इसलिये सबसे पहले उन्होंने यही वर माँगा।

लौकिक शान्तिके पश्चात् मनुष्यको स्वभावसे ही पारलौकिक सुखकी इच्छा होती है; यहाँतक कि जब वह अधिक प्रबल हो जाती है तो वह ऐहिक सुखकी कुछ भी परवा नहीं करता। इसीलिये नचिकेताने भी दूसरे वरसे पारलौकिक सुख यानी स्वर्गलोककी प्राप्तिका साधनभूत अग्निविज्ञान माँगा; किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि वे स्वर्गसुखके इच्छुक थे। जिस प्रकार उनके पहले वरमें पिताकी शान्तिकामना थी उसी प्रकार इसमें मनुष्यमात्र-की हितचिन्ता थी। सबके हितमें उनका भी हित था ही। वे स्वयं स्वर्गसुखके लिये लालायित नहीं थे। यह बात उस समय स्पष्ट हो जाती है जब यमराजके यह कहनेपर कि—

ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके सर्वान्कामा्ँश्छन्दतः प्रार्थयस्व।
इमा रामाः सरथाः सतूर्या न हीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः।
आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः॥
(१।१।२५)

वे कहते हैं—

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते॥२६॥
न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्त्वा।
जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं वरस्तु मे वरणीयः स एव॥२७॥
अजीर्यताममृतानामुपेत्य जीर्यन्मर्त्यः क्वधःस्थः प्रजानन्।
अभिध्यायन्वर्णरतिप्रमोदानतिदीर्घे जीविते को रमेत॥२८॥
यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो यत्साम्पराये महति ब्रूहि नस्तत्।
योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टो नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते॥२९॥
(अ० १ व० १)

उपर्युक्त उद्धरणोंसे उनकी तीव्र जिज्ञासा और आत्मदर्शनकी अनवरत पिपासा स्पष्ट प्रतीत होती है। इसीसे प्रेरित होकर उन्होंने

तृतीय वर माँगा था । यमराजने उनकी जिज्ञासाकी परीक्षाके लिये उन्हें तरह-तरहके प्रलोभन दिये और बड़े-बड़े मनोमोहक सब्जबाग दिखलाये परन्तु आत्मामृतके लिये लालायित नचिकेताने उनपर कोई दृष्टि न देकर यही कहा 'वरस्तु मे वरणीयः स एव' 'नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते' इत्यादि ।

इस प्रकार, जब यमराजने देखा कि वे लौकिक और पारलौकिक भोगोंसे सर्वथा उदासीन हैं, उनमें पूर्ण विवेक विद्यमान है, वे शम-दमादि साधनोंसे सर्वथा सम्पन्न हैं और उनमे तीव्र मुमुक्षाकी प्रच्छन्न अग्नि तेज़ीसे धधक रही है तो उन्हें उनकी शान्तिके लिये ज्ञानामृतकी वर्षा करनी पड़ी । वह ज्ञानवर्षा ही सम्पूर्ण लोकोंका कल्याण करनेके लिये आज भी कठोपनिषद्के रूपमें विद्यमान है । परन्तु उससे विशुद्ध बोधरूप अंकुर तो उसी हृदयमें प्रस्फुटित हो सकता है जो नचिकेताके समान साधनचतुष्टयसम्पन्न है। परम उदार पयोधर जल तो सभी जगह बरसाते हैं परन्तु उससे परिणाम भिन्न-भिन्न भूमियोंकी योग्यतानुसार भिन्न-भिन्न होता है। ठीक यही बात शास्त्रोपदेशके विषयमें भी है । शास्त्रकृपा और ईश्वरकृपा तो सभीपर समान है परन्तु आत्मकृपाकी न्यूनाधिकताके कारण उससे होनेवाले परिणामोंमें अन्तर रहता है ।

हम उस अनुपम अमृतका पानकर अमर जीवन प्राप्त कर सकें—ऐसी तीव्र आकांक्षासे हमें उससे लाभान्वित होनेकी योग्यता प्राप्त करनी चाहिये, क्योंकि 'इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः' (के० उ० २ । ५) इस श्रुतिके अनुसार इस मानवजीवनका परमलाभ आत्मामृतकी प्राप्ति ही है । इसलिये इसकी प्राप्ति ही हमारा प्रथम कर्तव्य है । भगवान्‌से प्रार्थना है कि वे हमें उसकी प्राप्तिकी योग्यता प्रदान करें ।

अनुवादक

श्रीहरिः

विषय-सूची

तृतीया वल्ली

द्वितीय अध्याय

प्रथमा वल्ली

द्वितीया वल्ली

तृतीया वल्ली

यम और नचिकेता

ॐ

तत्सद्ब्रह्मणे नमः

कठोपनिषद्

मन्त्रार्थ, शाङ्करभाष्य और भाष्यार्थसहित

यस्मिन् सर्वं यतः सर्वं यः सर्वं सर्वदृक्तथा ।

सर्वभावपदातीतं स्वात्मानं तं स्मराम्यहम् ॥

शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै ।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

वह परमात्मा हम (आचार्य और शिष्य) दोनोंकी साथ-साथ रक्षा करे । हम दोनोंका साथ-साथ पालन करें । हम साथ-साथ विद्या-सम्बन्धी सामर्थ्य प्राप्त करें । हम दोनोका पढा हुआ तेजस्वी हो । हम द्वेष न करे । त्रिविध तापकी शान्ति हो ।

सम्बन्ध-भाष्य

ॐ नमो भगवते वैवस्वताय मृत्यवे ब्रह्मविद्याचार्याय नचिकेतसे च ।

ॐ ब्रह्मविद्याके आचार्य सूर्य-पुत्र भगवान् यम और नचिकेताको नमस्कार है ।

अथ काठकोपनिषद्वल्लीनां सुखार्थप्रबोधनार्थम् अल्पग्रन्था वृत्तिरारभ्यते ।

अब कठोपनिषद्की वल्लियोंको सुगमतासे समझानेके लिये इस संक्षिप्त वृत्तिका आरम्भ किया जाता है ।

उपनिषच्छब्दार्थ-निरुक्ति

सदेर्धातोर्विशरणगत्यवसादनार्थस्योपनिपूर्वस्य क्विप्प्रत्ययान्तस्य रूपमुपनिषद् इति । उपनिषच्छब्देन च व्याचिख्यासितग्रन्थप्रतिपाद्यवेद्यवस्तुविषया विद्योच्यते । केन पुनरर्थयोगेन उपनिषच्छब्देन विद्योच्यत इत्युच्यते ।

विशरण (नाश), गति और अवसादन (शिथिल करना)—इन तीन अर्थोंवाली तथा 'उप' और 'नि' उपसर्गपूर्वक एवं 'क्विप्' प्रत्ययान्त 'सद्' धातुका 'उपनिषद्' यह रूप बनता है । उपनिषद् शब्दसे, जिस ग्रन्थकी हम व्याख्या करना चाहते हैं उसके प्रतिपाद्य और वेद्य ब्रह्मविषयक विद्याका प्रतिपादन किया जाता है । किस अर्थका योग होनेके कारण उपनिषद् शब्दसे विद्याका कथन होता है, सो बतलाते हैं ।

ये मुमुक्षवो दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णाः सन्त उपनिषच्छब्दवाच्यां वक्ष्यमाणलक्षणां विद्याम् उपसद्योपगम्य तन्निष्ठतया निश्चयेन शीलयन्ति तेषामविद्यादेः

जो मोक्षकामी पुरुष लौकिक और पारलौकिक विषयोंसे विरक्त होकर उपनिषद् शब्दकी वाच्य तथा आगे कहे जानेवाले लक्षणोंसे युक्त विद्याके समीप जाकर अर्थात् उसे प्राप्त कर उसीकी निष्ठासे निश्चय-पूर्वक उसका परिशीलन करते हैं

संसारबीजस्य विशरणाद्धिंसनाद् विनाशनादित्यनेनार्थयोगेन विद्या उपनिषदित्युच्यते। तथा च वक्ष्यति—"निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते" (क० उ० १। ३। १५) इति।

उनके अविद्या आदि संसारके बीजका विशरण—हिंसन अर्थात् विनाश करनेके कारण इस अर्थके योगसे ही 'उपनिषद्' शब्दसे वह विद्या कही जाती है। ऐसा ही आगे श्रुति कहेगी भी कि "उसे साक्षात् जानकर पुरुष मृत्युके मुखसे छूट जाता है।"

पूर्वोक्तविशेषणान्मुमुक्षून्वा परं ब्रह्म गमयतीति ब्रह्मगमयितृत्वेन योगाद्ब्रह्मविद्योपनिषत्। तथा च वक्ष्यति—"ब्रह्म प्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्युः"(क०उ० २।३।१८) इति।

अथवा पूर्वोक्त विशेषणोंसे युक्त मुमुक्षुओंको ब्रह्मविद्या परब्रह्मके पास पहुँचा देती है—इस प्रकार ब्रह्मके पास पहुँचानेवाली होनेके कारण इस अर्थके योगसे भी ब्रह्मविद्या 'उपनिषद्' है। ऐसा ही "ब्रह्मको प्राप्त हुआ पुरुष विरज (शुद्ध) और विमृत्यु (अमर) हो गया" इस वाक्यसे श्रुति आगे कहेगी भी।

लोकादिर्ब्रह्मजज्ञो योऽग्निस्तद्विषयाया विद्याया द्वितीयेन वरेण प्रार्थ्यमानायाः स्वर्गलोकफलप्राप्तिहेतुत्वेन गर्भवासजन्मजराद्युपद्रववृन्दस्य लोकान्तरे पौनःपुन्येन प्रवृत्तस्यावसादयितृत्वेन शैथिल्यापादनेन धात्वर्थ-

जो अग्नि भूः भुवः आदि लोकोंसे पूर्वसिद्ध, ब्रह्मासे उत्पन्न और ज्ञाता है उससे सम्बन्ध रखनेवाली विद्या, जो कि दूसरे वरसे माँगी गयी है, और स्वर्गलोकरूप फलकी प्राप्तिके कारणरूपसे लोकान्तरोंमें पुनः-पुनः प्राप्त होनेवाले गर्भवास, जन्म और वृद्धावस्था आदि उपद्रवसमूहका अवसादन अर्थात् शैथिल्य करनेवाली है, अतः वह अग्निविद्या भी 'सद्' धातुके

योगाद्गिर्विद्याप्युपनिषदित्युच्यते। तथा च वक्ष्यति—"स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्ते" (क० उ० १।१।१३) इत्यादि।

अर्थके योगसे 'उपनिषद्' कही जाती है। "स्वर्गलोकको प्राप्त होनेवाले पुरुष अमरत्व प्राप्त करते है" ऐसा आगे कहेंगे भी।

ननु चोपनिषच्छब्देनाध्येतारो ग्रन्थमप्यभिलपन्ति। उपनिषदमधीमहेऽध्यापयाम इति च।

शङ्का—किन्तु अध्ययन करनेवाले तो 'उपनिषद्' शब्दसे ग्रन्थका भी उल्लेख करते हैं, जैसे—'हम उपनिषद् पढ़ते है अथवा पढाते है' इत्यादि।

एवं नैष दोषोऽविद्यादिसंसारहेतुविशरणादेः सदिधात्वर्थस्य ग्रन्थमात्रेऽसम्भवाद्विद्यायां च सम्भवात्। ग्रन्थस्यापि तादर्थ्येन तच्छब्दत्वोपपत्तेः, आयुर्वै घृतम् इत्यादिवत्। तस्माद्विद्यायां मुख्यया वृत्त्योपनिषच्छब्दो वर्तते ग्रन्थे तु भक्त्येति।

समाधान—ऐसा कहना भी दोषयुक्त नही है। संसारके हेतुभूत अविद्या आदिके विशरण आदि, जो कि 'सद्' धातुके अर्थ है, ग्रन्थमात्रमे तो सम्भव नही हैं किन्तु विद्यामे सम्भव हो सकते है। ग्रन्थ भी विद्याके ही लिये है; इसलिये वह भी उस शब्दसे कहा जा सकता है; जैसे [आयुवृद्धिमे उपयोगी होनेके कारण] 'घृत आयु ही है' ऐसा कहा जाता है। इसलिये 'उपनिषद्' शब्द विद्यामे मुख्य वृत्तिसे प्रयुक्त होता है तथा ग्रन्थमे गौणी वृत्तिसे।

एवमुपनिषन्निर्वचनेनैव विशिष्टोऽधिकारी विद्यायामुक्तः। विषयश्च विशिष्ट उक्तो विद्यायाः परं

इस प्रकार 'उपनिषद्' शब्दका निर्वचन करनेसे ही विद्याका विशिष्ट अधिकारी बतला दिया गया। तथा विद्याका प्रत्यगात्मस्वरूप पर-

ब्रह्म प्रत्यगात्मभूतम् । प्रयोजनं चास्या उपनिषद आत्यन्तिकी संसारनिवृत्तिर्ब्रह्मप्राप्तिलक्षणा सम्बन्धश्चैवंभूतप्रयोजनेनोक्तः । अतो यथोक्ताधिकारिविषयप्रयोजनसम्बन्धाया विद्यायाः करतलन्यस्तामलकवत् प्रकाशकत्वेन विशिष्टाधिकारिविषयप्रयोजनसम्बन्धा एता वल्ल्यो भवन्ति इत्यतस्ताः यथाप्रतिभानं व्याचक्ष्महे ।

ब्रह्मरूप विशिष्टविषय भी कह दिया । इसी प्रकार इस उपनिषद्का संसारकी आत्यन्तिक निवृत्ति और ब्रह्मप्राप्तिरूप प्रयोजन, तथा इस प्रकारके प्रयोजनसे इसका [साध्य-साधनरूप] सम्बन्ध भी बतला दिया । अतः उपर्युक्त अधिकारी, विषय, प्रयोजन और सम्बन्धवाली विद्याको करामलकवत् प्रकाशित करनेवाली होनेसे ये कठोपनिषद्की वल्लियाँ विशिष्ट अधिकारी, विषय, प्रयोजन और सम्बन्धवाली है, सो हम उनकी यथामति व्याख्या करते हैं ।

प्रथम अध्याय

प्रथमा वल्ली

वाजश्रवसका दान

ॐ उशन्ह वै वाजश्रवसः सर्ववेदसं ददौ । तस्य ह नचिकेता नाम पुत्र आस ॥ १ ॥

प्रसिद्ध है कि यज्ञफलके इच्छुक वाजश्रवाके पुत्रने [विश्वजित् यज्ञमें] अपना सारा धन दे दिया । उसका नचिकेता नामक एक प्रसिद्ध पुत्र था ॥ १ ॥

तत्राख्यायिका विद्यास्तुत्यर्था । उशन्कामयमानः, ह वा इति वृत्तार्थस्मरणार्थौ निपातौ । वाजमन्नं तद्दानादिनिमित्तं श्रवो यशो यस्य स वाजश्रवा रूढितो वा । तस्यापत्यं वाजश्रवसः किल विश्वजिता सर्वमेधेनेजे तत्फलं कामयमानः । स तस्मिन्क्रतौ सर्ववेदसं सर्वस्वं धनं ददौ दत्तवान् ।

यहाँ जो आख्यायिका है वह विद्याकी स्तुतिके लिये है । उशन् अर्थात् कामनावाला । 'ह' और 'वै' ये निपात पहले बीते हुए वृत्तान्तको स्मरण करानेके लिये है । 'वाज' अन्नको कहते हैं; उसके दानादिके कारण जिसका श्रव यानी यश हो उसे वाजश्रवा कहते हैं; अथवा रूढिसे भी यह उसका नाम हो सकता है । उस वाजश्रवाके पुत्र वाजश्रवसने, जिसमें सर्वस्व समर्पण किया जाता है उस विश्वजित् यज्ञद्वारा उसके फलकी इच्छासे यजन किया । उस यज्ञमें उसने सर्ववेदस् यानी अपना

तस्य यजमानस्य ह नचिकेता नाम पुत्रः किलास बभूव ॥ १ ॥ सारा धन दे डाला। कहते हैं, उस यजमानका नचिकेता नामक पुत्र था ॥ १ ॥

तꣳह कुमारꣳसन्तं दक्षिणासु नीयमानासु श्रद्धाविवेश सोऽमन्यत ॥ २ ॥

जिस समय दक्षिणाएँ (दक्षिणास्वरूप गौएँ) ले जायी जा रही थीं, उसमे—यद्यपि अभी वह कुमार ही था—श्रद्धा (आस्तिक्यबुद्धि) का आवेश हुआ । वह सोचने लगा ॥ २ ॥

तं ह नचिकेतसं कुमारं प्रथमवयसं सन्तमप्राप्तजननशक्तिं बालमेव श्रद्धास्तिक्यबुद्धिः पितुर्हितकामप्रयुक्ताविवेश प्रविष्टवती । कस्मिन्काल इत्याह—ऋत्विग्भ्यः सदस्येभ्यश्च दक्षिणासु नीयमानासु विभागेनोपनीयमानासु दक्षिणार्थासु गोषु स आविष्टश्रद्धो नचिकेता अमन्यत ॥ २ ॥

जो कुमार अर्थात् प्रथम अवस्थामे ही स्थित है और जिसे पुत्रोत्पादनकी शक्ति प्राप्त नहीं हुई उस बालक नचिकेतामे श्रद्धाका अर्थात् पिताकी हितकामनासे प्रयुक्त आस्तिक्यबुद्धिका आवेश—प्रवेश हुआ। किस समय प्रवेश हुआ? इसपर कहते है—जिस समय ऋत्विक् और सदस्योके लिये दक्षिणाएँ लायी जा रही थीं अर्थात् दक्षिणाके लिये विभाग करके गौएँ लायी जा रही थीं, उस समय नचिकेताने श्रद्धाविष्ट होकर विचार किया ॥२॥

कथमित्युच्यते—

किस प्रकार विचार किया सो बतलाते है—

नचिकेताकी शङ्का

पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः ।
अनन्दा नाम ते लोकास्तान्स गच्छति ता ददत् ॥

जो जल पी चुकी है, जिनका घास खाना समाप्त हो चुका है, जिनका दूध भी दुह लिया गया है और जिनमे प्रजननशक्तिका भी अभाव हो गया है उन गौओका दान करनेसे वह दाता, जो अनन्द (आनन्द-शून्य) लोक है उन्हीको जाता है ॥ ३ ॥

दक्षिणार्था गावो विशेष्यन्ते पीतमुदकं याभिस्ताः पीतोदकाः, जग्धं भक्षितं तृणं याभिस्ता जग्धतृणाः, दुग्धो दोहः क्षीराख्यो यासां ता दुग्धदोहाः, निरिन्द्रिया अप्रजननसमर्था जीर्णा निष्फला गाव इत्यर्थः । यास्ता एवंभूता गा ऋत्विग्भ्यो दक्षिणाबुद्ध्या ददत्प्रयच्छन्ननन्दा अनानन्दा असुखा नामेत्येतद्ये ते लोकास्तान्स यजमानो गच्छति ॥ ३ ॥

दक्षिणाके लिये लायी हुई गौओका विशेषण बतलाते है; जिन्होने जल पी लिया है वे पीतोदका कहलाती है, जो तृण (घास) खा चुकी है [अर्थात् जिनमे और घास खानेकी शक्ति नही रही है] वे जग्धतृणा है, जिनका क्षीर नामक दोह दुहा जा चुका है वे दुग्धदोहा है तथा निरिन्द्रिया—जो सन्तान उत्पन्न करनेमे असमर्था अर्थात् बूढी और निष्फल गौएँ है उन इस प्रकारकी गौओको दक्षिणा-बुद्धिसे देनेवाला यजमान जो अनन्द अर्थात् सुखहीन लोक है उन्हीको जाता है ॥ ३ ॥

पिता-पुत्र-संवाद

स होवाच पितरं तत कस्मै मां दास्यसीति । द्वितीयं तृतीयं तꣳहोवाच मृत्यवे त्वा ददामीति ॥४॥

तब वह अपने पितासे बोला—'हे तात! आप मुझे किसको देंगे?' इसी प्रकार उसने दुबारा-तिबारा भी कहा। तब पिताने उससे 'मै तुझे मृत्युको दूँगा' ऐसा कहा॥ ४ ॥

तदेवं क्रत्वसम्पत्तिनिमित्तं पितुरनिष्टं फलं मया पुत्रेण सता निवारणीयमात्मप्रदानेनापि क्रतुसम्पत्तिं कृत्वेत्येवं मत्वा पितरम् उपगम्य स होवाच पितरं हे तत तात कस्मै ऋत्विग्विशेषाय दक्षिणार्थं मां दास्यसि प्रयच्छसि इत्येतत् । एवमुक्तेन पित्रोपेक्ष्यमाणोऽपि द्वितीयं तृतीयमप्युवाच कस्मै मां दास्यसि कस्मै मां दास्यसीति । नायं कुमारस्वभाव इति क्रुद्धः सन्पिता तं ह पुत्रं किलोवाच मृत्यवे वैवस्वताय त्वा त्वां ददामीति ॥ ४ ॥

तब इस प्रकार यज्ञकी पूर्णता न होनेके कारण पिताको प्राप्त होनेवाला अनिष्ट फल मुझ-जैसे सत्पुत्रको आत्मबलिदान करके भी निवृत्त करना चाहिये—ऐसा मानकर वह पिताके समीप जाकर बोला—'हे तात! आप मुझे किस ऋत्विग्विशेषको दक्षिणामे देंगे?' इस प्रकार कहनेपर पिताद्वारा बारम्बार उपेक्षा किये जानेपर भी उसने दूसरे-तीसरे बार भी यही बात कही कि 'मुझे किसको देंगे? मुझे किसको देंगे?' तब पिता यह सोचकर कि यह बालकोंके-से स्वभाववाला नही है, क्रोधित हो गया और उस पुत्रसे बोला—'मै तुझे सूर्यके पुत्र मृत्युको देता हूँ' ॥४॥

स एवमुक्तः पुत्र एकान्ते परिदेवयांचकार । कथम्? इत्युच्यते—

पिताद्वारा इस प्रकार कहे जानेपर वह पुत्र एकान्तमे अनुताप करने लगा, किस प्रकार? सो बतलाते है—

बहूनामेमि प्रथमो बहूनामेमि मध्यमः ।
किंस्विद्यमस्य कर्तव्यं यन्मयाद्य करिष्यति ॥ ५ ॥

मैं बहुत-से [शिष्य या पुत्रों] मे तो प्रथम (मुख्य वृत्तिसे) चलता हूँ और बहुतोंमें मध्यम (मध्यम वृत्तिसे) जाता हूँ । यमका ऐसा क्या कार्य है जिसे पिता आज मेरेद्वारा सिद्ध करेंगे ॥५॥

बहूनां शिष्याणां पुत्राणां वैमि गच्छामि प्रथमः सन्मुख्यया शिष्यादिवृत्त्येत्यर्थः । मध्यमानां च बहूनां मध्यमो मध्यमयैव वृत्त्यैमि । नाधमया कदाचिदपि । तमेवं विशिष्टगुणमपि पुत्रं मां मृत्यवे त्वा ददामीत्युक्तवान् पिता । स किंस्विद्यमस्य कर्तव्यं प्रयोजनं मया प्रत्तेन करिष्यति यत्कर्तव्यमद्य ? नूनं प्रयोजनम् अनपेक्ष्यैव क्रोधवशादुक्तवान् पिता । तथापि तत्पितुर्वचो मृषा मा भूदित्येवं मत्वा परिदेवनापूर्वकमाह पितरं शोकाविष्टं किं मयोक्तमिति ॥ ५ ॥

मैं बहुत-से शिष्य अथवा पुत्रोंमे तो प्रथम अर्थात् आगे रहकर मुख्य शिष्यादि वृत्तिसे चलता हूँ तथा बहुत-से मध्यम शिष्यादिमें मध्यम रहकर मध्यम वृत्तिसे वर्तता हूँ । अधम वृत्तिसे मैं कभी नहीं रहता । उस ऐसे विशिष्ट-गुणसम्पन्न पुत्रको भी पिताने 'मैं तुझे मृत्युको देता हूँ' ऐसा कहा । परन्तु यमका ऐसा कौन-सा कर्तव्य—प्रयोजन इन्हें पूर्ण करना है जिसे ये इस प्रकार दिये हुए मेरेद्वारा सिद्ध करेंगे ? अवश्य किसी प्रयोजनकी अपेक्षा न करके ही पिताने क्रोधवश ऐसा कहा है । तथापि 'पिताका वचन मिथ्या न हो' ऐसा विचारकर उसने अपने पितासे, जो यह सोचकर कि 'मैंने क्या कह डाला ?' शोकातुर हो रहे थे, खेदपूर्वक कहा ॥ ५ ॥

अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य तथापरे ।
सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः ॥ ६ ॥

जिस प्रकार पूर्वपुरुष व्यवहार करते थे उसका विचार कीजिये तथा जैसे वर्तमानकालिक अन्य लोग प्रवृत्त होते हैं उसे भी देखिये । मनुष्य खेतीकी तरह पकता (वृद्ध होकर मर जाता) है और खेतीकी भाँति फिर उत्पन्न हो जाता है ॥ ६ ॥

सन्मार्गः सदैव सेवनीयः

अनुपश्यालोचय निभालय अनुक्रमेण यथा येन प्रकारेण वृत्ताः पूर्वे अतिक्रान्ताः पितृपितामहादयस्तव । तान्दृष्ट्वा च तेषां वृत्तमास्थातुमर्हसि । वर्तमानाश्चापरे साधवो यथा वर्तन्ते तांश्च प्रतिपश्यालोचय तथा न च तेषु मृषाकरणं वृत्तं वर्तमानं वास्ति । तद्विपरीतमसतां च वृत्तं मृषाकरणम् । न च मृषा कृत्वा कश्चिदजरामरो भवति । यतः सस्यमिव मर्त्यो मनुष्यः पच्यते जीर्णो म्रियते । मृत्वा च सस्यमिव आजायत आविर्भवति पुनरेवमनित्ये जीव-

आपके पिता-पितामह आदि पुरुष अनुक्रमसे जिस प्रकार आचरण करते आये हैं उसकी आलोचना कीजिये—उसपर दृष्टि डालिये । उन्हें देखकर आपको उन्हींके आचरणोंका पालन करना चाहिये । तथा वर्तमानकालिक जो दूसरे साधुलोग आचरण करते हैं उनकी भी आलोचना कीजिये । उनमेंसे किसीका भी आचरण अपने कथनको मिथ्या करना नहीं था और न इस समय ही किसीका है । इसके विपरीत असत्पुरुषोंका आचरण मिथ्या करना ही है । किन्तु अपने आचरणको मृषा करके कोई अजर-अमर नहीं हो सकता । क्योंकि मनुष्य खेतीकी तरह पकता अर्थात् जीर्ण होकर मर जाता है, तथा मरकर खेतीके समान पुनः उत्पन्न—आविर्भूत हो जाता है । इस प्रकार इस अनित्य जीवलोकमें

लोके किं मृषाकरणेन । पालय आत्मनः सत्यम् । प्रेषय मां यमाय इत्यभिप्रायः ॥ ६ ॥

असत्य आचरणसे लाभ ही क्या है? अतः अपने सत्यका पालन कीजिये अर्थात् मुझे यमराजके पास भेजिये ॥ ६ ॥

यमलोकमें नचिकेता

स एवमुक्तः पितात्मनः सत्यतायै प्रेषयामास । स च यमभवनं गत्वा तिस्रो रात्रीः उवास यमे प्रोषिते । प्रोष्यागतं यमममात्या भार्या वा ऊचुर्बोधयन्तः—

पुत्रके इस प्रकार कहनेपर पिताने अपनी सत्यताकी रक्षाके लिये उसे यमराजके पास भेज दिया । वह यमराजके घर पहुँचकर तीन रात्रि टिका रहा, क्योंकि यम उस समय बाहर गये हुए थे । प्रवाससे लौटनेपर यमराजसे उनकी भार्या अथवा मन्त्रियोंने समझाते हुए कहा—

वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिर्ब्राह्मणो गृहान् ।
तस्यैताꣳशान्तिं कुर्वन्ति हर वैवस्वतोदकम् ॥ ७ ॥

ब्राह्मण-अतिथि होकर अग्नि ही घरोंमे प्रवेश करता है । [साधु पुरुष] उस अतिथिकी यह [अर्घ्य-पाद्य-दानरूपा] शान्ति किया करते हैं । अतः हे वैवस्वत ! [इस ब्राह्मण-अतिथिकी शान्तिके लिये] जल ले जाइये ॥ ७ ॥

वैश्वानरोऽग्निरेव साक्षात् प्रविशत्यतिथिः सन्ब्राह्मणो गृहान्दहन्निव तस्य दाहं शमयन्त इवाग्नेरेतां पाद्यासनादिदानलक्षणां शान्तिं कुर्वन्ति सन्तोऽतिथेर्यतोऽतो हराहर हे वैवस्वत

ब्राह्मण-अतिथिके रूपमें साक्षात् वैश्वानर—अग्नि ही दग्ध करता हुआ-सा घरोंमे प्रवेश करता है । उस अग्निके दाहको मानो शान्त करते हुए ही साधु-गृहस्थजन यह पाद्यादि दानरूप शान्ति किया करते है । अतः हे वैवस्वत !

उदकं नचिकेतसे पाद्यार्थम् । यत-श्चाकरणे प्रत्यवायः श्रूयते ॥ ७ ॥

नचिकेताको पाद्य देनेके लिये जल ले जाइये । क्योंकि ऐसा न करनेमें प्रत्यवाय सुना जाता है ॥ ७ ॥

आशाप्रतीक्षे संगतꣳसूनृतां च
इष्टापूर्ते पुत्रपशूꣳश्च सर्वान् ।
एतद्वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो
यस्यानश्नन्वसति ब्राह्मणो गृहे ॥ ८ ॥

जिसके घरमें ब्राह्मण-अतिथि बिना भोजन किये रहता है उस मन्दबुद्धि पुरुषकी ज्ञात और अज्ञात वस्तुओंकी प्राप्तिकी इच्छाएँ, उनके संयोगसे प्राप्त होनेवाले फल, प्रिय वाणीसे होनेवाले फल, यागादि इष्ट एवं उद्यानादि पूर्त कर्मोंके फल तथा समस्त पुत्र और पशु आदिको वह नष्ट कर देता है ॥ ८ ॥

अतिथ्युपेक्षणे दोषाः

आशाप्रतीक्षे अनिर्ज्ञातप्राप्येष्टार्थप्रार्थना आशा निर्ज्ञातप्राप्यार्थप्रतीक्षणं प्रतीक्षा ते आशाप्रतीक्षे, संगतं तत्संयोगजं फलम्, सूनृतां च सूनृता हि प्रिया वाक्तन्निमित्तं च, इष्टापूर्ते इष्टं यागजं पूर्तमारामादिक्रियाजं फलम्, पुत्रपशूंश्च पुत्रांश्च पशूंश्च सर्वानेतत्सर्वं यथोक्तं वृङ्क्त आवर्जयति विनाशयतीत्येतत्—पुरुषस्याल्पमेधसोऽल्पप्रज्ञस्य—यस्यानश्नन्नभुञ्जानो ब्राह्मणो गृहे

जिसके घरमें ब्राह्मण बिना भोजन किये रहता है उस मन्दमति पुरुषके 'आशा-प्रतीक्षा'—आशा—जिनका कोई ज्ञान नहीं है उन प्राप्तव्य इष्ट पदार्थोंकी इच्छा तथा अपने प्राप्तव्य ज्ञात पदार्थोंकी प्रतीक्षा एवं संगत—उनके संयोगसे प्राप्त होनेवाले फल, सूनृता—प्रिय वाणी और उससे होनेवाले फल, 'इष्टापूर्त'—इष्ट—यागादिसे प्राप्त होनेवाले फल और पूर्त—बाग-बगीचोंके लगानेसे होनेवाले फल तथा पुत्र और पशु—इन उपर्युक्त सभीको नष्ट कर देता है । अतः तात्पर्य

वसति । तस्मादनुपेक्षणीयः सर्वावस्थास्वप्यतिथिरित्यर्थः ॥ ८ ॥

यह है कि अतिथि सभी अवस्थाओंमे अनुपेक्षणीय है ॥ ८ ॥

एवमुक्तो मृत्युरुवाच नचिकेतसमुपगम्य पूजापुरःसरम्—

[मन्त्रियोंद्वारा] इस प्रकार कहे जानेपर यमराजने नचिकेताके पास जा उसकी पूजा करनेके अनन्तर कहा—

यमराजका वरप्रदान

तिस्रो रात्रीर्यदवात्सीर्गृहे मे
अनश्नन्ब्रह्मन्नतिथिर्नमस्यः ।
नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन्स्वस्ति मेऽस्तु
तस्मात्प्रति त्रीन्वरान्वृणीष्व ॥ ९ ॥

हे ब्रह्मन् ! तुम्हे नमस्कार हो; मेरा कल्याण हो । तुम नमस्कार-योग्य अतिथि होकर भी मेरे घरमे तीन रात्रितक बिना भोजन किये रहे; अतः एक-एक रात्रिके लिये एक-एक करके मुझसे तीन वर मॉग लो ॥९॥

तिस्रो रात्रीर्यद्यस्मादवात्सीः उषितवानसि गृहे मे ममानश्नन् हे ब्रह्मन्नतिथिः सन्नमस्यो नमस्कारार्हश्च तस्मान्नमस्ते तुभ्यमस्तु भवतु । हे ब्रह्मन्स्वस्ति भद्रं मेऽस्तु तस्माद्भवतोऽनशनेन मद्गृहवासनिमित्ताद्दोषात्तत्प्राप्त्युपशमेन । यद्यपि भवदनुग्रहेण सर्वं मम स्वस्ति स्यात्तथापि त्वदधिक-

हे ब्रह्मन् ! क्योंकि अतिथि और नमस्कारयोग्य होकर भी तुम तीन रात्रितक बिना कुछ भोजन किये मेरे घरमे रहे हो, अतः तुम्हे नमस्कार है । हे ब्रह्मन् ! मेरे घरमें बिना भोजन किये आपके निवास करनेके निमित्तसे हुए दोषसे, उससे प्राप्त हुए अनिष्ट फलकी शान्तिद्वारा, मेरा मंगल—शुभ हो । यद्यपि आपकी कृपासे ही मेरा सब प्रकार कल्याण हो जायगा, तथापि

संप्रसादनार्थमनशनेनोपोषिताम् एकैकां रात्रिं प्रति त्रीन्वरान् वृणीष्व अभिप्रेतार्थविशेषान् प्रार्थयस्व मत्तः ॥ ९ ॥

अपनी अधिक प्रसन्नताके लिये तुम बिना भोजन किये बितायी हुई एक-एक रात्रिके प्रति मुझसे तीन वर—अपने अभीष्ट पदार्थविशेष माँग लो ॥ ९ ॥

नचिकेतास्त्वाह—यदि दित्सुर्वरान्—

नचिकेताने कहा—यदि आप वर देना चाहते है तो—

प्रथम वर—पितृपरितोष

शान्तसंकल्पः सुमना यथा स्या-
द्वीतमन्युर्गौतमो माभि मृत्यो ।
त्वत्प्रसृष्टं माभिवदेत्प्रतीत
एतत्त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे ॥ १० ॥

हे मृत्यो ! जिससे मेरे पिता वाजश्रवस मेरे प्रति शान्तसङ्कल्प, प्रसन्नचित्त और क्रोधरहित हो जायँ तथा आपके भेजनेपर मुझे पहचानकर बातचीत करें—यह मै [आपके दिये हुए] तीन वरोमेसे पहला वर माँगता हूँ ॥ १० ॥

शान्तसंकल्प उपशान्तः संकल्पो यस्य मां प्रति यमं प्राप्य किं नु करिष्यति मम पुत्र इति स शान्तसंकल्पः सुमनाः प्रसन्नमनाश्च यथा स्याद्वीतमन्युर्विगतरोषश्च गौतमो मम पिता माभि मां प्रति हे मृत्यो किं च त्वत्प्रसृष्टं त्वया विनिर्मुक्तं प्रेषितं गृहं प्रति मामभिवदेत्प्रतीतो लब्ध-

जिस प्रकार मेरे पिता गौतम मेरे प्रति शान्तसङ्कल्प—जिनका ऐसा सङ्कल्प शान्त हो गया है कि 'न जाने मेरा पुत्र यमराजके पास जाकर क्या करेगा,' सुमनाः—प्रसन्नचित्त और वीतमन्यु—क्रोधरहित हो जायँ और हे मृत्यो ! आपके भेजे हुए—घरकी ओर जानेके लिये छोड़े हुए मुझसे विश्वस्त—लब्धस्मृति होकर अर्थात्

स्मृतिः स एवायं पुत्रो ममागत इत्येवं प्रत्यभिजानन्नित्यर्थः । एतत्प्रयोजनं त्रयाणां प्रथममाद्यं वरं वृणे प्रार्थये यत्पितुः परितोषणम् ॥ १० ॥

ऐसा स्मरण करके कि यह मेरा वही पुत्र मेरे पास लौट आया है, सम्भाषण करे । यह अपने पिताकी प्रसन्नतारूप प्रयोजन ही मैं अपने तीन वरोंमेंसे पहला वर माँगता हूँ ॥ १० ॥

मृत्युरुवाच—

मृत्युने कहा—

यथा पुरस्ताद्भविता प्रतीत
औद्दालकिरारुणिर्मत्प्रसृष्टः ।
सुखꣳ रात्रीः शयिता वीतमन्यु-
स्त्वां ददृशिवान्मृत्युमुखात्प्रमुक्तम् ॥ ११ ॥

मुझसे प्रेरित होकर अरुणपुत्र उद्दालक तुझे पूर्ववत् पहचान लेगा । और शेष रात्रियोंमें सुखपूर्वक सोवेगा, क्योंकि तुझे मृत्युके मुखसे छूटकर आया हुआ देखेगा ॥ ११ ॥

यथा बुद्धिस्त्वयि पुरस्तात् पूर्वमासीत्स्नेहसमन्विता पितुस्तव भविता प्रीतिसमन्वितस्तव पिता तथैव प्रतीतवान्सन्नौद्दालकिः उद्दालक एवौद्दालकिः । अरुणस्यापत्यमारुणिः,द्व्यामुष्यायणो वा । मत्प्रसृष्टो मयानुज्ञातः

तेरे पिताकी बुद्धि जिस प्रकार पहले तेरे प्रति स्नेहयुक्ता थी उसी प्रकार वह औद्दालकि अब भी प्रीतियुक्त होकर तेरे प्रति विश्वस्त हो जायगा । यहाँ उद्दालकको ही 'औद्दालकि' कहा है तथा अरुणका पुत्र होनेसे वह आरुणि है । अथवा यह भी हो सकता है कि वह द्व्यामुष्यायण* हो । 'मत्प्रसृष्टः'

* जो एक ही पुत्र दो पिताओंद्वारा सकेत करके अपना उत्तराधिकारी निश्चित किया जाता है वह 'द्व्यामुष्यायण' कहलाता है । यह अकेला ही दोनों पिताओंकी सम्पत्तिका स्वामी और उन्हें पिण्डदान करनेका अधिकारी होता है । जैसे पुत्ररूपसे स्वीकार किया हुआ पुत्रीका पुत्र अथवा अन्य दत्तक पुत्र आदि । अतः अकेले वाजश्रवसको ही औद्दालकि और आरुणि कहनेसे यह सम्भव है कि वह उद्दालक और अरुण दो पिताओंका उत्तराधिकारी हो ।

सन् इतरा अपि रात्रीः सुखं प्रसन्नमनाः शयिता स्वप्ता वीतमन्युर्विगतमन्युश्च भविता स्यात्त्वां पुत्रं ददृशिवान्दृष्टवान्स मृत्युमुखान्मृत्युगोचरात् प्रमुक्तं सन्तम् ॥ ११ ॥

अर्थात् मुझसे आज्ञप्त होकर वह शेष रात्रियोमे भी सुखपूर्वक यानी प्रसन्न चित्तसे शयन करेगा तथा [यह सोचकर] वीतमन्यु—क्रोधहीन हो जायगा कि तुझ पुत्रको मृत्युके मुखसे अर्थात् मृत्युके अधिकारसे मुक्त हुआ देखा है ॥ ११ ॥

नचिकेता उवाच— नचिकेता बोला—

स्वर्गस्वरूपप्रदर्शन

स्वर्गे लोके न भयं किंचनास्ति
न तत्र त्वं न जरया बिभेति ।
उभे तीर्त्वाशनायापिपासे
शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥ १२ ॥

हे मृत्युदेव ! स्वर्गलोकमे कुछ भी भय नही है । वहाँ आपका भी वश नही चलता । वहाँ कोई वृद्धावस्थासे भी नही डरता । स्वर्गलोकमे पुरुष भूख-प्यास—दोनोंको पार करके शोकसे ऊपर उठकर आनन्दित होता है ॥ १२ ॥

स्वर्गे लोके रोगादिनिमित्तं भयं किंचन किंचिदपि नास्ति । न च तत्र त्वं मृत्यो सहसा प्रभवस्ततो जरया युक्त इह लोकवत्त्वत्तो न बिभेति कुतश्चित् तत्र । किंचोभे अशनायापिपासे तीर्त्वातिक्रम्य शोकमतीत्य गच्छतीति शोकातिगः सन्

स्वर्गलोकमे रोगादिके कारण होनेवाला भय तनिक भी नहीं है । हे मृत्यो ! वहाँ आपकी भी सहसा दाल नही गलती । अतः इस लोकके समान वहाँ वृद्धावस्थासे युक्त होकर कोई पुरुष आपसे कहीं नही डरता । बल्कि पुरुष भूख-प्यास दोनोको पार करके, जो शोकका अतिक्रमण कर जाय ऐसा

मानसेन दुःखेन वर्जितो मोदते हृष्यति स्वर्गलोके दिव्ये ॥१२॥

शोकातीत होकर—मानसिक दुःखसे छुटकारा पाकर उस दिव्य स्वर्गलोकमे आनन्दित होता है ॥१२॥

द्वितीय वर—स्वर्गसाधनभूत अग्निविद्या

स त्वमग्निँ स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो
प्रब्रूहि त्वँ श्रद्दधानाय मह्यम् ।
स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्त
एतद्द्वितीयेन वृणे वरेण ॥ १३ ॥

हे मृत्यो ! आप स्वर्गके साधनभूत अग्निको जानते है, सो मुझ श्रद्धालुके प्रति उसका वर्णन कीजिये, [जिसके द्वारा] स्वर्गको प्राप्त हुए पुरुप अमृतत्व प्राप्त करते है । दूसरे वरसे मैं यही माँगता हूँ ॥ १३ ॥

एवंगुणविशिष्टस्य स्वर्गलोकस्य प्राप्तिसाधनभूतमग्निं स त्वं मृत्युरध्येपि स्मरसि जानासि इत्यर्थः, हे मृत्यो यतस्त्वं प्रब्रूहि कथय श्रद्दधानाय श्रद्धावते मह्यं स्वर्गार्थिने; येनाग्निना चितेन स्वर्गलोकाः स्वर्गो लोको येषां ते स्वर्गलोका यजमाना अमृतत्वम् अमरणतां देवत्वं भजन्ते प्राप्नुवन्ति तदेतदग्निविज्ञानं द्वितीयेन वरेण वृणे ॥ १३ ॥

हे मृत्यो ! क्योकि आप ऐसे गुणवाले स्वर्गलोककी प्राप्तिके साधनभूत अग्निको स्मरण रखते यानी जानते है, अतः मुझ स्वर्गार्थी श्रद्धालुके प्रति उसका वर्णन कीजिये, जिस अग्निका चयन करनेसे स्वर्गको प्राप्त करनेवाले पुरुष अर्थात् स्वर्ग ही जिनका लोक है ऐसे यजमानगण अमृतत्व—अमरता अर्थात् देवभावको प्राप्त हो जाते है । इस अग्निविज्ञानको मै दूसरे वरद्वारा माँगता हूँ ॥१३॥

मृत्योः प्रतिज्ञेयम्— | यह मृत्युकी प्रतिज्ञा है—

प्र ते ब्रवीमि तदु मे निबोध
स्वर्ग्यमग्निं नचिकेतः प्रजानन् ।
अनन्तलोकाप्तिमथो प्रतिष्ठां
विद्धि त्वमेतं निहितं गुहायाम् ॥ १४ ॥

हे नचिकेतः ! उस स्वर्गप्रद अग्निको अच्छी तरह जाननेवाला मैं तेरे प्रति उसका उपदेश करता हूँ । तू उसे मुझसे अच्छी तरह समझ ले । इसे तू अनन्तलोककी प्राप्ति करानेवाला, उसका आधार और बुद्धिरूपी गुहामें स्थित जान ॥ १४ ॥

प्र ते तुभ्यं प्रब्रवीमि; यत्त्वया प्रार्थितं तदु मे मम वचसो निबोध बुध्यस्वैकाग्रमनाः सन्स्वर्ग्यं स्वर्गाय हितं स्वर्गसाधनमग्निं हे नचिकेतः प्रजानन्विज्ञातवानहं सन्नित्यर्थः । प्रब्रवीमि तन्निबोधेति च शिष्यबुद्धिसमाधानार्थं वचनम् ।

हे नचिकेतः ! जिसके लिये तुमने प्रार्थना की थी उस स्वर्ग्य—स्वर्गप्राप्तिमें हितावह अर्थात् स्वर्गके साधनरूप अग्निको तू एकाग्रचित्त होकर मेरे वचनसे अच्छी तरह समझ ले, उसे सम्यक् प्रकारसे जाननेवाला—उसका विशेपज्ञ मैं तेरे प्रति उसका वर्णन करता हूँ । 'मैं कहता हूँ' 'तू उसे समझ ले' ये वाक्य शिष्यकी बुद्धिको समाहित करनेके लिये है ।

अधुनाग्निं स्तौति । अनन्तलोकाप्तिं स्वर्गलोकफलप्राप्तिसाधनम् इत्येतत्, अथो अपि प्रतिष्ठाम् आश्रयं जगतो विराड्रूपेण, तमेतमग्निं मयोच्यमानं विद्धि जानीहि त्वं निहितं स्थितं गुहायां विदुषां बुद्धौ निविष्टमित्यर्थः ॥ १४ ॥

अब उस अग्निकी स्तुति करते हैं । जो अनन्तलोकाप्ति अर्थात् स्वर्गलोकरूप फलकी प्राप्तिका साधन तथा विराट्रूपसे जगत्की प्रतिष्ठा—आश्रय है मेरे द्वारा कहे हुए उस इस अग्निको तू गुहामें अर्थात् बुद्धिमान् पुरुषोंकी बुद्धिमें स्थित जान ॥ १४ ॥

इदं श्रुतेर्वचनम्— यह श्रुतिका वचन है—

लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै
या इष्टका यावतीर्वा यथा वा ।
स चापि तत्प्रत्यवदद्यथोक्त-
मथास्य मृत्युः पुनरेवाह तुष्टः ॥ १५ ॥

तब यमराजने लोकोंके आदिकारणभूत उस अग्निका तथा उसके चयन करनेमें जैसी और जितनी ईंटें होती हैं, एवं जिस प्रकार उसका चयन किया जाता है उन सबका नचिकेताके प्रति वर्णन कर दिया । और उस नचिकेताने भी जैसा उससे कहा गया था वह सब सुना दिया । इससे प्रसन्न होकर मृत्यु फिर बोला ॥ १५ ॥

लोकादिं लोकानामादिं प्रथमशरीरित्वादग्निं तं प्रकृतं नचिकेतसा प्रार्थितमुवाचोक्तवान् मृत्युस्तस्मै नचिकेतसे । किं च या इष्टकाश्चेतव्याः स्वरूपेण, यावतीर्वा संख्यया, यथा वा चीयतेऽग्निर्येन प्रकारेण सर्वमेतद् उक्तवानित्यर्थः । स चापि नचिकेतास्तन्मृत्युनोक्तं यथावत्प्रत्ययेनावदत्प्रत्युच्चारितवान् । अथ तस्य प्रत्युच्चारणेन तुष्टः सन्मृत्युः पुनरेवाह वरत्रयव्यतिरेकेणान्यं वरं दित्सुः ॥ १५ ॥

नचिकेताने जिसके लिये प्रार्थना की थी और जिसका प्रकरण चल रहा है प्रथम शरीरी होनेके कारण लोकोंके आदिभूत उस अग्निका यमने नचिकेताके प्रति वर्णन कर दिया। तथा स्वरूपतः जिस प्रकारकी और संख्यामें जितनी ईंटोंका चयन करना चाहिये एवं यथा यानी जिस तरह अग्निका चयन किया जाता है वह सब भी कह दिया । तथा उस नचिकेताने भी, जिस प्रकार उसे मृत्युने बताया था वह सब समझकर ज्यों-का-त्यों सुना दिया । तब उसके प्रत्युच्चारणसे प्रसन्न हो मृत्युने इन तीन वरोंके अतिरिक्त और भी वर देनेकी इच्छासे उससे फिर कहा ॥ १५ ॥

कथम्— | कैसे कहा [सो बतलाते हैं—]

तमब्रवीत्प्रीयमाणो महात्मा
वरं तवेहाद्य ददामि भूयः ।
तवैव नाम्ना भवितायमग्निः
सृङ्कां चेमामनेकरूपां गृहाण ॥ १६ ॥

महात्मा यमने प्रसन्न होकर उससे कहा—अब मैं तुझे एक वर और भी देता हूँ । यह अग्नि तेरे ही नामसे प्रसिद्ध होगा और तू इस अनेक रूपवाली मालाका ग्रहण कर ॥ १६ ॥

तं नचिकेतसमब्रवीत्प्रीयमाणः शिष्ययोग्यतां पश्यन्प्रीयमाणः प्रीतिमनुभवन्महात्माक्षुद्रबुद्धिर्वरं तव चतुर्थमिह प्रीतिनिमित्तमद्येदानीं ददामि भूयः पुनः प्रयच्छामि । तवैव नचिकेतसो नाम्नाभिधानेन प्रसिद्धो भविता मयोच्यमानोऽयमग्निः । किं च सृङ्कां शब्दवतीं रत्नमयीं मालामिमामनेकरूपां विचित्रां गृहाण स्वीकुरु । यद्वा सृङ्काम् अकुत्सितां गतिं कर्ममयीं गृहाण । अन्यदपि कर्मविज्ञानमनेकफलहेतुत्वात्स्वीकुर्वित्यर्थः ॥ १६ ॥

अपने शिष्यकी योग्यताको देखकर प्रसन्न हुए—प्रीतिका अनुभव करते हुए महात्मा—अक्षुद्रबुद्धि यमने नचिकेतासे कहा—अब मैं प्रसन्नताके कारण तुझे फिर भी यह चौथा वर और देता हूँ । मेरेद्वारा कहा हुआ यह अग्नि तुझ नचिकेताके ही नामसे प्रसिद्ध होगा तथा तू यह शब्द करनेवाली रत्नमयी, अनेकरूपा विचित्रवर्णा मालाका भी ग्रहण–स्वीकार कर । अथवा सृङ्का यानी कर्ममयी अनिन्दिता गतिका ग्रहण कर । तात्पर्य यह है कि इसके सिवा अनेक फलका कारण होनेसे तू मुझसे कर्मविज्ञानको और भी स्वीकृत कर ॥ १६ ॥

पुनरपि कर्मस्तुतिमेवाह—

यमराज फिर भी कर्मकी स्तुति ही करते हैं—

नाचिकेत अग्निचयनका फल

त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य सन्धिं
त्रिकर्मकृत्तरति जन्ममृत्यू ।
ब्रह्मजज्ञं देवमीड्यं विदित्वा
निचाय्येमाँ शान्तिमत्यन्तमेति॥ १७ ॥

त्रिणाचिकेत अग्निका तीन बार चयन करनेवाला मनुष्य [माता, पिता और आचार्य—इन] तीनोसे सम्बन्धको प्राप्त होकर जन्म और मृत्युको पार कर जाता है। तथा ब्रह्मसे उत्पन्न हुए, ज्ञानवान् और स्तुतियोग्य देवको जानकर और उसे अनुभव कर इस अत्यन्त शान्तिको प्राप्त हो जाता है ॥ १७ ॥

त्रिणाचिकेतस्त्रिःकृत्वो नाचिकेतोऽग्निश्चितो येन स त्रिणाचिकेतस्तद्विज्ञानस्तदध्ययनस्तदनुष्ठानवान्वा । त्रिभिर्मातृपित्राचार्यैरेत्य प्राप्य सन्धिं सन्धानं सम्बन्धं मात्राद्यनुशासनं यथावत्प्राप्येत्येतत् । तद्धि प्रामाण्यकारणं श्रुत्यन्तरादवगम्यते यथा "मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्" (बृ० उ० ४ । १ । २) इत्यादेः ।

जिसने तीन बार नाचिकेत अग्निका चयन किया है उसे त्रिणाचिकेत कहते है। अथवा उसका ज्ञान अध्ययन और अनुष्ठान करनेवाला ही त्रिणाचिकेत है। वह त्रिणाचिकेत माता, पिता और आचार्य इन तीनोसे सन्धि—सन्धान यानी सम्बन्धको प्राप्त होकर अर्थात् यथाविधि माता आदिकी शिक्षाको प्राप्त कर; क्योंकि एक दूसरी श्रुतिसे, जैसा कि—"माता पिता एवं आचार्यसे शिक्षित पुरुष कहे" इत्यादि श्रुतिसे जाना जाता है, उनकी शिक्षा ही धर्मज्ञानकी प्रामाणिकतामे हेतु मानी गयी है,

वेदस्मृतिशिष्टैर्वा प्रत्यक्षानुमानागमैर्वा, तेभ्यो हि विशुद्धिः प्रत्यक्षा, त्रिकर्मकृदिज्याध्ययनदानानां कर्ता तरत्यतिक्रामति जन्ममृत्यू ।

अथवा वेद, स्मृति और शिष्ट पुरुषोंसे या प्रत्यक्ष, अनुमान और आगमसे [सम्बन्ध प्राप्त करके] यज्ञ, अध्ययन और दान—इन तीन कर्मोंको करनेवाला पुरुष जन्म और मृत्युको तर जाता है—उन्हें पार कर लेता है, क्योंकि उन (वेदादि अथवा प्रत्यक्षादि प्रमाणों) से स्पष्ट ही शुद्धि होती देखी है ।

किं च ब्रह्मजज्ञं ब्रह्मणो हिरण्यगर्भाज्जातो ब्रह्मजः। ब्रह्मजश्चासौ ज्ञश्चेति ब्रह्मजज्ञः सर्वज्ञो ह्यसौ। तं देवं द्योतनाज्ज्ञानादिगुणवन्तमीड्यं स्तुत्यं विदित्वा शास्त्रतो निचाय्य दृष्ट्वा चात्मभावेनेमां स्वबुद्धिप्रत्यक्षां शान्तिम् उपरतिमत्यन्तमेत्यतिशयेनैति । वैराजं पदं ज्ञानकर्मसमुच्चयानुष्ठानेन प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ १७ ॥

तथा 'ब्रह्मजज्ञ' ब्रह्मज—ब्रह्मा यानी हिरण्यगर्भसे उत्पन्न हुआ ब्रह्मज कहलाता है; इस प्रकार जो ब्रह्मज है और ज्ञ (ज्ञाता) भी है उसे ब्रह्मजज्ञ कहते हैं, क्योंकि वह सर्वज्ञ है। उस देवको—जो द्योतन आदिके कारण देव कहलाता है, और ज्ञानादि गुणवान् होनेसे ईड्य—स्तुतियोग्य है उसे शास्त्रसे जानकर और 'निचाय्य' अर्थात् आत्मभावसे देखकर अपनी बुद्धिसे प्रत्यक्ष होनेवाली इस आत्यन्तिक शान्ति—उपरतिको प्राप्त हो जाता है। अर्थात् ज्ञान और कर्मके समुच्चयका अनुष्ठान करनेसे वैराज पदको प्राप्त कर लेता है ॥ १७ ॥

इदानीमग्निविज्ञानचयनफलम् उपसंहरति प्रकरणं च—

अब अग्निविज्ञान और उसके चयनके फलका तथा इस प्रकरणका उपसंहार करते हैं—

त्रिणाचिकेतस्त्रयमेतद्विदित्वा
य एवं विद्वाꣳश्चिनुते नाचिकेतम् ।
स मृत्युपाशान्पुरतः प्रणोद्य
शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥ १८ ॥

जो त्रिणाचिकेत विद्वान् अग्निके इस त्रयको [यानी कौन ईंटे हो, कितनी संख्यामे हों और किस प्रकार अग्निचयन किया जाय—इसको] जानकर नाचिकेत अग्निका चयन करता है वह देहपातसे पूर्व ही मृत्युके बन्धनोंको तोडकर शोकसे पार हो स्वर्गलोकमे आनन्दित होता है ॥ १८ ॥

त्रिणाचिकेतस्त्रयं यथोक्तं या इष्टका यावतीर्वा यथा वेत्येतद् विदित्वावगत्य यश्चैवमात्मरूपेण अग्निं विद्वांश्चिनुते निर्वर्तयति नाचिकेतमग्निं क्रतुं स मृत्युपाशान् अधर्माज्ञानरागद्वेषादिलक्षणान् पुरतःअग्रतः पूर्वमेव शरीरपातात् इत्यर्थः, प्रणोद्यापहाय शोकातिगो मानसैर्दुःखैर्वर्जित इत्येतत् मोदते स्वर्गलोके वैराजे विराडात्मस्वरूपप्रतिपत्त्या ॥१८॥

जो त्रिणाचिकेत अग्निके पूर्वोक्त त्रयको जानकर अर्थात् जो ईंटे होनी चाहिये, जितनी होनी चाहिये तथा जिस प्रकार अग्नि चयन करना चाहिये—इन तीनो बातोको समझकर उस अग्निको आत्मस्वरूपसे जाननेवाला जो विद्वान् अग्नि—क्रतुका चयन करता—साधन करता है वह अधर्म, अज्ञान और राग-द्वेषादिरूप मृत्युके बन्धनोंका पुरतः—अग्रतः अर्थात् देहपातसे पूर्व ही अपनोदन—त्याग करके शोकसे पार हुआ अर्थात् मानसिक दुःखोसे मुक्त हुआ स्वर्गमे यानी वैराजलोकमे विराडात्मस्वरूपकी प्राप्ति होनेसे आनन्दित होता है ॥ १८ ॥

एष तेऽग्निर्नचिकेतः स्वर्ग्यो
यमवृणीथा द्वितीयेन वरेण ।
एतमग्निं तवैव प्रवक्ष्यन्ति जनास-
स्तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्व ॥ १९ ॥

हे नचिकेत. ! तूने द्वितीय वरसे जिसका वरण किया था वह यह स्वर्गका साधनभूत अग्नि तुझे बतला दिया । लोग इस अग्निको तेरा ही कहेंगे । हे नचिकेतः ! तू तीसरा वर और माँग ले ॥ १९ ॥

एष ते तुभ्यमग्निर्वरो हे नचिकेतः स्वर्ग्यः स्वर्गसाधनो यमग्निं वरमवृणीथाः प्रार्थितवानसि द्वितीयेन वरेण सोऽग्निर्वरो दत्त इत्युक्तोपसंहारः । किञ्चैतमग्निं तवैव नाम्ना प्रवक्ष्यन्ति जनासो जना इत्येतत् । एष वरो दत्तो मया चतुर्थस्तुष्टेन । तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्व । तस्मिन्ह्यदत्त ऋणवानहमित्यभिप्रायः ॥१९॥

हे नचिकेतः ! अपने दूसरे वरसे तूने जिस अग्निका वरण किया था—जिसके लिये तूने प्रार्थना की थी वह स्वर्गप्राप्तिका साधनभूत यह अग्निविज्ञानरूप वर मैंने तुझे दे दिया । इस प्रकार उपर्युक्त अग्निविज्ञानका उपसंहार कहा गया । यही नहीं, लोग इस अग्निको तेरे ही नामसे पुकारेंगे । यह तुझसे प्रसन्न हुए मैंने तुझे चौथा वर दिया था । हे नचिकेत ! अब तू तीसरा वर और माँग ले, क्योंकि उसे बिना दिये मैं ऋणी ही हूँ—ऐसा इसका अभिप्राय है ॥ १९ ॥

एतावद्ध्यतिक्रान्तेन विधिप्रतिषेधार्थेन मन्त्रब्राह्मणेनावगन्तव्यं यद्वरद्वयसूचितं वस्तु ।

विधि-प्रतिषेध ही जिसके प्रयोजन है ऐसे उपर्युक्त मन्त्र-ब्राह्मणद्वारा इन दो वरोंसे सूचित इतनी ही वस्तु ज्ञातव्य है ।

न आत्मतत्त्वविषययाथात्म्यविज्ञानम् । अतो विधिप्रतिषेधार्थविषयस्यात्मनि क्रियाकारकफलाध्यारोपलक्षणस्य स्वाभाविकस्याज्ञानस्य संसारबीजस्य निवृत्त्यर्थं तद्विपरीतब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानं क्रियाकारकफलाध्यारोपणलक्षणशून्यम् आत्यन्तिकनिःश्रेयसप्रयोजनं वक्तव्यमिति उत्तरो ग्रन्थ आरभ्यते । तमेतमर्थं द्वितीयवरप्राप्त्याप्यकृतार्थत्वं तृतीयवरगोचरमात्मज्ञानमन्तरेण इत्याख्यायिकया प्रपञ्चयति— यतः पूर्वस्मात्कर्मगोचरात्साध्यसाधनलक्षणादनित्याद्विरक्तस्य आत्मज्ञानेऽधिकार इति तन्निन्दार्थं पुत्राद्युपन्यासेन प्रलोभनं क्रियते ।

आत्मतत्त्वविषयक यथार्थ ज्ञान इसका विषय नहीं है । अत्र, जो विधि-प्रतिषेधका विषय है, आत्मामें क्रिया, कारक और फलका अध्यारोप करना ही जिसका लक्षण है तथा जो संसारका बीजस्वरूप है उस स्वाभाविक अज्ञानकी निवृत्तिके लिये उससे विपरीत ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञान कहना है, जो कि क्रिया, कारक और फलके अध्यारोपरूप लक्षणसे शून्य और आत्यन्तिक निःश्रेयसरूप प्रयोजनवाला है; इसीके लिये आगेके ग्रन्थका आरम्भ किया जाता है । इसी बातको आख्यायिका-द्वारा विस्तृत करते हैं कि तीसरे वरसे प्राप्त होनेवाले आत्मज्ञानके बिना द्वितीय वरकी प्राप्तिसे भी अकृतार्थता ही है । क्योंकि आत्मज्ञानमे उसी पुरुषका अधिकार है जो पूर्वोक्त कर्मविषयक साध्य-साधनलक्षण एवं अनित्य फलोसे विरक्त हो गया हो । इसलिये उनकी निन्दाके लिये पुत्रादिके उपन्याससे नचिकेताको प्रलोभित किया जाता है ।

नचिकेता उवाच तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्वेत्युक्तः सन्—

'हे नचिकेतः ! तुम तीसरा वर माँग लो' इस प्रकार कहे जानेपर नचिकेता बोला—

तृतीय वर—आत्मरहस्य

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये-
ऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके ।
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं
वराणामेष वरस्तृतीयः ॥ २० ॥

मरे हुए मनुष्यके विषयमें जो यह सन्देह है कि कोई तो कहते हैं 'रहता है' और कोई कहते हैं 'नहीं रहता' आपसे शिक्षित हुआ मैं इसे जान सकूँ । मेरे वरोंमें यह तीसरा वर है ॥ २० ॥

येयं विचिकित्सा संशयः प्रेते मृते मनुष्येऽस्तीत्येकेऽस्ति शरीरेन्द्रियमनोबुद्धिव्यतिरिक्तो देहान्तरसम्बन्ध्यात्मेत्येके नायम् अस्तीति चैके नायमेवंविधोऽस्तीति चैकेऽतश्चास्माकं न प्रत्यक्षेण नापि वानुमानेन निर्णयविज्ञानमेतद्विज्ञानाधीनो हि परः पुरुषार्थ इत्यत एतद्विद्यां विजानीयामहम् अनुशिष्टो ज्ञापितस्त्वया । वराणाम् एष वरस्तृतीयोऽवशिष्टः ॥२०॥

मरे हुए मनुष्यके विषयमें जो इस प्रकारका सन्देह है कि कोई लोग तो ऐसा कहते हैं कि शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धिसे अतिरिक्त देहान्तरसे सम्बन्ध रखनेवाला आत्मा रहता है और किन्हींका कथन है कि ऐसा कोई आत्मा नहीं रहता; अतः इसके विषयमें हमें प्रत्यक्ष अथवा अनुमानसे कोई निश्चित ज्ञान नहीं होता और परम पुरुषार्थ इस विज्ञानके ही अधीन है । इसलिये आपसे शिक्षित अर्थात् विज्ञापित होकर मैं इसे भली प्रकार जान सकूँ । यही मेरे वरोंमेंसे बचा हुआ तीसरा वर है ॥ २० ॥

किमयमेकान्ततो निःश्रेयससाधनात्मज्ञानार्हो न वेत्येतत्परीक्षणार्थमाह—

यह (नचिकेता) निःश्रेयसके साधन आत्मज्ञानके योग्य पूर्णतया है या नहीं—इस बातकी परीक्षा करनेके लिये यमराजने कहा—

देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा
न हि सुज्ञेयमणुरेष धर्मः ।
अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व
मा मोपरोत्सीरति मा सृजैनम् ॥ २१ ॥

पूर्वकालमें इस विषयमें देवताओंको भी सन्देह हुआ था, क्योंकि यह सूक्ष्मधर्म सुगमतासे जानने योग्य नहीं है । हे नचिकेतः ! तू दूसरा वर माँग ले, मुझे न रोक । तू मेरे लिये यह वर छोड दे ॥ २१ ॥

देवैरप्यत्रैतस्मिन्वस्तुनि विचिकित्सितं संशयितं पुरा पूर्वं न हि सुज्ञेयं सुष्ठु ज्ञेयं श्रुतमपि प्राकृतैर्जनैर्यतोऽणुः सूक्ष्म एष आत्माख्यो धर्मोऽतोऽन्यमसंदिग्धफलं वरं नचिकेतो वृणीष्व मा मां मोपरोत्सीरुपरोधं मा कार्षीरधमर्णम् इवोत्तमर्णः । अतिसृज विमुञ्च एनं वरं मा मां प्रति ॥ २१ ॥

इस आत्मतत्त्वके विषयमें पहले—पूर्वकालमें देवताओंने भी विचिकित्सा—संशय किया था । साधारण पुरुषोंके लिये यह तत्त्व सुने जानेपर भी सुज्ञेय—अच्छी तरह जानने योग्य नहीं है, क्योंकि यह 'आत्मा' नामवाला धर्म बडा ही अणु—सूक्ष्म है । अतः हे नचिकेतः ! कोई दूसरा निश्चित फल देनेवाला वर माँग ले । जैसे धनी ऋणीको दबाता है उसी प्रकार तू मुझे न रोक । इस वरको तू मेरे लिये छोड़ दे ॥ २१ ॥

नचिकेताकी स्थिरता

देवैरत्रापि विचिकित्सितं किल
त्वं च मृत्यो यन्न सुज्ञेयमात्थ ।
वक्ता चास्य त्वादृगन्यो न लभ्यो
नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित् ॥ २२ ॥

[नचिकेता बोला—] हे मृत्यो ! इस विषयमें निश्चय ही देवताओंको भी सन्देह हुआ था तथा इसे आप भी सुगमतासे जानने योग्य नहीं बतलाते । [इसीसे वह मुझे और भी अधिक अभीष्ट है] तथा इस धर्मका वक्ता भी आपके समान अन्य कोई नहीं मिल सकता और न इसके समान कोई दूसरा वर ही है ॥ २२ ॥

देवैरत्राप्येतस्मिन्वस्तुनि विचिकित्सितं किलेति भवत एव नः श्रुतम् । त्वं च मृत्यो यद्यस्मान्न सुज्ञेयमात्मतत्त्वमात्थ कथयसि, अतः पण्डितैरप्यवेदनीयत्वाद् वक्ता चास्य धर्मस्य त्वादृक्त्वत्तुल्यः अन्यः पण्डितश्च न लभ्यः अन्विष्यमाणोऽपि । अयं तु वरो निःश्रेयसप्राप्तिहेतुः । अतो नान्यो वरस्तुल्यः सदृशोऽस्त्येतस्य कश्चिदप्यनित्यफलत्वादन्यस्य सर्वस्यैवेत्यभिप्रायः ॥ २२ ॥

यह बात हमने अभी आपहीसे सुनी है कि इस विषयमें देवताओंने भी सन्देह किया था । और हे मृत्यो ! आप भी इस आत्मतत्त्वको सुगमतासे जानने योग्य नहीं बतलाते । अतः पण्डितोंसे अज्ञातव्य होनेके कारण इस धर्मका कथन करनेवाला आपके समान कोई और पण्डित ढूँढ़नेसे भी नहीं मिल सकता । और यह वर भी निःश्रेयसकी प्राप्तिका कारण है । अतः इसके समान और कोई भी वर नहीं है, क्योंकि और सभी वर अनित्य फलयुक्त हैं—यह इसका अभिप्राय है ॥ २२ ॥

यमराजका प्रलोभन

एवमुक्तोऽपि पुनः प्रलोभयन्नुवाच मृत्युः—

नचिकेताके इस प्रकार कहनेपर भी मृत्यु उसे प्रलोभित करता हुआ फिर बोला—

शतायुषः पुत्रपौत्रान्वृणीष्व
बहून्पशून्हस्तिहिरण्यमश्वान् ।
भूमेर्महदायतनं वृणीष्व
स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि ॥ २३ ॥

हे नचिकेतः ! तू सौ वर्षकी आयुवाले बेटे-पोते, बहुत-से पशु, हाथी, सुवर्ण और घोड़े माँग ले, विशाल भूमण्डल भी माँग ले तथा स्वयं भी जितने वर्ष इच्छा हो जीवित रह ॥ २३ ॥

शतायुषः शतं वर्षाण्यायूंषि एषां ताञ्शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व । किं च गवादिलक्षणान् बहून्पशून् हस्तिहिरण्यं हस्ती च हिरण्यं च हस्तिहिरण्यम् अश्वांश्च किं च भूमेः पृथिव्या महद्विस्तीर्णमायतनमाश्रयं मण्डलं राज्यं वृणीष्व । किं च सर्वमप्येतद् अनर्थकं स्वयं चेदल्पायुरित्यत आह—स्वयं च जीव त्वं जीव धारय शरीरं समग्रेन्द्रियकलापं शरदो वर्षाणि यावदिच्छसि जीवितुम् ॥ २३ ॥

जिनकी सौ वर्षकी आयु हो ऐसे शतायु पुत्र और पौत्र माँग ले । तथा गौ आदि बहुत-से पशु, हाथी और सुवर्ण तथा घोड़े और पृथिवीका महान् विस्तृत आयतन—आश्रय—मण्डल अर्थात् राज्य माँग ले । परन्तु यदि स्वयं अल्पायु हो तो ये सब व्यर्थ ही है—इसलिये कहते हैं—तू स्वयं भी जितना जीना चाहे उतने वर्ष जीवित रह; अर्थात् शरीर यानी समग्र इन्द्रिय-कलापको धारण कर ॥ २३ ॥

एतत्तुल्यं यदि मन्यसे वरं
वृणीष्व वित्तं चिरजीविकां च ।
महाभूमौ नचिकेतस्त्वमेधि
कामानां त्वा कामभाजं करोमि ॥ २४ ॥

इसीके समान यदि तू कोई और वर समझता हो तो उसे, अथवा धन और चिरस्थायिनी जीविका माँग ले । हे नचिकेतः ! इस विस्तृत भूमिमे तू वृद्धिको प्राप्त हो । मै तुझे कामनाओंको इच्छानुसार भोगनेवाला किये देता हूँ ॥ २४ ॥

एतत्तुल्यमेतेन यथोपदिष्टेन सदृशमन्यमपि यदि मन्यसे वरं तमपि वृणीष्व । किं च वित्तं प्रभूतं हिरण्यरत्नादि चिरजीविकां च सह वित्तेन वृणीष्वेत्येतत् । किं बहुना महत्यां भूमौ राजा नचिकेतस्त्वमेधि भव । किं चान्यत्कामानां दिव्यानां मानुषाणां च त्वा त्वां कामभाजं कामभागिनं कामार्हं करोमि सत्यसंकल्पो ह्यहं देवः ॥ २४ ॥

इस उपर्युक्त वरके समान यदि तू कोई और वर समझता हो तो उसे भी माँग ले । यही नही, धन अर्थात् प्रचुर सुवर्ण और रत्न आदि तथा उस धनके साथ चिरस्थायिनी जीविका भी माँग ले । अधिक क्या, हे नचिकेतः ! इस विस्तृत भूमिमे तू राजा होकर वृद्धिको प्राप्त हो । और तो क्या, मै तुझे दैवी और मानुषी सभी कामनाओका कामभागी अर्थात् इच्छानुसार भोगनेवाला किये देता हूँ, क्योकि मै सत्यसंकल्प देवता हूँ ॥ २४ ॥

ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके
सर्वान्कामाꣳश्छन्दतः प्रार्थयस्व ।

इमा रामाः सरथाः सतूर्या
न हीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः ।
आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व
नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः ॥ २५ ॥

मनुष्यलोकमे जो-जो भोग दुर्लभ है उन सब भोगोको तू स्वच्छन्दता-पूर्वक माँग ले । यहाँ रथ और बाजोके सहित ये रमणियाँ है । ऐसी स्त्रियाँ मनुष्योको प्राप्त होने योग्य नही होती । मेरे द्वारा दी हुई इन कामिनियोसे तू अपनी सेवा करा । परन्तु हे नचिकेतः ! तू मरणसम्बन्धी प्रश्न मत पूछ ॥ २५ ॥

ये ये कामाः प्रार्थनीया दुर्लभाश्च मर्त्यलोके सर्वास्तान् कामांश्छन्दत इच्छातः प्रार्थयस्व । किं चेमा दिव्या अप्सरसो रमयन्ति पुरुषानिति रामाः सह रथैर्वर्तन्त इति सरथाः सतूर्याः सवादित्रास्ताश्च न हि लम्भनीयाः प्रापणीया ईदृशा एवंविधा मनुष्यैर्मर्त्यैरस्मदादिप्रसादमन्तरेण । आभिर्मत्प्रत्ताभिर्मया दत्ताभिः परिचारिणीभिः परिचारयस्व आत्मानं पादप्रक्षालनादिशुश्रूषां कारयात्मन इत्यर्थः । नचिकेतो

इस मर्त्यलोकमे जो-जो कामनाएँ—प्रार्थनीय वस्तुएँ दुर्लभ है उन सबको छन्दतः—इच्छानुसार माँग ले । इसके सिवा ये रामा—जो पुरुषोके साथ रमण करती है उन्हे 'रामा' कहते है, ऐसी ये दिव्य अप्सराएँ, सरथा—रथोके सहित और सतूर्या—तूर्यों (बाजो) के सहित मौजूद है । हम-जैसे देवताओकी कृपाके बिना ये अर्थात् ऐसी स्त्रियाँ मरणधर्मा मनुष्योको प्राप्त होने योग्य नही है । मेरे द्वारा दी हुई इन परिचारिकाओसे तू अपनी परिचर्या अर्थात् पादप्रक्षालनादि सेवा करा; किन्तु हे नचिकेतः ! मरण अर्थात्

मरणं मरणसंबद्धं प्रश्नं प्रेतेऽस्ति नास्तीति काकदन्तपरीक्षारूपं मानुप्राक्षीर्मैवं प्रष्टुमर्हसि ॥२५॥

मरनेके पश्चात् जीव रहता है या नहीं—ऐसा कौएके दाँतोकी परीक्षाके समान मरणसम्बन्धी प्रश्न मत पूछ, तुझे ऐसा प्रश्न करना उचित नही है ॥ २५॥

एवं प्रलोभ्यमानोऽपि नचिकेता महाह्रदवदक्षोभ्य आह—

इस प्रकार प्रलोभित किये जानेपर भी नचिकेताने महान् सरोवरके समान अक्षुब्ध रहकर कहा—

नचिकेताकी निरीहता

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैत-
त्सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः ।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव
तवैव वाहास्तव नृत्यगीते ॥ २६ ॥

हे यमराज ! ये भोग 'कल रहेगे या नहीं'—इस प्रकारके हैं और सम्पूर्ण इन्द्रियोंके तेजको जीर्ण कर देते हैं । यह सारा जीवन भी बहुत थोड़ा ही है । आपके वाहन और नाच-गान आपके ही पास रहें [हमें उनकी आवश्यकता नही है] ॥ २६ ॥

श्वो भविष्यन्ति न भविष्यन्ति वेति संदिह्यमान एव येषां भावो भवनं त्वयोपन्यस्तानां भोगानां ते श्वोभावाः । किं च मर्त्यस्य मनुष्यस्यान्तक हे मृत्यो यदेतत्सर्वेन्द्रियाणां तेजस्तज्जरयन्त्यपक्षयन्त्यप्सरःप्रभृतयो भोगाः

आपने जिन भोगोका उल्लेख किया है वे तो श्वोभाव है—जिनका भाव अर्थात् अस्तित्व 'कल रहेगे या नहीं' इस प्रकार सन्देहयुक्त हो उन्हें श्वोभाव कहते है । बल्कि हे अन्तक—हे मृत्यो ! ये अप्सरा आदि भोग तो मनुष्यका जो यह सम्पूर्ण इन्द्रियोंका तेज है उसे

अनर्थायैवैते धर्मवीर्यप्रज्ञातेजोयशःप्रभृतीनां क्षपयितृत्वात् । यां चापि दीर्घजीविकां त्वं दित्ससि तत्रापि शृणु । सर्वं यद्ब्रह्मणोऽपि जीवितमायुरल्पमेव किमुतास्मदादिदीर्घजीविका । अतस्तवैव तिष्ठन्तु वाहा रथादयः तथा नृत्यगीते च ॥ २६ ॥

जीर्ण—क्षीण ही कर देते हैं, अतः धर्म, वीर्य, प्रज्ञा, तेज और यश आदिका क्षय करनेवाले होनेसे ये अनर्थके ही कारण हैं । और आप जो दीर्घजीवन देना चाहते हैं उसके विषयमें भी सुनिये । ब्रह्माका जो सम्पूर्ण जीवन—आयु है वह भी अल्प ही है, फिर हम-जैसोंके दीर्घजीवनकी तो बात ही क्या है ? अतः आपके रथादि वाहन और नाच-गान आपके ही रहें ॥ २६ ॥

किं च—

इसके सिवा—

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो
लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्त्वा ।
जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं
वरस्तु मे वरणीयः स एव ॥ २७ ॥

मनुष्यको धनसे तृप्त नहीं किया जा सकता । अब यदि आपको देख लिया है तो धन तो हम पा ही लेंगे । जबतक आप शासन करेंगे हम जीवित रहेंगे; किन्तु हमारा प्रार्थनीय वर तो वही है ॥ २७ ॥

न प्रभूतेन वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः । न हि लोके वित्तलाभः कस्यचित्तृप्तिकरो दृष्टः ।

मनुष्यको अधिक धनसे भी तृप्त नहीं किया जा सकता है । लोकमें धनकी प्राप्ति किसीको भी तृप्त करनेवाली नहीं देखी गयी ।

यदि नामास्माकं वित्ततृष्णा स्याल्लप्स्यामहे प्राप्स्यामह इत्येतद्वित्तमद्राक्ष्म दृष्टवन्तो वयं चेत्त्वा त्वाम्। जीवितमपि तथैव। जीविष्यामो यावद्याम्ये पदे त्वम् ईशिष्यसीशिष्यसे प्रभुः स्याः कथं हि मर्त्यस्त्वया समेत्याल्पधनायुर्भवेत्। वरस्तु मे वरणीयः स एव यदात्मविज्ञानम् ॥ २७ ॥

अब, जब कि हम आपको देख चुके हैं तो, यदि हमे धनकी लालसा होगी तो, उसे हम प्राप्त कर ही लेंगे। इसी प्रकार दीर्घजीवन भी पा लेंगे। जबतक आप याम्यपदपर शासन करेंगे तबतक हम भी जीवित रहेंगे। भला कोई भी मनुष्य आपके सम्पर्कमे आकर अल्पायु और अल्पधन कैसे रह सकता है? किन्तु वर तो वह जो आत्मविज्ञान है वही हमारा वरणीय है ॥२७॥

यतश्च—

क्योंकि—

अजीर्यताममृतानामुपेत्य
जीर्यन्मर्त्यः क्वधःस्थः प्रजानन्।
अभिध्यायन्वर्णरतिप्रमोदा-
नतिदीर्घे जीविते को रमेत ॥ २८ ॥

कभी जराग्रस्त न होनेवाले अमरोंके समीप पहुँचकर नीचे पृथिवीपर रहनेवाला कौन जराग्रस्त विवेकी मनुष्य होगा जो केवल शारीरिक वर्णके रागसे प्राप्त होनेवाले [स्त्रीसम्भोग आदि] सुखोंको [अस्थिर रूपमे] देखता हुआ भी अति दीर्घ जीवनमे सुख मानेगा? ॥२८॥

अजीर्यतां वयोहानिमप्राप्नुवताममृतानां सकाशमुपेत्य उपगम्यात्मन उत्कृष्टं प्रयोजनान्तरं प्राप्तव्यं तेभ्यः प्रजानन्

वयोहानिरूप जीर्णताको प्राप्त न होनेवाले अमरों—देवताओंकी सन्निधिमे पहुँचकर उनसे प्राप्त होने योग्य अपने अन्य उत्कृष्ट प्रयोजनको—प्राप्तव्यको जानता—प्राप्त करता हुआ भी

उपलभमानः स्वयं तु जीर्यन्मर्त्यो जरामरणवान्क्वधःस्थः कुः पृथिवी अधश्चान्तरिक्षादिलोकापेक्षया तस्यां तिष्ठतीति क्वधःस्थः सन् कथमेवमविवेकिभिः प्रार्थनीयं पुत्रवित्तहिरण्याद्यस्थिरं वृणीते ।

जो स्वयं जीर्ण होनेवाला और मरण-धर्मा है अर्थात् जरामरणशील है ऐसा क्वधःस्थ—'कु' पृथिवीको कहते है, वह अन्तरिक्षादि लोकोंकी अपेक्षा अधः—नीची [होनेके कारण 'क्वधः' कहलाती] है, उसपर जो स्थित होता है वह क्वधःस्थ कहा जाता है; ऐसा होकर भी—इस प्रकार अविवेकियोंद्वारा प्रार्थनीय पुत्र, धन और सुवर्ण आदि अस्थिर पदार्थोंको कैसे माँगेगा ?

क्व तदास्थ इति वा पाठान्तरम् । अस्मिन्पक्षे चाक्षरयोजना । तेषु पुत्रादिष्वास्था आस्थितिः तात्पर्येण वर्तनं यस्य स तदास्थः । ततोऽधिकतरं पुरुषार्थं दुष्प्रापमपि प्रापिपयिषुः क्व तदास्थो भवेन्न कश्चित्तदसारज्ञस्तदर्थी स्याद् इत्यर्थः । सर्वो ह्युपर्युपर्येव बुभूषति लोकस्तस्मान्न पुत्रवित्तादिलोभैः प्रलोभ्योऽहम् । किं चाप्सरःप्रमुखान्वर्णरतिप्रमोदाननवस्थित-

कहीं 'क्वधःस्थः' के स्थानमें 'क्व तदास्थः' ऐसा भी पाठ है । इस पक्षमे अक्षरोंकी योजना इस प्रकार करनी चाहिये । उन पुत्रादिमे जिसकी आस्था—आस्थिति अर्थात् तत्परतापूर्वक प्रवृत्ति है वह 'तदास्थ' है । जो उनसे भी उत्कृष्टतर और दुष्प्राप्य पुरुषार्थको पानेका इच्छुक है वह पुरुष उनमे आस्था करनेवाला कैसे होगा ? अर्थात् उन्हे असार समझनेवाला कोई भी पुरुष उनका अर्थी (इच्छुक) नहीं हो सकता, क्योंकि सभी लोग उत्तरोत्तर उन्नत ही होना चाहते है; अतः मै पुत्र-धन आदि लोभोंसे प्रलोभित नहीं किया जा सकता । तथा वर्णके रागसे प्राप्त होनेवाले अप्सरा आदि सुखोंकी अस्थिररूपमें भावना करता

रूपतयाभिध्यायन्निरूपयन्यथावत् अतिदीर्घे जीविते को विवेकी रमेत ॥ २८ ॥

हुआ; उन्हे यथावत् (मिथ्यारूपसे) समझता हुआ कौन विवेकी पुरुष अति दीर्घ जीवनमे प्रेम करेगा ? ॥ २८ ॥

अतो विहायानित्यैः कामैः प्रलोभनं यन्मया प्रार्थितम्—

अतः मुझे इन मिथ्या भोगोसे प्रलोभित करना छोड़कर जिसके लिये मैंने प्रार्थना की है—

यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो
यत्साम्पराये महति ब्रूहि नस्तत् ।
योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टो
नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते ॥२९॥

हे मृत्यो ! जिस (परलोकगत जीव) के सम्बन्धमे लोग 'है या नहीं है' ऐसा सन्देह करते हैं तथा जो महान् परलोकके विषयमें [निश्चित विज्ञान] है वह हमसे कहिये । यह जो गहनतामें अनुप्रविष्ट हुआ वर है इससे अन्य और कोई वर नचिकेता नही माँगता ॥ २९ ॥

यस्मिन्प्रेत इदं विचिकित्सनं विचिकित्सन्ति अस्ति नास्तीत्येवंप्रकारं हे मृत्यो साम्पराये परलोकविषये महति महत्प्रयोजननिमित्ते आत्मनो

हे मृत्यो ! जिस परलोकगत जीवके विषयमें ऐसा सन्देह करते है कि मरनेके अनन्तर 'रहता है या नहीं रहता' उस महान्—महान् प्रयोजनके निमित्तभूत साम्पराय—परलोकके सम्बन्धमे उस आत्माका जो निश्चित विज्ञान

निर्णयविज्ञानं यत्तद्ब्रूहि कथय नोऽस्मभ्यम् । किं बहुना योऽयं प्रकृत आत्मविषयो वरो गूढं गहनं दुर्विवेचनं प्राप्तोऽनुप्रविष्टः तस्माद्वरादन्यमविवेकिभिः प्रार्थनीयमनित्यविषयं वरं नचिकेता न वृणीते मनसापीति श्रुतेर्वचनमिति ॥ २९ ॥

है वह हमसे कहिये । अधिक क्या, यह जो आत्मविषयक प्रकृत वर है वह बड़ा ही गूढ—गहन है और दुर्विवेचनीयताको प्राप्त हो रहा है । उस वरसे अन्य अविवेकी पुरुषोंद्वारा प्रार्थनीय कोई और अनित्य वस्तु-विषयक वर नचिकेता मनसे भी नहीं माँगता—यह श्रुतिका वचन है ॥२९॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य-
श्रीमदाचार्यश्रीशङ्करभगवतः कृतौ कठोपनिषद्भाष्ये
प्रथमाध्याये प्रथमवल्लीभाष्यं समाप्तम् ॥ १ ॥

द्वितीया वल्ली
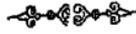
श्रेय-प्रेय-विवेक

परीक्ष्य शिष्यं विद्यायोग्यतां चावगम्याह—

इस प्रकार शिष्यकी परीक्षा कर और उसमे विद्या-ग्रहणकी योग्यता जान यमराजने कहा—

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेय-
स्ते उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः ।
तयोः श्रेय आददानस्य साधु
भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते ॥ १ ॥

श्रेय (विद्या) और है तथा प्रेय (अविद्या) और ही है । वे दोनो विभिन्न प्रयोजनवाले होते हुए ही पुरुषको बाँधते है । उन दोनोमेसे श्रेयका ग्रहण करनेवालेका शुभ होता है और जो प्रेयका वरण करता है वह पुरुषार्थसे पतित हो जाता है ॥ १ ॥

अन्यत्पृथगेव श्रेयो निःश्रेयसं तथान्यदुताप्येव प्रेयः प्रियतरमपि । ते प्रेयःश्रेयसी उभे नानार्थे भिन्नप्रयोजने सती पुरुषमधिकृतं वर्णाश्रमादिविशिष्टं सिनीतो बध्नीतस्ताभ्यामात्मकर्तव्यतया प्रयुज्यते सर्वः पुरुषः । श्रेयःप्रेयसोर्ह्यभ्युदयामृतत्वार्थी

श्रेय अर्थात् निःश्रेयस अन्यत्—भिन्न ही तथा प्रेय यानी प्रियतर वस्तु भी अन्य ही है । वे श्रेय और प्रेय दोनो विभिन्न प्रयोजनवाले होनेपर भी अधिकारी यानी वर्णाश्रमादिविशिष्ट पुरुषका बन्धन कर देते है; अर्थात् सब लोग उन्हींके द्वारा अपने [विद्या-अविद्यासम्बन्धी] कर्तव्यसे युक्त हो जाते हैं । अभ्युदयकी इच्छावाला पुरुष प्रेयसे और अमृतत्वका

पुरुषः प्रवर्तते । अतः श्रेयःप्रेयः-प्रयोजनकर्तव्यतया ताभ्यां बद्ध इत्युच्यते सर्वः पुरुषः ।

इच्छुक श्रेयसे प्रवृत्त होता है । अतः श्रेय और प्रेय इन दोनोंके प्रयोजनोकी कर्त्तव्यताके कारण सब लोग उनसे बद्ध कहे जाते है ।

ते यद्यप्येकैकपुरुषार्थसंबन्धिनी विद्याविद्यारूपत्वाद्विरुद्धे इत्यन्यतरापरित्यागेनैकेन पुरुषेण सहानुष्ठातुमशक्यत्वात् तयोर्हित्वाविद्यारूपं प्रेयः श्रेय एव केवलमाददानस्योपादानं कुर्वतः साधु शोभनं शिवं भवति । यस्त्वदूरदर्शी विमूढो हीयते वियुज्यतेऽस्मादर्थात् पुरुषार्थात् पारमार्थिकात्प्रयोजनान्नित्यात् प्रच्यवत इत्यर्थः । कोऽसौ य उ प्रेयो वृणीत उपादत्त इत्येतत् ॥ १ ॥

वे यद्यपि एक-एक पुरुषार्थसे सम्बन्ध रखनेवाले हैं तो भी विद्या और अविद्यारूप होनेके कारण परस्पर विरुद्ध है, अतः एकका परित्याग किये बिना एक पुरुषद्वारा उन दोनोंका साथ-साथ अनुष्ठान न हो सकनेके कारण उनमेंसे अविद्यारूप प्रेयको छोड़कर केवल श्रेयका ही स्वीकार करनेवालेका साधु—शुभ यानी कल्याण होता है । जो मूढ दूरदर्शी नही है वह इस अर्थ—पुरुषार्थ अर्थात् परमार्थसम्बन्धी नित्य प्रयोजनसे च्युत हो जाता है; वह कौन है ? वही जो कि प्रेयका वरण अर्थात् ग्रहण करता है—यह इसका तात्पर्य है ॥ १ ॥

यद्युभे अपि कर्तुं स्वायत्ते पुरुषेण किमर्थं प्रेय एवादत्ते बाहुल्येन लोक इत्युच्यते—

यदि श्रेय और प्रेय इन दोनोहीका करना मनुष्यके स्वाधीन है तो लोग अधिकतासे प्रेयको ही क्यो स्वीकार करते है ? इसपर कहा जाता है—

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेत-
स्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः ।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते
प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद्वृणीते ॥ २ ॥

श्रेय और प्रेय [परस्पर मिले हुए-से होकर] मनुष्यके पास आते है । उन दोनोको बुद्धिमान् पुरुष भली प्रकार विचारकर अलग-अलग करता है । विवेकी पुरुष प्रेयके सामने श्रेयका ही वरण करता है; किन्तु मूढ योग-क्षेमके निमित्तसे प्रेयका वरण करता है ॥ २ ॥

सत्यं स्वायत्ते तथापि साधनतः फलतश्च मन्दबुद्धीनां दुर्विवेकरूपे सती व्यामिश्रीभूते इव मनुष्यमेतं पुरुषमा इतः प्राप्नुतः श्रेयश्च प्रेयश्च । अतो हंस इवाम्भसः पयस्तौ श्रेयःप्रेयःपदार्थौ सम्परीत्य सम्यक्परिगम्य मनसालोच्य गुरुलाघवं विविनक्ति पृथक्करोति धीरो धीमान् । विविच्य च श्रेयो हि श्रेय एवाभिवृणीते प्रेयसोऽभ्यर्हितत्वात् । कोऽसौ धीरः ।

वे मनुष्यके अधीन हैं—यह बात ठीक है । तथापि वे श्रेय और प्रेय मन्दबुद्धि पुरुषोंके लिये साधन और फलदृष्टिसे जिनका पार्थक्य करना बहुत कठिन है ऐसे होकर परस्पर मिले हुए-से ही मनुष्य यानी इस जीवको प्राप्त होते है । अतः हंस जिस प्रकार जलसे दूध अलग कर लेता है उसी प्रकार धीर—बुद्धिमान् पुरुष उन श्रेय और प्रेय पदार्थोंका भली प्रकार परिगमन कर—मनसे उनकी आलोचना कर उनके गौरव और लाघवका विवेक यानी पृथक्करण करता है । इस प्रकार श्रेयका विवेचन कर वह प्रेयकी अपेक्षा अधिक अभीष्ट होनेके कारण श्रेयका ही ग्रहण करता है । परन्तु ऐसा करता कौन है ? वही जो बुद्धिमान् है ।

यस्तु मन्दोऽल्पबुद्धिः स विवेकासामर्थ्याद्योगक्षेमाद्योगक्षेमनिमित्तं शरीराद्युपचयरक्षणनिमित्तमित्येतत्प्रेयः पशुपुत्रादिलक्षणं वृणीते ॥ २ ॥

इसके विपरीत जो मन्द—अल्प बुद्धि है वह, विवेकशक्तिका अभाव होनेके कारण, जो योग-क्षेमका ही कारण है अर्थात् जो शरीरादिकी वृद्धि और रक्षाका ही निमित्त है उस पशु-पुत्रादिरूप प्रेयका ही वरण करता है ॥ २ ॥

स त्वं प्रियान्प्रियरूपाꣳश्च कामा-
नभिध्यायन्नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः ।
नैताꣳसृङ्कां वित्तमयीमवाप्तो
यस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्याः ॥ ३ ॥

हे नचिकेतः ! उस तूने पुत्र-वित्तादि प्रिय और अप्सरा आदि प्रियरूप भोगोंको, उनका असारत्व चिन्तन करके, त्याग दिया है और जिसमे बहुत-से मनुष्य डूब जाते है उस इस धनप्राया निन्दित गतिको तू प्राप्त नही हुआ ॥ ३ ॥

स त्वं पुनःपुनर्मया प्रलोभ्यमानोऽपि प्रियान् पुत्रादीन् प्रियरूपांश्चाप्सरःप्रभृतिलक्षणान् कामानभिध्यायंश्चिन्तयंस्तेषाम् अनित्यत्वासारत्वादिदोषान् हे नचिकेतोऽत्यस्राक्षीरतिसृष्टवान् परित्यक्तवानसहो बुद्धिमत्ता तव । नैतामवाप्तवानसि सृङ्कां सृतिं कुत्सितां मूढजनप्रवृत्तां

हे नचिकेतः ! तेरी बुद्धिमत्ता धन्य है; जिस तूने कि मेरे द्वारा बारम्बार प्रलोभित किये जानेपर भी पुत्रादि प्रिय तथा अप्सरा आदि प्रियरूप भोगोंका, उनकी अनित्यता और असारता आदि दोषोंका विचार करके परित्याग कर दिया, और जिसमे मूढ पुरुष प्रवृत्त हुआ करते है उस वित्तमयी—धनप्राया निन्दित गतिको तू प्राप्त नही

वित्तमयीं धनप्रायाम् । यस्यां सृतौ मज्जन्ति सीदन्ति बहवोऽनेके मूढा मनुष्याः ॥ ३ ॥

हुआ, जिस मार्गमे कि बहुत-से मूढ पुरुष डूब जाते अर्थात् दुःख उठाते है ॥ ३ ॥

तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीत इत्युक्तं तत्कस्माद्यतः—

'उनमेसे श्रेयको ग्रहण करनेवालेका शुभ होता है और जो प्रेयका वरण करता है वह स्वार्थसे पतित हो जाता है' ऐसा जो ऊपर (इस वल्लीके प्रथम मन्त्रमे) कहा गया है, सो क्यों ? [इसपर यमराज कहते है,] क्योंकि—

दूरमेते विपरीते विषूची
अविद्या या च विद्येति ज्ञाता ।
विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये
न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त ॥ ४ ॥

जो विद्या और अविद्यारूपसे जानी गयी है वे दोनो अत्यन्त विरुद्ध स्वभाववाली और विपरीत फल देनेवाली है । मैं तुझ नचिकेताको विद्याभिलाषी मानता हूँ, क्योंकि तुझे बहुत-से भोगोने भी नहीं लुभाया ॥ ४ ॥

दूरं दूरेण महतान्तरेणैते विपरीते अन्योन्यव्यावृत्तरूपे विवेकाविवेकात्मकत्वात्तमःप्रकाशाविव । विषूची विषूच्यौ नानागती भिन्नफले संसारमोक्षहेतुत्वेनेत्येतत् ।

ये दोनों प्रकाश और अन्धकारके समान विवेक और अविवेकरूप होनेसे 'दूरम्' अर्थात् महान् अन्तरके साथ विपरीत है—आपसमें एक-दूसरेसे व्यावृत्तरूप है । और विषूची अर्थात् नाना गतिवाले हैं यानी संसार और मोक्षके कारण होनेसे विभिन्न फलयुक्त है ।

के ते इत्युच्यते । या चाविद्या प्रेयोविषया विद्येति च श्रेयोविषया ज्ञाता निर्ज्ञातावगता पण्डितैः । तत्र विद्याभीप्सिनं विद्यार्थिनं नचिकेतसं त्वामहं मन्ये । कस्माद्यस्माद्विद्वद्बुद्धिप्रलोभिनः कामा अप्सरःप्रभृतयो बहवोऽपि त्वा त्वां नालोलुपन्त न विच्छेदं कृतवन्तः श्रेयोमार्गादात्मोपभोगाभिवाञ्छासंपादनेन । अतो विद्यार्थिनं श्रेयोभाजनं मन्य इत्यभिप्रायः ॥ ४ ॥

वे कौन है—इसपर कहते हैं—'जो कि पण्डितोंद्वारा प्रेयको विषय करनेवाली अविद्या तथा श्रेयोविषया विद्यारूपसे जानी गयी है । उनमे तुझ नचिकेताको मै विद्याभिलाषी अर्थात् विद्यार्थी मानता हूँ । क्यो मानता हूँ ? क्योंकि अविवेकियोंकी बुद्धिको प्रलोभित करनेवाले अप्सरा आदि बहुत-से भोग भी तुम्हे लुभा नहीं सके—उन्होंने तेरे हृदयमे अपने भोगकी इच्छा उत्पन्न करके तुझे श्रेयोमार्गसे विचलित नहीं किया । अतः मै तुझे विद्यार्थी यानी श्रेयका पात्र समझता हूँ—यह इसका अभिप्राय है ॥ ४ ॥

अविद्याग्रस्तोंकी दुर्दशा

ये तु संसारभाजनाः—

किन्तु जो संसारके पात्र है—

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः
स्वयं धीराः पण्डितंमन्यमानाः ।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा
अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥ ५ ॥

वे अविद्याके भीतर रहनेवाले, अपने-आप बड़े बुद्धिमान् बने हुए और अपनेको पण्डित माननेवाले मूढ पुरुष, अन्धेसे ही ले जाये जाते हुए अन्धेके समान अनेको कुटिल गतियोंकी इच्छा करते हुए भटकते रहते है ॥ ५ ॥

अविद्यायामन्तरे मध्ये घनीभूत इव तमसि वर्तमाना वेष्ट्यमानाः पुत्रपश्वादितृष्णापाशशतैः। स्वयं वयं धीराः प्रज्ञावन्तः पण्डिताः शास्त्रकुशलाश्चेति मन्यमानास्ते दन्द्रम्यमाणा अत्यर्थं कुटिलामनेकरूपां गतिम् इच्छन्तो जरामरणरोगादिदुःखैः परियन्ति परिगच्छन्ति मूढा अविवेकिनोऽन्धेनैव दृष्टिविहीनेनैव नीयमाना विषमे पथि यथा बहवोऽन्धा महान्तमनर्थमृच्छन्ति तद्वत् ॥५॥

वे घनीभूत अन्धकारके समान अविद्याके भीतर स्थित हो पुत्र-पशु आदि सैकड़ो तृष्णापाशोंसे बँधे हुए [व्यवहारमें लगे रहते हैं]। जिस प्रकार अन्धे यानी दृष्टिहीन पुरुषसे विषम मार्गमें ले जाये जाते हुए बहुतसे अन्धे महान् अनर्थको प्राप्त होते हैं उसी प्रकार 'हम बड़े धीर यानी बुद्धिमान् हैं और पण्डित अर्थात् शास्त्रकुशल हैं' इस प्रकार अपनेको माननेवाले वे मूढ—अविवेकी पुरुष नाना प्रकारकी अत्यन्त कुटिल गतियोंकी इच्छा करते हुए जरा, मरण और रोगादि दुःखोंसे सब ओर भटकते रहते हैं ॥५॥

अत एव मूढत्वात्—

अतएव मूढताके कारण—

न साम्परायः प्रतिभाति बालं
प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी
पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥ ६ ॥

धनके मोहसे अन्धे हुए और प्रमाद करनेवाले उस मूर्खको परलोकका साधन नहीं सूझता। यह लोक है, परलोक नहीं है—ऐसा माननेवाला पुरुष बारम्बार मेरे वशको प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

न साम्परायः प्रतिभाति । सम्पर ईयत इति सम्परायः परलोकस्तत्प्राप्तिप्रयोजनः साधनविशेषः शास्त्रीयः साम्परायः । स च बालमविवेकिनं प्रति न प्रतिभाति न प्रकाशते नोपतिष्ठत इत्येतत् ।

उसे साम्पराय भासित नहीं होता । देहपातके अनन्तर जिसके प्रति गमन किया जाय उसे सम्पराय—परलोक कहते है । उसकी प्राप्ति ही जिसका प्रयोजन है वह शास्त्रीय साधनविशेष साम्पराय है । वह बाल अर्थात् अविवेकी पुरुषके प्रति प्रकाशित नहीं होता, अर्थात् वह उसके चित्तके सम्मुख उपस्थित नहीं होता ।

प्रमाद्यन्तं प्रमादं कुर्वन्तं पुत्रपश्वादिप्रयोजनेष्वासक्तमनसं तथा वित्तमोहेन वित्तनिमित्तेनाविवेकेन मूढं तमसाच्छन्नं सन्तम् । अयमेव लोको योऽयं दृश्यमानः स्त्र्यन्नपानादिविशिष्टो नास्ति परोऽदृष्टो लोक इत्येवं मननशीलो मानी पुनः पुनर्जनित्वा वशं मदधीनतामापद्यते मे मृत्योर्मम । जननमरणादिलक्षणदुःखप्रबन्धारूढ एव भवतीत्यर्थः । प्रायेण ह्येवंविध एव लोकः ॥६॥

तथा जो प्रमाद करनेवाला है—जिसका चित्त पुत्र-पशु आदि प्रयोजनोंमें आसक्त है और जो धनके मोहसे अर्थात् धननिमित्तक अविवेकसे मूढ यानी अज्ञानसे आवृत है [उस मूढको परलोकका साधन नहीं सूझा करता] । "यह जो स्त्री और अन्न-पानादिविशिष्ट दृश्यमान लोक है बस यही है, इससे अन्य और कोई [स्वर्गादि] लोक नहीं है" जो पुरुष इस प्रकार माननेवाला है वह बारम्बार जन्म लेकर मुझ मृत्युकी अधीनताको प्राप्त होता है । अर्थात् वह जन्ममरणादिरूप दुःखपरम्परापर ही आरूढ रहता है । यह लोक प्रायः इसी प्रकारका है ॥६॥

आत्मज्ञानकी दुर्लभता

यस्तु श्रेयोऽर्थी सहस्रेषु कश्चिदेवात्मविद्भवति त्वद्विधो यस्मात्—

किन्तु जो तेरे समान श्रेयकी इच्छावाला है ऐसा तो हजारोंमे कोई ही आत्मवेत्ता होता है; क्योंकि—

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः
शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः ।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा-
श्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ॥ ७ ॥

जो बहुतोंको तो सुननेके लिये भी प्राप्त होनेयोग्य नहीं है, जिसे बहुतसे सुनकर भी नहीं समझते उस आत्मतत्त्वका निरूपण करनेवाला भी आश्चर्यरूप है, उसको प्राप्त करनेवाला भी कोई निपुण पुरुष ही होता है तथा कुशल आचार्यद्वारा उपदेश किया हुआ ज्ञाता भी आश्चर्यरूप है ॥७॥

श्रवणायापि श्रवणार्थं श्रोतुम् अपि यो न लभ्य आत्मा बहुभिरनेकैः शृण्वन्तोऽपि बहवोऽनेकेऽन्ये यमात्मानं न विद्युर्न विदन्त्यभागिनोऽसंस्कृतात्मानो न विजानीयुः । किं चास्य वक्तापि आश्चर्योऽद्भुतवदेवानेकेषु कश्चिद् एव भवति । तथा श्रुत्वाप्यस्य आत्मनः कुशलो निपुण एवानेकेषु लब्धा कश्चिदेव भवति । यस्माद् आश्चर्यो ज्ञाता कश्चिदेव कुशलानुशिष्टः कुशलेन निपुणेन आचार्येणानुशिष्टः सन् ॥७॥

जो आत्मा बहुतोंको तो सुननेके लिये भी नहीं मिलता तथा दूसरे बहुतसे अभागी अशुद्धचित्त पुरुष जिस आत्मतत्त्वको सुनकर भी नहीं जान पाते । यही नहीं, इसका वक्ता भी आश्चर्य अर्थात् अद्भुत-सा ही है—वह भी अनेकोंमे कोई ही होता है । तथा सुनकर भी इस आत्माका लब्धा (ग्रहण करनेवाला) तो अनेकोमे कोई निपुण पुरुष ही होता है, क्योकि जिसे [आत्म-दर्शनमे] कुशल आचार्यने उपदेश किया हो ऐसा इसका ज्ञाता भी आश्चर्यरूप ही है ॥७॥

कस्मात्— | क्योंकि—

न नरेणावरेण प्रोक्त एष
सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः ।
अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्ति
अणीयान्ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात् ॥ ८ ॥

कई प्रकारसे कल्पित किया हुआ यह आत्मा नीच पुरुषद्वारा कहे जानेपर अच्छी तरह नहीं जाना जा सकता । अभेददर्शी आचार्यद्वारा उपदेश किये गये इस आत्मामे [अस्ति-नास्तिरूप] कोई गति नहीं है, क्योंकि यह सूक्ष्म परिमाणवालोंसे भी सूक्ष्म और दुर्विज्ञेय है ॥८॥

न हि नरेण मनुष्येणावरेण प्रोक्तोऽवरेण हीनेन प्राकृतबुद्धिना इत्येतदुक्त एष आत्मा यं त्वं मां पृच्छसि न हि सुष्ठु सम्यग्विज्ञेयो विज्ञातुं शक्यो यस्माद् बहुधास्ति नास्ति कर्ताकर्ता शुद्धोऽशुद्ध इत्याद्यनेकधा चिन्त्यमानो वादिभिः ।

यह आत्मा, जिसके विषयमे तुम मुझसे पूछ रहे हो, किसी अवर—हीन यानी साधारण बुद्धि-वाले मनुष्यसे कहा जानेपर अच्छी तरह नहीं जाना जा सकता; क्योंकि इसका वादियोंद्वारा अस्ति-नास्ति, कर्ता-अकर्ता एवं शुद्ध-अशुद्ध—इस प्रकार अनेक तरहसे चिन्तन किया जाता है ।

कथं पुनः सुविज्ञेय इत्युच्यते—

विद्योपलब्धौ नैशिकादेशस्य प्राधान्यम्

अनन्यप्रोक्तेऽनन्येन अपृथग्दर्शिना आचार्येण प्रतिपाद्यब्रह्मात्मभूतेन प्रोक्त उक्त आत्मनि गतिरनेकधास्ति नास्तीत्यादिलक्षणा चिन्ता गतिरत्रास्मिन् आत्मनि नास्ति न विद्यते सर्वविकल्पगतिप्रत्यस्तमितत्वादात्मनः ।

तो फिर यह किस प्रकार अच्छी तरह जाना जाता है ? इसपर कहते है—अनन्यप्रोक्त—अनन्य अर्थात् अपने प्रतिपाद्य ब्रह्मस्वरूपको प्राप्त हुए अपृथग्दर्शी आचार्यद्वारा कहे हुए इस आत्मामें अस्ति-नास्ति-रूप गति यानी चिन्ता नहीं है, क्योंकि आत्मा सम्पूर्ण विकल्पोंकी गतिसे रहित है ।

अथवा स्वात्मभूतेऽनन्यस्मिन् आत्मनि प्रोक्तेऽनन्यप्रोक्ते गतिः अत्रान्यावगतिर्नास्ति ज्ञेयस्यान्यस्य अभावात् । ज्ञानस्य ह्येषा परा निष्ठा यदात्मैकत्वविज्ञानम् । अतोऽवगन्तव्याभावान्न गतिः अत्रावशिष्यते । संसारगतिर्वात्र नास्त्यनन्य आत्मनि प्रोक्ते नान्तरीयकत्वात्तद्विज्ञानफलस्य मोक्षस्य ।

अथवा अनन्यप्रोक्त—अपने स्वरूपभूत अनन्य आत्माका गुरुद्वारा उपदेश किये जानेपर अन्य ज्ञेय वस्तुका अभाव हो जानेके कारण उसमे कोई गति यानी अन्य अवगति (ज्ञान) नहीं रहती; क्योंकि आत्माके एकत्वका जो विज्ञान है यही ज्ञानकी परा निष्ठा है । अतः ज्ञेय वस्तुका अभाव हो जानेके कारण फिर यहाँ कोई और गति नहीं रहती । अथवा उस अनन्य अर्थात् स्वात्मभूत आत्मतत्त्वके उपदेश कर दिये जानेपर संसारकी गति नही रहती, क्योंकि उसके अनन्तर तुरन्त ही आत्मविज्ञानका फलरूप मोक्ष प्राप्त हो जाता है ।

अथवा प्रोच्यमानब्रह्मात्मभूतेनाचार्येण प्रोक्त आत्मनि अगतिरनवबोधोऽपरिज्ञानम् अत्र नास्ति । भवत्येवावगतिस्तद्विषया श्रोतुस्तदस्म्यहमित्याचार्यस्येवेत्यर्थः ।

अथवा जिसका आगे वर्णन किया जायगा उस ब्रह्मात्मभूत आचार्यद्वारा उपदेश किये हुए इस आत्मतत्त्वमे फिर अगति—अनवबोध अर्थात् अपरिज्ञान नहीं रहता । अर्थात् आचार्यके समान उस श्रोताको भी यह आत्मविषयक ज्ञान हो ही जाता है कि 'वह (ब्रह्म) मै हूँ' ।

एवं सुविज्ञेय आत्मा आगमवता आचार्येणानन्यतया प्रोक्तः । इतरथा ह्यणीयानणुप्रमाणादपि

इस प्रकार शास्त्रज्ञ आचार्यद्वारा अभिन्नरूपसे कहा हुआ आत्मा सुविज्ञेय होता है । नही तो, यह अणुप्रमाण वस्तुओंमे भी अणु हो

सम्प्रयुक्त आत्मा । अतर्क्यमतर्क्यः स्वबुद्ध्याभ्यूहेन केवलेन तर्केण । तर्क्यमाणेऽणुपरिमाणे केनचित् स्थापित आत्मनि ततो ह्यणुतरम् अन्योऽभ्यूहति ततोऽप्यन्योऽणुतममिति न हि कुतर्कस्य निष्ठा क्वचिद्विद्यते ॥ ८ ॥

जाता है; अपनी बुद्धिसे निकाले हुए केवल तर्कद्वारा इसका ज्ञान नहीं हो सकता । यदि कोई पुरुष तर्क करके उस अणुपरिमाण आत्माको स्थापित भी करे तो दूसरा उससे भी अणु तथा तीसरा उससे भी अत्यन्त अणु स्थापित कर देगा, क्योंकि कुतर्ककी स्थिति कहीं भी नहीं है ॥ ८ ॥

नैषा तर्केण मतिरापनेया
प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ ।
यां त्वमापः सत्यधृतिर्बतासि
त्वादृङ्नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा ॥ ९ ॥

हे प्रियतम ! सम्यक् ज्ञानके लिये शुष्क तार्किकसे भिन्न शास्त्रज्ञ आचार्यद्वारा कही हुई यह बुद्धि, जिसे कि तू प्राप्त हुआ है, तर्कद्वारा प्राप्त होने योग्य नहीं है । अहा ! तू बड़ा ही सत्य धारणावाला है । हे नचिकेतः ! हमें तेरे समान प्रश्न करनेवाला प्राप्त हो ॥ ९ ॥

अतोऽनन्यप्रोक्त आत्मनि उत्पन्ना येयमागमप्रतिपाद्यात्ममतिर्नैषा तर्केण स्वबुद्ध्यभ्यूहमात्रेणापनेया न प्रापणीयेत्यर्थः । नापनेतव्या वा न हातव्या

अतः अभेददर्शी आचार्यद्वारा उपदेश किये हुए आत्मामें उत्पन्न हुई जो यह शास्त्रप्रतिपाद्य आत्मविषयक मति है वह तर्कसे अर्थात् अपनी बुद्धिके ऊहापोहमात्रसे प्राप्त होने योग्य नहीं है । अथवा [यह समझो कि] यह आत्मबुद्धि तर्कशक्तिसे अपनेतव्य यानी छोड़ी

तार्किको ह्यनागमज्ञः स्वबुद्धिपरिकल्पितं यत्किञ्चिदेव कथयति । अत एव च येयमागमप्रभूता मतिरन्येनैवागमाभिज्ञेन आचार्येणैव तार्किकात्प्रोक्ता सती सुज्ञानाय भवति हे प्रेष्ठ प्रियतम ।

जाने योग्य नहीं है, क्योंकि तार्किक तो अध्यात्मशास्त्रसे अनभिज्ञ होता है, वह अपनी बुद्धिसे परिकल्पित चाहे जो कहता रहता है । अतः हे प्रेष्ठ—प्रियतम ! यह जो शास्त्रजनित आत्मबुद्धि है वह तो तार्किकसे भिन्न किसी शास्त्रज्ञ आचार्यद्वारा उपदेश की जानेपर ही सम्यक् ज्ञानकी कारण होती है ।

का पुनः सा तर्कागम्या मतिरित्युच्यते—

अच्छा तो, तर्कसे प्राप्त न होने योग्य वह मति कौन-सी है ? इसपर कहते है—

यां त्वं मतिं मद्वरप्रदानेन आपः प्राप्तवानसि । सत्या अवितथविषया धृतिर्यस्य तव स त्वं सत्यधृतिर्बतासीत्यनुकम्पयन्नाह मृत्युर्नचिकेतसं वक्ष्यमाणविज्ञानस्तुतये । त्वादृक्त्वत्तुल्यो नः अस्मभ्यं भूयाद्भवताद्भवत्त्वन्यः पुत्रः शिष्यो वा प्रष्टा; कीदृग्यादृक्त्वं हे नचिकेतः प्रष्टा ॥ ९ ॥

जिस मतिको तूने मेरे वरप्रदानसे प्राप्त किया है । जिस तेरी धृति सत्य अर्थात् यथार्थ पदार्थको विषय करनेवाली है वह तू सत्यधृति है । 'बत' इस अव्ययसे अनुकम्पा करते हुए यमराज आगे कहे जानेवाले विज्ञानकी स्तुतिके लिये नचिकेतासे कहते हैं—'हे नचिकेतः ! हमे तेरे समान प्रश्न करनेवाला और भी पुत्र अथवा शिष्य मिले । परन्तु वह हो कैसा ? जैसा कि तू प्रश्न करनेवाला है' ॥ ९ ॥

पुनरपि तुष्ट आह—

नचिकेतासे प्रसन्न हुए मृत्युने फिर भी कहा—

कर्मफलकी अनित्यता

जानाम्यहꣳ शेवधिरित्यनित्यं
न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत् ।
ततो मया नाचिकेतश्चितोऽग्नि-
रनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम् ॥ १० ॥

मै यह जानता हूँ कि कर्मफलरूप निधि अनित्य है, क्योंकि अनित्य साधनोंद्वारा वह नित्य [आत्मा] प्राप्त नही किया जा सकता। तब मेरेद्वारा नाचिकेत अग्निका चयन किया गया। उन अनित्य पदार्थोंसे ही मैं [आपेक्षिक] नित्य [याम्यपद] को प्राप्त हुआ हूँ ॥ १० ॥

जानाम्यहं शेवधिर्निधिः कर्मफललक्षणो निधिरिव प्रार्थ्यत इति। असावनित्यमनित्य इति जानामि। न हि यस्मादनित्यैः अध्रुवैर्नित्यं ध्रुवं तत्प्राप्यते परमात्माख्यः शेवधिः। यस्त्वनित्यसुखात्मकः शेवधिः स एवानित्यैर्द्रव्यैः प्राप्यते।

हि यतस्ततस्तस्मान्मया जानतापि नित्यमनित्यसाधनैर्न प्राप्यत इति नाचिकेतश्चितोऽग्निः अनित्यैर्द्रव्यैः पश्वादिभिः स्वर्गसुखसाधनभूतोऽग्निर्निर्वर्तित

जिसके लिये निधि (खजाने) के समान प्रार्थना की जाती है वह कर्मफलरूप निधि ही 'शेवधि' है। यह अनित्य—सदा न रहनेवाली है—ऐसा मैं जानता हूँ। क्योकि इन अनित्य यानी अस्थिर साधनोंसे वह परमात्मा नामक नित्य—स्थिर निधि प्राप्त नहीं की जा सकती। जो निधि अनित्यसुखस्वरूप है वही अनित्य पदार्थोंसे प्राप्त होती है।

क्योकि ऐसा है इसलिये मैने यह जान-बूझकर भी कि 'अनित्य साधनोसे नित्यकी प्राप्ति नहीं होती' नाचिकेत अग्निका चयन किया था; अर्थात् पशु आदि अनित्य पदार्थोंसे स्वर्ग-सुखके साधनस्वरूप उस अग्निका

इत्यर्थः । तेनाहमधिकारापन्नो नित्यं याम्यं स्थानं स्वर्गाख्यं नित्यमापेक्षिकं प्राप्तवानस्मि ॥१०॥

सम्पादन किया था। उसीसे मैं अधिकारसम्पन्न होकर आपेक्षिक नित्य स्वर्ग नामक याम्यस्थानको प्राप्त हुआ हूँ ॥ १० ॥

नचिकेताके त्यागकी प्रशंसा

कामस्याप्तिं जगतः प्रतिष्ठां
क्रतोरनन्त्यमभयस्य पारम् ।
स्तोममहदुरुगायं प्रतिष्ठां दृष्ट्वा
धृत्या धीरो नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः ॥ ११ ॥

हे नचिकेतः ! तूने बुद्धिमान् होकर भोगोंकी समाप्ति (अवधि), जगत्की प्रतिष्ठा, यज्ञफलके अनन्तत्व, अभयकी मर्यादा, स्तुत्य और महती (अणिमादि ऐश्वर्ययुक्त) विस्तीर्ण गति तथा प्रतिष्ठाको देखकर भी उसे धैर्यपूर्वक त्याग दिया है ॥ ११ ॥

त्वं तु कामस्याप्तिं समाप्तिम्, अत्रैवेहैव सर्वे कामाः परिसमाप्ताः, जगतः साध्यात्माधिभूताधिदैवादेः प्रतिष्ठामाश्रयं सर्वात्मकत्वात्, क्रतोः फलं हैरण्यगर्भं पदमनन्त्यमानन्त्यम्, अभयस्य च पारं परां निष्ठाम्, स्तोमं

किन्तु हे नचिकेतः ! तुमने तो धीर—धृतिमान् होकर कामनाओंकी प्राप्ति—समाप्तिको, क्योंकि इस [हिरण्यगर्भ पद] में ही सम्पूर्ण कामनाएँ समाप्त होती हैं, तथा सर्वात्मक होनेके कारण अध्यात्म, अधिभूत एवं अधिदैवरूप जगत्की प्रतिष्ठा यानी आश्रयको, यज्ञके अनन्त्य— आनन्त्य अर्थात् अनन्त फल हिरण्यगर्भ पदको, अभयके पार अर्थात् परा निष्ठाको और स्तोम—

स्तुत्यं महदणिमाद्यैश्वर्याद्यनेकगुणसंहतं स्तोमं च तन्महच्च निरतिशयत्वात्स्तोममहत्, उरुगायं विस्तीर्णां गतिम्, प्रतिष्ठां स्थितिमात्मनोऽनुत्तमामपि दृष्ट्वा धृत्या धैर्येण धीरो धीमान्सन् नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः परमेव आकाङ्क्षन्नतिसृष्टवानसि सर्वम् एतत् संसारभोगजातम् । अहो बतानुत्तमगुणोऽसि ॥ ११ ॥

स्तुत्य तथा महत्—अणिमादि ऐश्वर्य आदिक अनेक गुणोंके सङ्घातसे युक्त, इस प्रकार जो स्तोम है और महत् भी है ऐसे सर्वोत्कृष्ट होनेके कारण स्तोममहत् उरुगाय—विस्तीर्ण गतिको तथा प्रतिष्ठा—अपनी सर्वोत्तम स्थितिको देखकर भी उसे धैर्यपूर्वक त्याग दिया । अर्थात् एकमात्र परवस्तुकी ही इच्छा करते हुए इस सम्पूर्ण सांसारिक भोगसमूहका परित्याग कर दिया । अहो ! तुम बड़े ही उत्कृष्ट गुणसम्पन्न हो ! ॥ ११ ॥

यं त्वं ज्ञातुमिच्छस्यात्मानम्—

जिस आत्माको तुम जानना चाहते हो—

आत्मज्ञानका फल

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं
गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् ।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं
मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥ १२ ॥

उस कठिनतासे दीख पड़नेवाले, गूढ स्थानमें अनुप्रविष्ट, बुद्धिमें स्थित, गहन स्थानमें रहनेवाले, पुरातन देवको अध्यात्मयोगकी प्राप्तिद्वारा जानकर धीर (बुद्धिमान्) पुरुष हर्ष-शोकको त्याग देता है ॥ १२ ॥

तं दुर्दर्शं दुःखेन दर्शनम् अस्येति दुर्दर्शोऽतिसूक्ष्मत्वात्, गूढं गहनमनुप्रविष्टं प्राकृतविषयविकारविज्ञानैः प्रच्छन्नमित्येतत्, गुहाहितं गुहायां बुद्धौ स्थितं तत्रोपलभ्यमानत्वात्, गह्वरेष्ठं गह्वरे विषमेऽनेकानर्थसंकटे तिष्ठतीति गह्वरेष्ठम्। यत एवं गूढमनुप्रविष्टो गुहाहितश्चातो गह्वरेष्ठः; अतो दुर्दर्शः।

अति सूक्ष्म होनेके कारण दुर्दर्श—जिसका कठिनतासे दर्शन हो सके उसे दुर्दर्श कहते है, गूढ अर्थात् गहन स्थानमे अनुप्रविष्ट यानी शब्दादि प्राकृत विषयविकाररूप विज्ञानसे छिपे हुए, गुहा—बुद्धिमें उपलब्ध होनेके कारण उसीमें स्थित तथा गह्वरेष्ठ—गह्वर—विषम यानी अनेक अनर्थोंसे सङ्कुलित स्थानमें रहनेवाले [देवको जानकर धीर पुरुष हर्ष-शोकको त्याग देता है]। क्योंकि आत्मा इस प्रकार गूढ स्थानमे अनुप्रविष्ट और बुद्धिमें स्थित है इसलिये वह गह्वरेष्ठ है तथा गह्वरेष्ठ होनेके कारण ही दुर्दर्श है।

तं पुराणं पुरातनमध्यात्मयोगाधिगमेन विषयेभ्यः प्रतिसंहृत्य चेतस आत्मनि समाधानम् अध्यात्मयोगस्तस्याधिगमस्तेन मत्वा देवमात्मानं धीरो हर्षशोकावात्मन उत्कर्षापकर्षयोः अभावाज्जहाति ॥ १२ ॥

उस पुराण यानी पुरातन देवको अध्यात्मयोगकी—चित्तको विषयोसे हटाकर आत्मामे लगा देना अध्यात्मयोग है, उसकी प्राप्तिद्वारा जानकर धीर पुरुष अपने उत्कर्ष-अपकर्षका अभाव हो जानेके कारण हर्ष-शोकका परित्याग कर देता है ॥ १२ ॥
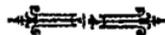
एतच्छ्रुत्वा संपरिगृह्य मर्त्यः
प्रवृह्य धर्म्यमणुमेतमाप्य ।
स मोदते मोदनीयꣳहि लब्ध्वा
विवृतꣳ सद्म नचिकेतसं मन्ये ॥ १३ ॥

मनुष्य इस आत्मतत्त्वको सुनकर और उसका भली प्रकार ग्रहण कर धर्मी आत्माको देहादि संघातसे पृथक् करके इस सूक्ष्म आत्माको पाकर तथा इस मोदनीयकी उपलब्धि कर अति आनन्दित हो जाता है । मै [तुझ] नचिकेताको खुले हुए ब्रह्मभवनवाला समझता हूँ, [अर्थात् हे नचिकेतः ! मेरे विचारसे तेरे लिये मोक्षका द्वार खुला हुआ है]॥ १३॥

एतदात्मतत्त्वं यदहं वक्ष्यामि तच्छ्रुत्वाचार्यप्रसादात्सम्यगात्मभावेन परिगृह्योपादाय मर्त्यो मरणधर्मा धर्मादनपेतं धर्म्यं प्रवृह्योद्यम्य पृथक्कृत्य शरीरादेः अणुं सूक्ष्ममेतमात्मानम् आप्य प्राप्य स मर्त्यो विद्वान्मोदते मोदनीयं हर्षणीयमात्मानं लब्ध्वा । तदेतदेवंविधं ब्रह्मसद्म भवनं नचिकेतसं त्वां प्रत्यपावृतद्वारं विवृतमभिमुखीभूतं मन्ये मोक्षार्हं त्वां मन्य इत्यभिप्रायः ॥ १३ ॥

इस आत्मतत्त्वको, जिसका कि अब मैं वर्णन करूँगा, उसे सुनकर—आचार्यकी कृपासे भली प्रकार आत्मभावसे ग्रहण कर मरणधर्मा मनुष्य इस धर्म्य—धर्मविशिष्ट आत्माको शरीरादिसे उद्यमन करके यानी पृथक् करके तथा इस अणु अर्थात् सूक्ष्म और मोदनीय—हर्षयोग्य आत्माको उपलब्ध कर वह मरणशील विद्वान् आनन्दित हो जाता है । इस प्रकारके तुझ नचिकेताके प्रति मैं ब्रह्मभवनको खुले द्वारवाला अर्थात् अभिमुख हुआ मानता हूँ । अभिप्राय यह कि मैं तुझे मोक्षके योग्य समझता हूँ ॥ १३ ॥

यद्यहं योग्यः प्रसन्नश्चासि भगवन्मां प्रति—

[नचिकेता बोला—] भगवन् ! यदि मै योग्य हूँ और आप मुझपर प्रसन्न हैं तो—

सर्वातीतवस्तुविषयक प्रश्न

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात् ।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद ॥१४॥

जो धर्मसे पृथक्, अधर्मसे पृथक् तथा इस कार्यकारणरूप प्रपञ्चसे भी पृथक् है और जो भूत एवं भविष्यत्से भी अन्य है—ऐसा आप जिसे देखते है वही मुझसे कहिये ॥ १४ ॥

अन्यत्र धर्माच्छास्त्रीयाद्धर्मानुष्ठानात्तत्फलात्तत्कारकेभ्यश्च पृथग्भूतमित्यर्थः । तथान्यत्र अधर्मात्तथान्यत्रास्मात्कृताकृतात् कृतं कार्यमकृतं कारणमस्माद् अन्यत्र । किं चान्यत्र भूताच्चातिक्रान्तात्कालाद्भव्याच्च भविष्यतश्च तथा वर्तमानात्; कालत्रयेण यन्न परिच्छिद्यत इत्यर्थः । यद् ईदृशं वस्तु सर्वव्यवहारगोचरातीतं पश्यसि तद्वद मह्यम् ॥१४॥

जो धर्म यानी शास्त्रीय धर्मानुष्ठान, उसके फल तथा [कर्ता-करण आदि] कारकोंसे अन्यत्र—पृथग्भूत है, तथा जो अधर्मसे भिन्न है और कृत—कार्य तथा अकृत—कारण इस प्रकार इस कार्य-कारण (स्थूल-सूक्ष्म प्रपञ्च)से भी पृथक् है, यही नही भूत अर्थात् बीते हुए, भव्य—आगामी' तथा वर्तमान कालसे भी अन्यत्र है; तात्पर्य यह है कि जो तीनो कालोसे परिच्छिन्न नहीं है । ऐसी जिस सम्पूर्ण व्यवहारविपयसे अतीत वस्तुको आप देखते है वह मुझसे कहिये ॥१४॥

इत्येवं पृष्टवते मृत्युरुवाच पृष्टं वस्तु विशेषणान्तरं च विवक्षन्—

इस प्रकार पूछते हुए नचिकेतासे, पूछी हुई वस्तु तथा उसके अन्य विशेषणको बतलानेकी इच्छासे यमराजने कहा—

ओङ्कारोपदेश

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति
तपाँसि सर्वाणि च यद्वदन्ति ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदँसंग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥१५॥

सारे वेद जिस पदका वर्णन करते है, समस्त तपोको जिसकी प्राप्तिके साधक कहते है, जिसकी इच्छासे [मुमुक्षु जन] ब्रह्मचर्यका पालन करते है उस पदको मै तुमसे संक्षेपमे कहता हूँ । 'ॐ' यही वह पद है ॥ १५ ॥

सर्वे वेदा यत्पदं पदनीयं गमनीयमविभागेनामनन्ति प्रतिपादयन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति यत्प्राप्त्यर्थानीत्यर्थः । यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं गुरुकुलवासलक्षणमन्यद्वा ब्रह्मप्राप्त्यर्थं चरन्ति तत्ते तुभ्यं पदं यज्ज्ञातुम् इच्छसि संग्रहेण संक्षेपतो ब्रवीमि ।

समस्त वेद जिस पद अर्थात् गमनीय स्थानका अविभागसे यानी एक रूपसे आमनन—प्रतिपादन करते है, समस्त तपोको भी जिसके लिये कहते है अर्थात् वे जिस स्थानकी प्राप्तिके लिये है, जिसकी इच्छासे गुरुकुलवासरूप ब्रह्मचर्य अथवा ब्रह्मप्राप्तिमे उपयोगी कोई और साधन करते है उस पदको, जिसे कि तू जानना चाहता है, मैं संक्षेपमे कहता हूँ ।

ओमित्येतत् । तदेतत्पदं यद्बुभुत्सितं त्वया । यदेतद् ओमित्योंशब्दवाच्यमोंशब्दप्रतीकं च ॥ १५ ॥

'ॐ' यही वह पद है। यह जो 'ॐ' है यानी जो ॐ शब्दका वाच्य और ॐ ही जिसका प्रतीक है वही वह पद है जिसे तू जानना चाहता है ॥ १५ ॥

अतः—

इसलिये—

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम् ।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥ १६ ॥

यह अक्षर ही ब्रह्म है, यह अक्षर ही पर है, इस अक्षरको ही जानकर जो जिसकी इच्छा करता है, वही उसका हो जाता है ॥ १६॥

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्मापरमेतद्ध्येवाक्षरं परं च । तयोर्हि प्रतीकमेतदक्षरम्, एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वोपास्यब्रह्मेति यो यदिच्छति परमपरं वा तस्य तद्भवति । परं चेज्ज्ञातव्यमपरं चेत्प्राप्तव्यम् ॥ १६ ॥

यह अक्षर ही अपर ब्रह्म है और यह अक्षर ही पर ब्रह्म है। यह अक्षर उन दोनोहीका प्रतीक है। इस अक्षरको ही 'यही उपास्य ब्रह्म है' ऐसा जानकर जो पर अथवा अपर जिस ब्रह्मकी इच्छा करता है उसे वही प्राप्त हो जाता है। यदि उसका उपास्य पर ब्रह्म हो तो वह केवल जाना जा सकता है और यदि अपर ब्रह्म हो तो प्राप्त किया जा सकता है ॥ १६ ॥

यत एवमतः—

क्योंकि ऐसी बात है, इसलिये—

एतदालम्बनꣳ श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् ।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥ १७ ॥

यही श्रेष्ठ आलम्बन है, यही पर आलम्बन है। इस आलम्बनको जानकर पुरुष ब्रह्मलोकमें महिमान्वित होता है ॥ १७ ॥

एतदालम्बनमेतद्ब्रह्मप्राप्त्यालम्बनानां श्रेष्ठं प्रशस्यतमम्। एतदालम्बनं परमपरं च परापरब्रह्मविषयत्वात्। एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते परस्मिन् ब्रह्मणि। अपरस्मिंश्च ब्रह्मभूतो ब्रह्मवदुपास्यो भवतीत्यर्थः ॥ १७ ॥

यह [ओंकाररूप] आलम्बन ब्रह्मप्राप्तिके [गायत्री आदि] सभी आलम्बनोंमें श्रेष्ठ यानी सबसे अधिक प्रशंसनीय है। पर और अपर ब्रह्मविषयक होनेसे यह आलम्बन पर और अपररूप है। तात्पर्य यह है कि इस आलम्बनको जानकर साधक ब्रह्मलोक अर्थात् परब्रह्ममें स्थित होकर महिमान्वित होता है तथा अपर ब्रह्ममें ब्रह्मत्वको प्राप्त होकर ब्रह्मके समान उपासनीय होता है ॥ १७ ॥

अन्यत्र धर्मादित्यादिना पृष्टस्यात्मनोऽशेषविशेषरहितस्य आलम्बनत्वेन प्रतीकत्वेन चोङ्कारो निर्दिष्टः; अपरस्य च ब्रह्मणो मन्दमध्यमप्रतिपत्तॄन्प्रति। अथेदानीं तस्योङ्कारालम्बनस्यात्मनः साक्षात्स्वरूपनिर्दिधारयिषया इदमुच्यते—

उपर्युक्त 'अन्यत्र धर्मात्' इत्यादि श्लोकसे नचिकेताद्वारा पूछे गये सर्वविशेषरहित आत्माके तथा मन्द और मध्यम उपासकोंके लिये अपर ब्रह्मके प्रतीक और आलम्बनरूपसे ओंकारका निर्देश किया गया। अब, जिसका आलम्बन ओंकार है उस आत्माके स्वरूपका साक्षात् निर्धारण करनेकी इच्छासे यह कहा जाता है—

आत्मस्वरूपनिरूपण

न जायते म्रियते वा विपश्चि-
न्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ १८ ॥

यह विपश्चित्—मेधावी आत्मा न उत्पन्न होता है, न मरता है; यह न तो किसी अन्य कारणसे ही उत्पन्न हुआ है और न खतः ही कुछ [अर्थान्तररूपसे] बना है। यह अजन्मा, नित्य (सदासे वर्तमान), शाश्वत (सर्वदा रहनेवाला) और पुरातन है तथा शरीरके मारे जानेपर भी स्वयं नहीं मरता ॥ १८ ॥

न जायते नोत्पद्यते म्रियते वा न म्रियते चोत्पत्तिमतो वस्तुनोऽनित्यस्य अनेकविक्रियाः तासामाद्यन्ते जन्मविनाशलक्षणे विक्रिये इहात्मनि प्रतिषिध्येते प्रथमं सर्वविक्रियाप्रतिषेधार्थं न जायते म्रियते वेति। विपश्चिन्मेधावी, अविपरिलुप्तचैतन्यस्वभावात्।

यह आत्मा उत्पन्न नहीं होता और न मरता ही है। उत्पन्न होनेवाली अनित्य वस्तुके अनेक विकार होते है।'यहाँ—आत्मामे सब विकारोंका प्रतिषेध करनेके लिये 'न जायते म्रियते वा' ऐसा कहकर सबसे पहले उनमेसे जन्म और विनाशरूप आदि और अन्तके विकारोका निषेध किया जाता है। कभी लुप्त न होनेवाले चैतन्यरूप स्वभावके कारण आत्मा विपश्चित् यानी मेधावी है।

किं च नायमात्मा कुतश्चित् कारणान्तराद्बभूव। स्वस्माच्च आत्मनो न बभूव कश्चिदर्थान्तरभूतः। अतोऽयमात्माऽजो नित्यः शाश्वतोऽपक्षयविवर्जितः। यो ह्यशाश्वतः सोऽपक्षीयते; अयं

तथा यह आत्मा कहीसे अर्थात् किसी अन्य कारणसे उत्पन्न नहीं हुआ और न अर्थान्तररूपसे स्वयं अपनेसे ही हुआ है। इसलिये यह आत्मा अजन्मा, नित्य और शाश्वत—यानी क्षयरहित है, क्योंकि जो अशाश्वत होता है वही क्षीण हुआ

तु शाश्वतोऽत एव पुराणः पुरापि नव एवेति । यो ह्यवयवोपचयद्वारेणाभिनिर्वर्त्यते स इदानीं नवो यथा कुम्भादिः । तद्विपरीतस्त्वात्मा पुराणो वृद्धिविवर्जित इत्यर्थः ।

यत एवमतो न हन्यते न हिंस्यते हन्यमाने शस्त्रादिभिः शरीरे । तत्स्थोऽप्याकाशवदेव ॥ १८ ॥

करता है । यह तो शाश्वत है, इसलिये पुराण भी है यानी प्राचीन होकर भी नवीन ही है । क्योंकि जो पदार्थ अवयवोंके उपचय (वृद्धि) से निष्पन्न किया जाता है वही 'इस समय नया है' ऐसा कहा जाता है; जैसे घड़ा आदि । किन्तु आत्मा उससे विपरीत स्वभाववाला है; अर्थात् वह पुराण यानी वृद्धिरहित है ।

क्योंकि ऐसा है; इसलिये शस्त्रादिद्वारा शरीरके मारे जानेपर भी वह नहीं मरता—उसकी हिंसा नहीं होती । अर्थात् शरीरमे रहकर भी वह आकाशके समान निर्लिप्त ही है ॥ १८ ॥

हन्ता चेन्मन्यते हन्तुꣳहतश्चेन्मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायꣳहन्ति न हन्यते ॥ १९ ॥

यदि मारनेवाला आत्माको मारनेका विचार करता है और मारा जानेवाला उसे मारा हुआ समझता है तो वे दोनो ही उसे नहीं जानते, क्योंकि यह न तो मारता है और न मारा जाता है ॥ १९ ॥

एवंभूतमप्यात्मानं शरीरमात्रात्मदृष्टिर्हन्ता चेद्यदि मन्यते चिन्तयति हन्तुं हनिष्याम्येनम्

ऐसे प्रकारके आत्माको भी जो देहमात्रको ही आत्मा समझनेवाला किसीको मारनेवाला पुरुष यदि किसीको मारनेका विचार करता

इति योऽप्यन्यो हतः सोऽपि चेन्मन्यते हतमात्मानं हतोऽहम् इत्युभावपि तौ न विजानीतः स्वमात्मानं यतो नायं हन्ति अविक्रियत्वादात्मनस्तथा न हन्यत आकाशवदविक्रियत्वादेव। अतोऽनात्मज्ञविषय एव धर्माधर्मादिलक्षणः संसारो न ब्रह्मज्ञस्य। श्रुतिप्रामाण्यान्न्यायाच्च धर्माधर्माद्यनुपपत्तेः ॥१९॥

है—यह सोचता है कि मैं इसे मारूँगा, तथा दूसरा मारा जानेवाला भी यह समझकर कि 'मैं मारा गया हूँ' अपने (आत्मा) को मारा गया मानता है तो वे दोनो ही अपने आत्माको नही जानते; क्योंकि आत्मा अविकारी है, इसलिये वह मार नहीं सकता और आकाशके समान अविकारी होनेसे ही मारा भी नहीं जा सकता। अतः धर्माधर्मादिरूप संसार अनात्मज्ञसे ही सम्बन्ध रखता है, ब्रह्मज्ञसे नहीं। क्योंकि श्रुतिप्रमाण और युक्तिसे भी ब्रह्मज्ञानीद्वारा धर्म-अधर्म आदि नहीं बन सकते ॥ १९ ॥

कथं पुनरात्मानं जानाति इत्युच्यते—

तो फिर मुमुक्षु पुरुष आत्माको किस रूपसे जानता है? इसपर कहते है—

अणोरणीयान्महतो महीया-
नात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको
धातुप्रसादान्महिमानमात्मनः ॥ २० ॥

यह अणुसे भी अणुतर और महान्से भी महत्तर आत्मा जीवकी हृदयरूप गुहामे स्थित है। निष्काम पुरुष अपनी इन्द्रियोके प्रसादसे आत्माकी उस महिमाको देखता है और शोकरहित हो जाता है ॥२०॥

अणोः सूक्ष्मादणीयाञ्श्यामाकादेरणुतरः। महतो महत्परिमाणान्महीयान्महत्तरःपृथिव्यादेः। अणु महद्वा यदस्ति लोके वस्तु तत्तेनैवात्मना नित्येन आत्मवत्संभवति । तदात्मना विनिर्मुक्तमसत्संपद्यते । तस्माद् असावेवात्माणोरणीयान्महतो महीयान्सर्वनामरूपवस्तूपाधिकत्वात्। स चात्मास्य जन्तोर्ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तस्य प्राणिजातस्य गुहायां हृदये निहित आत्मभूतः स्थित इत्यर्थः ।

आत्मा अणुसे भी अणुतर अर्थात् श्यामाक आदि सूक्ष्म पदार्थोंसे भी सूक्ष्मतर तथा महान्‌से भी महत्तर यानी पृथिवी आदि महत्परिमाणवाले पदार्थोंसे भी महत्तर है । संसारमे अणु अथवा महत्परिमाणवाली जो कुछ वस्तु है वह उस नित्यस्वरूप आत्मासे ही आत्मवान् (स्वरूपसत्तायुक्त) हो सकती है। आत्मासे परित्यक्त हो जानेपर वह सत्ताशून्य हो जाती है । अतः यह आत्मा ही अणु-से-अणुतर और महान्-से-महत्तर है, क्योंकि नाम-रूपवाली सभी वस्तुएँ इसकी उपाधि है। वह आत्मा ही ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त इस सम्पूर्ण प्राणिसमुदायकी गुहा—हृदयमे निहित है अर्थात् अन्तरात्मरूपसे स्थित है ।

तमात्मानं दर्शनश्रवणमननविज्ञानलिङ्गमक्रतुरकामो दृष्टादृष्टबाह्यविषयोपरतबुद्धिरित्यर्थः। यदा चैवं तदा मनआदीनि करणानि धातवः शरीरस्य धारणात्प्रसीदन्तीत्येषां धातूनां

देखना, सुनना, मनन करना और जानना—ये जिसके लिङ्ग हैं उस आत्माको अक्रतु—निष्काम पुरुष अर्थात् जिसकी बुद्धि दृष्ट और अदृष्ट बाह्य विषयोसे उपरत हो गयी है, क्योंकि जिस समय ऐसी स्थिति होती है उसी समय मन आदि इन्द्रियाँ, जो कि शरीरको धारण करनेके कारण धातु कहलाती हैं, प्रसन्न होती है—सो,

प्रसादादात्मनो महिमानं कर्मनिमित्तवृद्धिक्षयरहितं पश्यत्ययम् अहमस्मीति साक्षाद्विजानाति । ततो वीतशोको भवति ॥२०॥

इन धातुओंके प्रसादसे वह अपने आत्माकी कर्मनिमित्तक वृद्धि और क्षयसे रहित महिमाको देखता है; अर्थात् इस बातको साक्षात् जानता है कि 'मैं यह हूँ'। [ऐसा जानकर] फिर वह शोकरहित हो जाता है॥२०॥

अन्यथा दुर्विज्ञेयोऽयमात्मा कामिभिः प्राकृतपुरुषैः, यस्मात्—

अन्यथा सकाम प्राकृत पुरुषोंके लिये यह आत्मा बड़ा दुर्विज्ञेय है; क्योंकि—

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः ।
कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति ॥ २१ ॥

वह स्थित हुआ भी दूरतक जाता है, शयन करता हुआ भी सब ओर पहुँचता है । मद (हर्ष) से युक्त और मदसे रहित उस देवको भला मेरे सिवा और कौन जान सकता है ? ॥ २१ ॥

आसीनोऽवस्थितोऽचल एव सन् दूरं व्रजति । शयानो याति सर्वत एवमसावात्मा देवो मदामदः समदोऽमदश्च सहर्षोऽहर्षश्च विरुद्धधर्मवानतोऽशक्यत्वाज्ज्ञातुं कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति ?

आसीन—अवस्थित अर्थात् अचल होकर भी वह दूर चला जाता है तथा शयन करता हुआ भी सब ओर पहुँचता है । इस प्रकार वह आत्मा—देव समद और अमद यानी हर्षसहित और हर्षरहित—विरुद्ध धर्मवाला है । अतः जाननेमें न आ सकनेके कारण उस मदयुक्त और मदरहित देवको मेरे सिवा और कौन जान सकता है ?

अस्मदादेरेव सूक्ष्मबुद्धेः पण्डितस्य सुविज्ञेयोऽयमात्मा स्थितिगतिनित्यानित्यादिविरुद्धानेकधर्मोपाधिकत्वाद्विरुद्धधर्मवत्त्वाद्विश्वरूप इव चिन्तामणिवदवभासते। अतो दुर्विज्ञेयत्वं दर्शयति कस्तं मदन्यो ज्ञातुमर्हतीति।

यह आत्मा हम-जैसे सूक्ष्म-बुद्धि विद्वानोके लिये ही सुविज्ञेय है। स्थिति-गति तथा नित्य और अनित्य आदि अनेक विरुद्धधर्मरूप उपाधिवाला तथा विपरीतधर्मयुक्त होनेसे यह चिन्तामणिके समान विश्वरूप-सा भासता है। अतः 'मेरे सिवा उसे और कौन जानने योग्य है' ऐसा कहकर उसकी दुर्विज्ञेयता दिखलाते है।

करणानामुपशमः शयनं करणजनितस्यैकदेशविज्ञानस्य उपशमः शयानस्य भवति। यदा चैवं केवलसामान्यविज्ञानत्वात् सर्वतो यातीव यदा विशेषविज्ञानस्थः स्वेन रूपेण स्थित एव सन्मनआदिगतिषु तदुपाधिकत्वाद्दूरं व्रजतीव। स चेहैव वर्तते ॥ २१ ॥

इन्द्रियोका शान्त हो जाना शयन है। शयन करनेवाले पुरुषका इन्द्रियजनित एकदेशसम्बन्धी विज्ञान शान्त हो जाता है। जिस समय ऐसी अवस्था होती है उस समय केवल सामान्य विज्ञान होनेसे वह सब ओर जाता हुआ-सा जान पड़ता है; और जब वह विशेष विज्ञानमे स्थित होता है, तो स्वरूपसे अविचल रहकर भी मन आदि उपाधियोवाला होनेसे उन मन आदिकी गतियोमे जाता हुआ-सा जान पड़ता है। वस्तुतः तो वह यही रहता है ॥ २१ ॥

तद्विज्ञानाच्च शोकात्यय इत्यपि दर्शयति—

तथा अब यह भी दिखलाते है कि उस आत्माके ज्ञानसे शोकका अन्त हो जाता है—

अशरीरꣳ शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम् ।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥२२॥

जो शरीरोंमे शरीररहित तथा अनित्योंमे नित्यस्वरूप है उस महान् और सर्वव्यापक आत्माको जानकर बुद्धिमान् पुरुष शोक नहीं करता ॥ २२ ॥

अशरीरं स्वेन रूपेण आकाशकल्प आत्मा तमशरीरं शरीरेषु देवपितृमनुष्यादिशरीरेषु अनवस्थेष्ववस्थितिरहितेष्ववस्थितं नित्यमविकृतमित्येतत्, महान्तं महत्त्वस्यापेक्षिकत्वशङ्कायामाह—विभुं व्यापिनमात्मानम्—आत्मग्रहणं स्वतोऽनन्यत्वप्रदर्शनार्थम्, आत्मशब्दः प्रत्यगात्मविषय एव मुख्यस्तमीदृशमात्मानं मत्वा अयमहमिति धीरो धीमान्न शोचति। न ह्येवंविधस्यात्मविदः शोकोपपत्तिः ॥ २२ ॥

आत्मा अपने स्वरूपसे आकाशके समान है, अतः देव, पितृ और मनुष्यादि शरीरोमें अशरीर है, अनवस्थित—अवस्थितिरहित यानी अनित्योंमे अवस्थित—नित्य अर्थात् अविकारी है, तथा महान् है—[किससे महान् है—इस प्रकार] महत्त्वमे इतरकी अपेक्षा होनेकी शङ्का करके कहते है उस विभु अर्थात् व्यापक आत्माको जानकर—यहाँ 'आत्मा' शब्द अपनेसे ब्रह्मकी अभिन्नता दिखानेके लिये लिया गया है, क्योंकि 'आत्मा' शब्द प्रत्यगात्मविषयमें ही मुख्य है—ऐसे उस आत्माको 'यही मै हूँ' ऐसा जानकर धीर—बुद्धिमान् पुरुष शोक नहीं करता, क्योंकि इस प्रकारके आत्मवेत्तामे शोक बन ही नहीं सकता ॥ २२ ॥

यद्यपि दुर्विज्ञेयोऽयमात्मा तथाप्युपायेन सुविज्ञेय एवेत्याह—

यद्यपि यह आत्मा दुर्विज्ञेय है तो भी उपाय करनेसे तो सुविज्ञेय ही है; इसपर कहते है—

आत्मा आत्मकृपासाध्य है

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम् ॥२३॥

यह आत्मा वेदाध्ययनद्वारा प्राप्त होने योग्य नहीं है और न धारणाशक्ति अथवा अधिक श्रवणसे ही प्राप्त हो सकता है। यह [साधक] जिस [आत्मा] का वरण करता है उस [आत्मा] से ही यह प्राप्त किया जा सकता है। उसके प्रति यह आत्मा अपने स्वरूपको अभिव्यक्त कर देता है ॥ २३ ॥

नायमात्मा प्रवचनेनानेकवेदस्वीकरणेन लभ्यो ज्ञेयो नापि मेधया ग्रन्थार्थधारणशक्त्या। न बहुना श्रुतेन केवलेन। केन तर्हि लभ्य इत्युच्यते—

यह आत्मा प्रवचन अर्थात् अनेकों वेदोको स्वीकार करनेसे प्राप्त यानी विदित होने योग्य नहीं है, न मेधा यानी ग्रन्थार्थ-धारणकी शक्तिसे ही जाना जा सकता है और न केवल बहुत-सा श्रवण करनेसे ही। तो फिर किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है, इसपर कहते है—

यमेव स्वात्मानमेष साधको वृणुते प्रार्थयते तेनैवात्मना वरित्रा स्वयमात्मा लभ्यो ज्ञायत एवमित्येतत्। निष्कामस्यात्मानम् एव प्रार्थयत आत्मनैवात्मा लभ्यत इत्यर्थः।

यह साधक जिस आत्माका वरण—प्रार्थना करता है उस वरण करनेवाले आत्माद्वारा यह आत्मा स्वयं ही प्राप्त किया जाता है—अर्थात् उससे ही 'यह ऐसा है' इस प्रकार जाना जाता है। तात्पर्य यह कि केवल आत्मलाभके लिये ही प्रार्थना करनेवाले निष्काम पुरुषको आत्माके द्वारा ही आत्माकी उपलब्धि होती है।

कथं लभ्यत इत्युच्यते— तस्यात्मकामस्यैष आत्मा विवृणुते प्रकाशयति पारमार्थिकीं तनूं स्वां स्वकीयां स्वयाथात्म्यम् इत्यर्थः ॥ २३ ॥

किस प्रकार उपलब्ध होता है, इसपर कहते हैं—उस आत्म-कामीके प्रति यह आत्मा अपने पारमार्थिक स्वरूप अर्थात् अपने याथात्म्यको विवृत—प्रकाशित कर देता है ॥ २३ ॥

किं चान्यत्—

इसके सिवा दूसरी बात यह भी है—

आत्मज्ञानका अनधिकारी

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥ २४ ॥

जो पापकर्मोंसे निवृत्त नहीं हुआ है, जिसकी इन्द्रियाँ शान्त नहीं हैं और जिसका चित्त असमाहित या अशान्त है वह इसे आत्मज्ञान-द्वारा प्राप्त नहीं कर सकता है ॥ २४ ॥

न दुश्चरितात्प्रतिषिद्धाच्छ्रुति-स्मृत्यविहितात्पापकर्मणोऽविरतः अनुपरतो नापीन्द्रियलौल्याद् अशान्तोऽनुपरतो नाप्यसमाहितोऽनेकाग्रमना विक्षिप्तचित्तः, समाहितचित्तोऽपि सन्समाधान-

जो दुश्चरित—प्रतिषिद्ध कर्म यानी श्रुति-स्मृतिसे अविहित पाप-कर्मसे अविरत—अनुपरत है वह नहीं, जो इन्द्रियोंकी चञ्चलताके कारण अशान्त यानी उपरतिशून्य है वह भी नहीं, जो असमाहित अर्थात् जिसका चित्त एकाग्र नहीं है—जो विक्षिप्तचित्त है वह भी नहीं, तथा समाहितचित्त होनेपर भी उस एकाग्रताके फलका इच्छुक

फलार्थित्वान्नाप्यशान्तमानसो व्यापृतचित्तः प्रज्ञानेन ब्रह्मविज्ञानेनैनं प्रकृतमात्मानमाप्नुयात् । यस्तु दुश्चरिताद्विरत इन्द्रियलौल्याच्च समाहितचित्तः समाधानफलादप्युपशान्तमानसश्चाचार्यवान्प्रज्ञानेन यथोक्तम् आत्मानं प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ २४ ॥

होनेके कारण जो अशान्तचित्त है—जिसका चित्त निरन्तर व्यापार करता रहता है वह पुरुष भी इस प्रस्तुत आत्माको केवल आत्मज्ञानद्वारा नहीं प्राप्त कर सकता । अर्थात् जो पापकर्म और इन्द्रियोंकी चञ्चलतासे हटा हुआ तथा समाहितचित्त और उस समाधानके फलसे भी उपशान्तमना है वह आचार्यवान् साधक ही ब्रह्मज्ञानद्वारा उपर्युक्त आत्माको प्राप्त कर सकता है ॥ २४ ॥
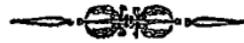
यस्त्वनेवंभूतः—

किन्तु जो (साधक) ऐसा नहीं है [उसके विषयमें श्रुति कहती है—]

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः ।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः ॥ २५ ॥

जिस आत्माके ब्राह्मण और क्षत्रिय—ये दोनों ओदन—भात हैं तथा मृत्यु जिसका उपसेचन (शाकादि) है वह जहाँ है उसे कौन [अज्ञ पुरुष] इस प्रकार (उपर्युक्त साधनसम्पन्न अधिकारीके समान) जान सकता है ? ॥ २५ ॥

यस्यात्मनो ब्रह्मक्षत्रे सर्वधर्मविधारके अपि सर्वत्राणभूते उभे ओदनोऽशनं भवतः स्याताम्,

सम्पूर्ण धर्मोंका धारण करनेवाले और सबके रक्षक होनेपर भी ब्राह्मण और क्षत्रिय—ये दोनों वर्ण जिस आत्माके ओदन—भोजन हैं

सर्वहरोऽपि मृत्युर्यस्योपसेचनम् इवौदनस्य, अशनत्वेऽप्यपर्याप्तस्तं प्राकृतबुद्धिर्यथोक्तसाधनरहितः सन् क इत्था इत्थमेवं यथोक्तसाधनवानिवेत्यर्थः, वेद विजानाति यत्र स आत्मेति ॥ २५ ॥

तथा सबका हरण करनेवाला होनेपर भी मृत्यु जिसका भातके लिये उपसेचन (शाकादि) के समान है, अर्थात् भोजनके लिये भी पर्याप्त नहीं है, उस आत्माको, जहाँ कि वह है, ऐसा कौन पूर्वोक्त साधनोंसे रहित और साधारण बुद्धिवाला पुरुष है जो इस प्रकार—उपर्युक्त साधनसम्पन्न पुरुषके समान जान सके ? ॥२५॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य-
श्रीमदाचार्यश्रीशङ्करभगवतः कृतौ कठोपनिषद्भाष्ये
प्रथमाध्याये द्वितीयवल्लीभाष्यं समाप्तम् ॥ २ ॥

तृतीया वल्ली

प्राप्ता और प्राप्तव्य-भेदसे दो आत्मा

ऋतं पिबन्तावित्यस्या वल्ल्याः सम्बन्धः—

विद्याविद्ये नानाविरुद्धफले इत्युपन्यस्ते न तु सफले ते यथावन्निर्णीते; तन्निर्णयार्था रथरूपककल्पना, तथा च प्रतिपत्तिसौकर्यम्। एवं च प्राप्तृप्राप्यगन्तृगन्तव्यविवेकार्थं द्वावात्मानौ उपन्यस्येते—

इस 'ऋतं पिबन्तौ' इत्यादि तृतीया वल्लीका सम्बन्ध इस प्रकार है—

ऊपर विद्या और अविद्या नाना प्रकारके विरुद्ध धर्मोवाली बतलायी गयी है; किन्तु उनका फलसहित यथावत् निर्णय नही किया गया। उनका निर्णय करनेके लिये ही [इस वल्लीमे] रथके रूपककी कल्पना की गयी है। ऐसा करनेसे उन्हे [अर्थात् विद्या-अविद्याको] समझनेमें सुगमता हो जाती है। इसी प्रकार प्राप्त होनेवाले और प्राप्तव्य स्थान तथा गमन करनेवाले और गन्तव्य लक्ष्यका विवेक करनेके लिये दो आत्माओंका उपन्यास करते है—

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके
गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति
पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः॥ १॥

ब्रह्मवेत्ता लोग कहते है कि शरीरमे बुद्धिरूप गुहाके भीतर प्रकृष्ट ब्रह्मस्थानमे प्रविष्ट हुए अपने कर्मफलको भोगनेवाले छाया और घामके समान परस्पर विलक्षण दो [तत्त्व] हैं। यही बात जिन्होने तीन बार नाचिकेताग्निका चयन किया है वे पञ्चाग्निकी उपासना करनेवाले भी कहते है॥ १॥

ऋतं सत्यमवश्यभावित्वात् कर्मफलं पिबन्तौ, एकस्तत्र कर्मफलं पिबति भुङ्क्ते नेतरः; तथापि पातृसम्बन्धात्पिबन्तौ इत्युच्यते छत्रिन्यायेन, सुकृतस्य स्वयंकृतस्य कर्मण ऋतम् इति पूर्वेण संबन्धः; लोकेऽस्मिन् शरीरे गुहां गुहायां बुद्धौ प्रविष्टौ, परमे बाह्यपुरुषाकाशसंस्थानापेक्षया परमम्, परस्य ब्रह्मणोऽर्धं स्थानं परार्धम्। तस्मिन्हि परं ब्रह्मोपलभ्यते, अतस्तस्मिन्परमे परार्धे हार्दाकाशे प्रविष्टावित्यर्थः।

ऋत अर्थात् अवश्यम्भावी होनेके कारण सत्य कर्मफलका पान करनेवाले दो आत्मा, जिनमेसे केवल एक कर्मफलका पान—भोग करता है, दूसरा नहीं; तो भी पान करनेवालेसे सम्बन्ध होनेके कारण यहाँ छत्रिन्यायसे* दोनोहीके लिये 'पिबन्तौ' इस द्विवचनका प्रयोग हुआ है, सुकृत अर्थात् अपने किये हुए कर्मके फलको भोगते हुए, यहाँ 'सुकृतस्य' शब्दका पूर्ववर्ती 'ऋतम्' शब्दके साथ सम्बन्ध है। लोक अर्थात् इस शरीरमे गुहा—बुद्धिके भीतर परम—बाह्य देहाश्रित आकाश स्थानकी अपेक्षा उत्कृष्ट परब्रह्मके अर्ध यानी स्थानमे प्रवेश किये हुए हैं, क्योकि उसीमे परब्रह्मकी उपलब्धि होती है। अतः तात्पर्य यह है कि उस परम परार्ध यानी हृदयाकाशमें प्रवेश किये हुए है।

तौ च च्छायातपाविव विलक्षणौ संसारित्वासंसारित्वेन

वे दोनों संसारी और असंसारी होनेके कारण छाया और धूपके

---

* जहाँ बहुत-से आदमी जा रहे हों और उनमेसे किसी एकके पास छाता हो तो दूरसे देखनेवाला पुरुष उन्हे बतलानेके लिये 'देखो, वे छातेवाले लोग जा रहे हैं' ऐसे वाक्यका प्रयोग करता है। इस प्रकार एक छातेवालेसे सम्बद्ध होनेके कारण वह सारा समूह ही छातेवाला कहा जाता है। इसे 'छत्रिन्याय' कहते हैं। इसी प्रकार यहाँ भोक्ता जीवके सम्बन्धसे ईश्वरको भी भोक्ता कहा गया है।

ब्रह्मविदो वदन्ति कथयन्ति। न केवलमकर्मिण एव वदन्ति। पञ्चाग्नयो गृहस्था ये च त्रिणाचिकेताः त्रिःकृत्वो नाचिकेतोऽग्निश्चितो यैस्ते त्रिणाचिकेताः ॥ १ ॥

समान परस्पर विलक्षण है—ऐसा ब्रह्मवेत्तालोग वर्णन करते—कहते है। [इस प्रकार] केवल अकर्मी ही ऐसा नही कहते बल्कि जो त्रिणाचिकेत है—जिन्होने तीन बार नाचिकेत अग्निका चयन किया है वे पञ्चाग्निकी उपासना करनेवाले गृहस्थ भी ऐसा ही कहते है ॥१॥

यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत्परम्।
अभयं तितीर्षतां पारं नाचिकेतꣳ शकेमहि ॥ २ ॥

जो यजन करनेवालोके लिये सेतुके समान है उस नाचिकेत अग्निको तथा जो भयशून्य है और संसारको पार करनेकी इच्छावालोका परम आश्रय है उस अक्षर ब्रह्मको जाननेमे हम समर्थ हो ॥ २ ॥

यः सेतुरिव सेतुरीजानानां यजमानानां कर्मिणां दुःखसंतरणार्थत्वान्नाचिकेतोऽग्निस्तं वयं ज्ञातुं चेतुं च शकेमहि शक्नुवन्तः। किं च यच्चाभयं भयशून्यं संसारपारं तितीर्षतां तर्तुमिच्छतां ब्रह्मविदां यत्परमाश्रयमक्षरमात्माख्यं ब्रह्म तच्च ज्ञातुं शकेमहि शक्नुवन्तः। परापरे ब्रह्मणी कर्मब्रह्मविदाश्रये

दुःखको पार करनेका साधन होनेसे जो नाचिकेत अग्नि यजमान अर्थात् कर्मियोके लिये सेतुके समान होनेके कारण सेतु है उसे हम जानने और चयन करनेमें समर्थ हों। तथा जो भयरहित है, और संसारके पार जानेकी इच्छावाले ब्रह्मवेत्ताओका परम आश्रय अविनाशी आत्मा नामक ब्रह्म है उसे भी हम जाननेमे समर्थ हो सकें। अर्थात् कर्मवेत्ताका आश्रय अपर-ब्रह्म और ब्रह्मवेत्ताका आश्रय

वेदितव्ये इति वाक्यार्थः । एतयोरेव ह्युपन्यासः कृत ऋतं पिबन्ताविति ॥ २ ॥

परब्रह्म—ये दोनों ही ज्ञातव्य है—यह इस वाक्यका अर्थ है। 'ऋतं पिबन्तौ' इत्यादि मन्त्रसे इन्ही दोनो [ब्रह्मो] का उल्लेख किया गया है ॥ २ ॥

तत्र य उपाधिकृतः संसारी विद्याविद्ययोरधिकृतो मोक्षगमनाय संसारगमनाय च तस्य तदुभयगमने साधनो रथः कल्प्यते—

उनमे जो उपाधिपरिच्छिन्न संसारी मोक्ष एवं संसारके प्रति गमन करनेके लिये विद्या और अविद्याका अधिकारी है उसके लिये उन दोनोके प्रति जानेके साधनस्वरूप रथकी कल्पना की जाती है—

शरीरादिसे सम्बद्ध रथादि रूपक

आत्मानꣳ रथिनं विद्धि शरीरꣳरथमेव तु ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥ ३ ॥

तू आत्माको रथी जान, शरीरको रथ समझ, बुद्धिको सारथि जान और मनको लगाम समझ ॥ ३ ॥

तत्र तमात्मानमृतपं संसारिणं रथिनं रथस्वामिनं विद्धि जानीहि। शरीरं रथमेव तु रथबद्धहयस्थानीयैरिन्द्रियैराकृष्यमाणत्वाच्छरीरस्य। बुद्धिं तु अध्यवसायलक्षणां सारथिं विद्धि बुद्धिनेतृ-

उनमे उस आत्माको—कर्मफल भोगनेवाले संसारीको रथी—रथका स्वामी जान, और शरीरको तो रथ ही समझ, क्योंकि शरीर रथमे बँधे हुए अश्वरूप इन्द्रियगणसे खींचा जाता है। तथा निश्चय करना ही जिसका लक्षण है उस बुद्धिको सारथि जान, क्योंकि

प्रधानत्वाच्छरीरस्य सारथिनेतृप्रधान इव रथः। सर्वं हि देहगतं कार्यं बुद्धिकर्तव्यमेव प्रायेण। मनः संकल्पविकल्पादिलक्षणं प्रग्रहं रशनां विद्धि। मनसा हि प्रगृहीतानि श्रोत्रादीनि करणानि प्रवर्तन्ते रशनयेवाश्वाः ॥ ३ ॥

सारथिरूप नेता ही जिसमे प्रधान है उस रथके समान शरीर बुद्धिरूप नेताकी प्रधानतावाला है, क्योंकि देहके सभी कार्य प्रायः बुद्धिके ही कर्तव्य है। और संकल्प-विकल्पादिरूप मनको प्रग्रह—लगाम समझ, क्योंकि जिस प्रकार घोड़े लगामसे नियन्त्रित होकर चलते है उसी प्रकार श्रोत्रादि इन्द्रियाँ मनसे नियन्त्रित होकर ही अपने विषयोमे प्रवृत्त होती हैं ॥३॥

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयाꣳस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥ ४ ॥

विवेकी पुरुष इन्द्रियोको घोड़े बतलाते है तथा उनके घोड़ेरूपसे कल्पित किये जानेपर विषयोको उनके मार्ग बतलाते है और शरीर, इन्द्रिय एवं मनसे युक्त आत्माको भोक्ता कहते है ॥ ४ ॥

इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि हयान् आहू रथकल्पनाकुशलाः शरीररथाकर्षणसामान्यात्। तेष्वेव इन्द्रियेषु हयत्वेन परिकल्पितेषु गोचरान्मार्गान्रूपादीन्विषयान् विद्धि। आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं शरीरेन्द्रियमनोभिः सहितं संयुक्तमात्मानं भोक्तेति संसारीत्याहुर्मनीषिणो विवेकिनः।

रथकी कल्पना करनेमे कुशल पुरुषोने चक्षु आदि इन्द्रियोको घोड़े बतलाया है, क्योंकि [इन्द्रिय और घोडोंकी क्रमशः] शरीर और रथको खींचनेमे समानता है। इस प्रकार उन इन्द्रियोको घोड़ेरूपसे परिकल्पित किये जानेपर रूपादि विषयोको उनके मार्ग जानो तथा शरीर इन्द्रिय और मनके सहित अर्थात् उनसे युक्त आत्माको मनीषी—विवेकी पुरुष 'यह भोक्ता—संसारी है' ऐसा बतलाते है।

न हि केवलस्यात्मनो भोक्तृत्वमस्ति बुद्ध्याद्युपाधिकृतमेव तस्य भोक्तृत्वम् । तथा च श्रुत्यन्तरं केवलस्याभोक्तृत्वमेव दर्शयति—"ध्यायतीव लेलायतीव" (बृ० उ० ४ । ३ । ७)इत्यादि । एवं च सति वक्ष्यमाणरथकल्पनया वैष्णवस्य पदस्यात्मतया प्रतिपत्तिरुपपद्यते नान्यथा स्वभावानतिक्रमात् ॥ ४ ॥

केवल (शुद्ध) आत्मा तो भोक्ता है नहीं; उसका भोक्तृत्व तो बुद्धि आदि उपाधिके कारण ही है । इसी प्रकार "ध्यान करता हुआ-सा, चेष्टा करता हुआ-सा" इत्यादि एक दूसरी श्रुति भी केवल आत्माका अभोक्तृत्व ही दिखलाती है । ऐसा होनेपर ही आगे कही जानेवाली रथकल्पनासे उस वैष्णवपदकी आत्मभावसे प्रतिपत्ति (प्राप्ति) बन सकती है—और किसी प्रकार नहीं, क्योंकि स्वभाव कभी नहीं बदल सकता ॥ ४ ॥

अविवेकीकी विवशता

यस्त्वविज्ञानवान्भवत्ययुक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ॥ ५ ॥

किन्तु जो [बुद्धिरूप सारथि] सर्वदा अविवेकी एवं असंयत चित्तसे युक्त होता है उसके अधीन इन्द्रियाँ इसी प्रकार नहीं रहतीं जैसे सारथिके अधीन दुष्ट घोड़े ॥ ५ ॥

तत्रैवं सति यस्तु बुद्ध्याख्यः सारथिरविज्ञानवाननिपुणोऽविवेकी प्रवृत्तौ च निवृत्तौ च भवति यथेतरो रथचर्यायामयुक्तेन

किन्तु ऐसा होनेपर भी जो बुद्धिरूप सारथि अविज्ञानवान्—अकुशल अर्थात् रथसञ्चालनमे अकुशल अन्य सारथीके समान [इन्द्रियरूप घोड़ोंकी] प्रवृत्ति-निवृत्तिके विवेकसे रहित है, जो

अप्रगृहीतेनासमाहितेन मनसा प्रग्रहस्थानीयेन सदा युक्तो भवति तस्याकुशलस्य बुद्धिसारथेः इन्द्रियाण्यश्वस्थानीयान्यवश्यानि अशक्यनिवारणानि दुष्टाश्वा अदान्ताश्वा इवेतरसारथेर्भवन्ति ॥ ५ ॥

सर्वदा प्रग्रह (लगाम) स्थानीय अयुक्त—अगृहीत अर्थात् विक्षिप्त चित्तसे युक्त है उस अनिपुण बुद्धिरूप सारथिके इन्द्रियरूप घोड़े [रथादि हाँकनेवाले] अन्य सारथिके दुष्ट अर्थात् बेकाबू घोड़ोंके समान अवश्य यानी जिनका निवारण नहीं किया जा सकता ऐसे हो जाते है ॥ ५ ॥

विवेकीकी स्वाधीनता

यस्तु विज्ञानवान्भवति युक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥ ६ ॥

परन्तु जो (बुद्धिरूप सारथि) कुशल और सर्वदा समाहित चित्तसे युक्त होता है उसके अधीन इंन्द्रियाँ इस प्रकार रहती है जैसे सारथीके अधीन अच्छे घोड़े ॥ ६ ॥

यस्तु पुनः पूर्वोक्तविपरीतः सारथिर्भवति विज्ञानवान्प्रगृहीतमनाः समाहितचित्तः सदा तस्याश्वस्थानीयानीन्द्रियाणि प्रवर्तयितुं निवर्तयितुं वा शक्यानि वश्यानि दान्ताः सदश्वा इवेतरसारथेः ॥ ६ ॥

किन्तु जो [बुद्धिरूप सारथि] पूर्वोक्त सारथिसे विपरीत विज्ञानवान् (कुशल)—मनको नियन्त्रित रखनेवाला अर्थात् संयतचित्त होता है उसके लिये अश्वस्थानीय इन्द्रियाँ प्रवृत्त और निवृत्त किये जानेमे इस प्रकार शक्य होती है जैसे सारथिके लिये अच्छे घोड़े ॥ ६ ॥

तस्य पूर्वोक्तस्याविज्ञानवतो बुद्धिसारथेरिदं फलमाह—

उस पूर्वोक्त अविज्ञानवान् बुद्धिरूप सारथिवाले रथीके लिये श्रुति यह फल बतलाती है—

अविवेकीकी संसारप्राप्ति

यस्त्वविज्ञानवान्भवत्यमनस्कः सदाशुचिः ।
न स तत्पदमाप्नोति सꣳसारं चाधिगच्छति ॥ ७ ॥

किन्तु जो अविज्ञानवान्, अनिगृहीतचित्त और सदा अपवित्र रहनेवाला होता है वह उस पदको प्राप्त नहीं कर सकता, प्रत्युत संसारको ही प्राप्त होता है ॥ ७ ॥

यस्त्वविज्ञानवान्भवति अमनस्कोऽप्रगृहीतमनस्कः स तत एवाशुचिः सदैव, न स रथी तत्पूर्वोक्तमक्षरं यत्परं पदम् आप्नोति तेन सारथिना । न केवलं कैवल्यं नाप्नोति संसारं च जन्ममरणलक्षणमधिगच्छति ॥ ७ ॥

किन्तु जो अविज्ञानवान्, अमनस्क—असंयतचित्त और इसीलिये सदा अपवित्र रहनेवाला होता है उस सारथिके द्वारा वह [जीवरूप] रथी उस पूर्वोक्त अक्षर परम पदको प्राप्त नहीं कर सकता । वह कैवल्यको प्राप्त नहीं होता—केवल इतना ही नहीं, बल्कि जन्म-मरणरूप संसारको भी प्राप्त होता है ॥ ७ ॥

विवेकीकी परमपदप्राप्ति

यस्तु विज्ञानवान्भवति समनस्कः सदा शुचिः ।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते ॥ ८ ॥

किन्तु जो विज्ञानवान्, संयतचित्त और सदा पवित्र रहनेवाला होता है वह तो उस पदको प्राप्त कर लेता है जहाँसे वह फिर उत्पन्न नहीं होता ॥ ८ ॥

यस्तु द्वितीयो विज्ञानवान् विज्ञानवत्सारथ्युपेतो रथी विद्वान्

किन्तु जो दूसरा रथी अर्थात् विद्वान् विज्ञानवान्—कुशल सारथि-

इत्येतत्; युक्तमनाः समनस्कः स तत एव सदा शुचिः स तु तत्पदमाप्नोति, यस्मादाप्तात्पदाद् अप्रच्युतः सन्भूयः पुनर्न जायते संसारे ॥ ८ ॥

से युक्त, समनस्क—युक्तचित्त और इसीलिये सदा पवित्र रहनेवाला होता है वह तो उसी पदको प्राप्त कर लेता है, जिस प्राप्त हुए पदसे च्युत न होकर वह फिर संसारमे उत्पन्न नहीं होता ॥ ८ ॥

किं तत्पदमित्याह—

वह पद क्या है ? इसपर कहते हैं—

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः ।
सोऽध्वनः परमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ ९ ॥

जो मनुष्य विवेकयुक्त बुद्धि-सारथिसे युक्त और मनको वशमे रखनेवाला होता है वह संसारमार्गसे पार होकर उस विष्णु (व्यापक परमात्मा) के परमपदको प्राप्त कर लेता है ॥ ९ ॥

विज्ञानसारथिर्यस्तु यो विवेकबुद्धिसारथिः पूर्वोक्तो मनःप्रग्रहवान्प्रगृहीतमनाः समाहितचित्तः सञ्शुचिर्नरो विद्वान्सोऽध्वनः संसारगतेः पारं परमेव अधिगन्तव्यमित्येतदाप्नोति मुच्यते सर्वसंसारबन्धनैः।तद्विष्णोः व्यापनशीलस्य ब्रह्मणः परमात्मनो वासुदेवाख्यस्य परमं प्रकृष्टं पदं स्थानं सतत्त्वमित्येतद्यदसौ आप्नोति विद्वान् ॥ ९ ॥

जो पूर्वोक्त विद्वान् पुरुष विवेकयुक्त बुद्धि-सारथिसे युक्त मनोनिग्रहवान् यानी निगृहीतचित्त—एकाग्र मनवाला होता हुआ पवित्र है वह संसारगतिके पारको यानी अवश्यप्राप्तव्य परमात्माको प्राप्त कर लेता है; अर्थात् सम्पूर्ण संसार-बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है । उस विष्णु यानी वासुदेव नामक सर्वव्यापक परब्रह्म परमात्माका जो परम—उत्कृष्ट पद—स्थान अर्थात् स्वरूप है उसे वह विद्वान् प्राप्त कर लेता है ॥ ९ ॥

अधुना यत्पदं गन्तव्यं तस्य इन्द्रियाणि स्थूलान्यारभ्य सूक्ष्मतारतम्यक्रमेण प्रत्यगात्मतया अधिगमः कर्तव्य इत्येवमर्थमिदम् आरभ्यते—

अब, जो प्राप्तव्य परम पद है उसका स्थूल इन्द्रियोंसे आरम्भ करके सूक्ष्मत्वके तारतम्य-क्रमसे प्रत्यगात्मस्वरूपसे ज्ञान प्राप्त करना चाहिये, इसीलिये आगेका कथन आरम्भ किया जाता है—

इन्द्रियादिका तारतम्य

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः ॥ १० ॥

इन्द्रियोंकी अपेक्षा उनके विषय श्रेष्ठ है, विषयोंसे मन उत्कृष्ट है, मनसे बुद्धि पर है और बुद्धिसे भी महान् आत्मा (महत्तत्त्व) उत्कृष्ट है ॥ १० ॥

स्थूलानि तावदिन्द्रियाणि तानि यैरर्थैरात्मप्रकाशनाय आरब्धानि तेभ्य इन्द्रियेभ्यः स्वकार्येभ्यस्ते परा ह्यर्थाः सूक्ष्मा महान्तश्च प्रत्यगात्मभूताश्च ।

इन्द्रियाँ तो स्थूल है । वे जिन शब्द-स्पर्शादि विषयोंद्वारा अपनेको प्रकाशित करनेके लिये बनायी गयी है वे विषय अपने कार्यभूत इन्द्रियवर्गसे पर—सूक्ष्म, महान् एवं प्रत्यगात्मस्वरूप है ।

तेभ्योऽप्यर्थेभ्यश्च परं सूक्ष्मतरं महत्प्रत्यगात्मभूतं च मनः । मनःशब्दवाच्यं मनस आरम्भकं भूतसूक्ष्मं संकल्पविकल्पाद्यारम्भकत्वात् । मनसोऽपि परा सूक्ष्मतरा

उन विषयोंसे भी पर—सूक्ष्म, महान् तथा नित्यस्वरूपभूत मन है, जो कि 'मन' शब्दका वाच्य और मनका आरम्भक भूतसूक्ष्म है, क्योंकि वही सङ्कल्प-विकल्पादिका आरम्भक है । मनसे भी पर—सूक्ष्मतर,

महत्तरा प्रत्यगात्मभूता च बुद्धिः, बुद्धिशब्दवाच्यमध्यवसाया-द्यारम्भकं भूतसूक्ष्मम्। बुद्धेरात्मा सर्वप्राणिबुद्धीनां प्रत्यगात्मभूतत्वादात्मा महान्सर्वमहत्त्वात्। अव्यक्ताद्यत्प्रथमं जातं हैरण्य-गर्भं तत्त्वं बोधाबोधात्मकं महानात्मा बुद्धेः पर इत्युच्यते ॥१०॥

महत्तर एवं प्रत्यगात्मभूत बुद्धि अर्थात् 'बुद्धि' शब्द-वाच्य अध्यवसायादिका आरम्भक भूतसूक्ष्म है। उस बुद्धिसे भी, सम्पूर्ण प्राणियोंकी बुद्धिका प्रत्यगात्मभूत होनेसे आत्मा महान् है, क्योंकि वह सबसे बड़ा है। अर्थात् अव्यक्तसे जो सबसे पहले उत्पन्न हुआ हिरण्यगर्भ तत्त्व है, जो महान् आत्मा [ज्ञानशक्ति और क्रिया-शक्तिसे सम्पन्न होनेके कारण] बोधाबोधात्मक है वह बुद्धिसे भी पर है—ऐसा कहा जाता है ॥ १० ॥

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः ।
पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः ॥ ११ ॥

महत्तत्त्वसे अव्यक्त (मूलप्रकृति) पर है और अव्यक्तसे भी पुरुष पर है। पुरुषसे पर और कुछ नहीं है। वही [सूक्ष्मत्वकी] परा काष्ठा (हद) है, वही परा (उत्कृष्ट) गति है ॥ ११ ॥

महतोऽपि परं सूक्ष्मतरं प्रत्यगात्मभूतं सर्वमहत्तरं च अव्यक्तं सर्वस्य जगतो बीजभूतम् अव्याकृतनामरूपसतत्त्वं सर्व-कार्यकारणशक्तिसमाहाररूपम् अव्यक्ताव्याकृताकाशादिनाम-वाच्यं परमात्मन्योतप्रोतभावेन

महत्से भी पर—सूक्ष्मतर, प्रत्यगात्म-स्वरूप और सबसे महान् अव्यक्त है, जो सम्पूर्ण जगत्का बीजभूत, अव्यक्त नाम रूपोंका सत्तास्वरूप, सम्पूर्ण कार्य-कारणशक्तिका सङ्घात, अव्यक्त, अव्याकृत और आकाशादि नामोंसे निर्दिष्ट होनेवाला तथा वटके दानेमें रहनेवाली वटवृक्षकी शक्तिके

समाश्रितं वटकणिकायामिव वटवृक्षशक्तिः ।

समान परमात्मामे ओतप्रोतभावसे आश्रित है ।

तस्मादव्यक्तात्परः सूक्ष्मतरः सर्वकारणकारणत्वात्प्रत्यगात्मत्वाच्च महांश्च अत एव पुरुषः सर्वपूरणात् । ततोऽन्यस्य परस्य प्रसङ्गं निवारयन्नाह पुरुषान्न परं किंचिदिति । यस्मान्नास्ति पुरुषात् चिन्मात्रघनात् परं किंचिदपि वस्त्वन्तरं तस्मात्सूक्ष्मत्वमहत्त्वप्रत्यगात्मत्वानां सा काष्ठा निष्ठा पर्यवसानम् ।

उस अव्यक्तकी अपेक्षा सम्पूर्ण कारणोंका कारण तथा प्रत्यगात्मरूप होनेसे पुरुष पर—सूक्ष्मतर एवं महान् है । इसीलिये वह सबमे पूरित रहनेके कारण 'पुरुष' कहा जाता है । उसके सिवा किसी दूसरे उत्कृष्टतरके प्रसङ्गका निवारण करते हुए कहते है कि पुरुषसे पर और कुछ नहीं है । क्योंकि चिद्घनमात्र पुरुषसे भिन्न और कोई वस्तु नही है इसलिये वही सूक्ष्मत्व, महत्त्व और प्रत्यगात्मत्वकी पराकाष्ठा—स्थिति अर्थात् पर्यवसान है ।

अत्र हीन्द्रियेभ्य आरभ्य सूक्ष्मत्वादिपरिसमाप्तिः । अत एव च गन्तॄणां सर्वगतिमतां संसारिणां परा प्रकृष्टा गतिः "यद्गत्वा न निवर्तन्ते" (गीता ८ । २१; १५ । ६) इति स्मृतेः ॥ ११ ॥

इन्द्रियोसे लेकर इस आत्मामे ही सूक्ष्मत्वादिकी परिसमाप्ति होती है । अतः यही गमन करनेवाले अर्थात् सम्पूर्ण गतियोवाले संसारियोकी पर—उत्कृष्ट गति है, जैसा कि "जिसको प्राप्त होकर फिर नहीं लौटते" इस स्मृतिसे सिद्ध होता है ॥ ११ ॥

ननु गतिश्चेदागत्यापि भवितव्यम् । कथं यस्माद्भूयो न जायत इति ?

शङ्का—यदि [पुरुषके प्रति] गति है तो [वहाँसे] आगति (लौटना) भी होना चाहिये; फिर 'जिसके पाससे फिर जन्म नही लेता' ऐसा क्यों कहा जाता है ?

नैष दोषः, सर्वस्य प्रत्यगात्मत्वादवगतिरेव गतिरित्युपचर्यते । प्रत्यगात्मत्वं च दर्शितमिन्द्रियमनोबुद्धिपरत्वेन । यो हि गन्ता सोऽगतमप्रत्यग्रूपं गच्छत्यनात्मभूतं न विपर्ययेण । तथा च श्रुतिः—"अनध्वगा अध्वसु पारयिष्णवः" इत्याद्या । तथा च दर्शयति प्रत्यगात्मत्वं सर्वस्य—

समाधान—यह दोष नहीं है, क्योंकि सबका प्रत्यगात्मा होनेसे आत्माके ज्ञानको ही उपचारसे गति कहा गया है। तथा इन्द्रिय, मन और बुद्धिसे आत्माका परत्व प्रदर्शित कर उसका प्रत्यगात्मत्व दिखलाया गया है, क्योंकि जो जानेवाला है वह अपने पृथक् अनात्मभूत एवं अप्राप्त स्थानकी ओर ही जाया करता है; इससे विपरीत अपनी ही ओर नहीं आता-जाता। इस विषयमें "संसारमार्गसे पार होनेकी इच्छावाले पुरुष मार्गरहित होते हैं" इत्यादि श्रुति भी प्रमाण है। तथा आगेकी श्रुति भी पुरुषका सबका प्रत्यगात्मा होना प्रदर्शित करती है—

आत्मा सूक्ष्मबुद्धिग्राह्य है

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते ।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥ १२ ॥

सम्पूर्ण भूतोंमें छिपा हुआ यह आत्मा प्रकाशमान नहीं होता। यह तो सूक्ष्मदर्शी पुरुषोंद्वारा अपनी तीव्र और सूक्ष्मबुद्धिसे ही देखा जाता है ॥ १२ ॥

एष पुरुषः सर्वेषु ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तेषु भूतेषु गूढः संवृतो दर्शनश्रवणादिकर्माविद्यामाया-

यह पुरुष ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त सम्पूर्ण भूतोंमें गूढ यानी छिपा हुआ, दर्शन, श्रवण आदि कर्म करनेवाला तथा अविद्या यानी

च्छन्नोऽत एवात्मा न प्रकाशत आत्मत्वेन कस्यचित्। अहो अतिगम्भीरा दुरवगाह्या विचित्रा माया चेयं यदयं सर्वो जन्तुः परमार्थतः परमार्थसतत्त्वोऽप्येवं बोध्यमानोऽहं परमात्मेति न गृह्णात्यनात्मानं देहेन्द्रियादिसङ्घातमात्मनो दृश्यमानमपि घटादिवदात्मत्वेनाहममुष्य पुत्र इत्यनुच्यमानोऽपि गृह्णाति। नूनं परस्यैव मायया मोमुह्यमानः सर्वो लोको बम्भ्रमीति। तथा च स्मरणम्—"नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः" (गीता ७। २५) इत्यादि।

मायासे आच्छादित है। अतः सबका अन्तरात्मस्वरूप होनेके कारण आत्मा किसीके प्रति प्रकाशित नहीं होता। अहो! यह माया बड़ी ही गम्भीर, दुर्गम और विचित्र है, जिससे कि ये संसारके सभी जीव वस्तुतः परमार्थस्वरूप होनेपर भी [शास्त्र और आचार्यद्वारा] वैसा बोध कराये जानेपर 'मै परमात्मा हूँ' इस तत्त्वको ग्रहण नहीं करते; बल्कि जो देह और इन्द्रिय आदि सङ्घात घटादिके समान अपने दृश्य है उन्हे, किसीके न कहनेपर भी 'मै इसका पुत्र हूँ' इत्यादि प्रकारसे आत्मभावसे ग्रहण करते हैं। निश्चय, उस परमात्माकी ही मायासे यह सारा जगत् अत्यन्त भ्रान्त हो रहा है। ऐसे ही "योगमायासे आवृत हुआ मै सबके प्रति प्रकाशित नही होता" यह स्मृति भी है।

ननु विरुद्धमिदमुच्यते "मत्वा धीरो न शोचति" (क० उ० २।१।४) "न प्रकाशते" (क० उ० १।३।१२) इति च।

शङ्का—किन्तु "उसे जानकर पुरुप शोक नही करता" "[वह गूढ़ आत्मा] प्रकाशित (ज्ञात) नहीं होता" यह तो विपरीत ही कहा गया है।

नैतदेवम्। असंस्कृतबुद्धेरविज्ञेयत्वान्न प्रकाशत इत्युक्तम्।

समाधान—ऐसी बात नही है। आत्मा अशुद्धबुद्धि पुरुपके लिये अविज्ञेय है; इसीलिये यह कहा

दृश्यते तु संस्कृतया अग्र्यया अग्रमिवाग्र्या तया, एकाग्रतयोपेतयेत्येतत्, सूक्ष्मया सूक्ष्मवस्तुनिरूपणपरया; कैः? सूक्ष्मदर्शिभिः 'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः' इत्यादिप्रकारेण सूक्ष्मतापारम्पर्यदर्शनेन परं सूक्ष्मं द्रष्टुं शीलं येषां ते सूक्ष्मदर्शिनस्तैः सूक्ष्मदर्शिभिः पण्डितैरित्येतत् ॥ १२ ॥

गया है कि 'वह प्रकाशित नही होता'। वह तो संस्कारयुक्त और तीक्ष्ण—जो किसी पैनी नोकके समान सूक्ष्म हो ऐसी एकाग्रतासे युक्त और सूक्ष्म वस्तुके निरीक्षणमे लगी हुई तीव्र बुद्धिसे ही दिखलायी देता है। किन्हे दिखलायी देता है? [इसपर कहते है—] सूक्ष्मदर्शियोको। 'इन्द्रियोंसे उनके विषय सूक्ष्म है' इत्यादि प्रकारसे सूक्ष्मताकी परम्पराका विचार करनेसे जिनका पर—सूक्ष्म वस्तुको देखनेका स्वभाव पड गया है, वे सूक्ष्मदर्शी है; उन सूक्ष्मदर्शी पण्डितोको [वह दिखलायी देता है]—यह इसका भावार्थ है ॥ १२ ॥

लयचिन्तन

तत्प्रतिपत्त्युपायमाह—

अब उसकी प्राप्तिका उपाय बतलाते है—

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि १३

विवेकी पुरुष वाक्-इन्द्रियका मनमे उपसंहार करे, उसका प्रकाशस्वरूप बुद्धिमे लय करे, बुद्धिको महत्तत्त्वमे लीन करे और महत्तत्त्वको शान्त आत्मामे नियुक्त करे ॥ १३ ॥

यच्छेन्नियच्छेदुपसंहरेत्प्राज्ञो विवेकी; किम्? वाग्वाचम्। वागत्रोपलक्षणार्था सर्वेषामिन्द्रियाणाम्। क्व? मनसी मनसीतिच्छान्दसं दैर्घ्यम्। तच्च मनो यच्छेज्ज्ञाने प्रकाशस्वरूपे बुद्धौ आत्मनि। बुद्धिर्हि मनआदिकरणान्याप्नोतीत्यात्मा प्रत्यक् तेषाम्। ज्ञानं बुद्धिमात्मनि महति प्रथमजे नियच्छेत्। प्रथमजवत् स्वच्छस्वभावकमात्मनो विज्ञानम् आपादयेदित्यर्थः। तं च महान्तम् आत्मानं यच्छेच्छान्ते सर्वविशेषप्रत्यस्तमितरूपेऽविक्रिये सर्वान्तरे सर्वबुद्धिप्रत्ययसाक्षिणि मुख्य आत्मनि ॥ १३ ॥

विवेकी पुरुष 'यच्छेत्' अर्थात् नियुक्त करे—उपसंहार करे; किसका उपसंहार करे? वाक् अर्थात् वाणीका। यहाँ वाक् सम्पूर्ण इन्द्रियोंका उपलक्षण करानेके लिये है। कहाँ उपसंहार करे? मनमें; 'मनसी' पदमें ह्रस्व इकारके स्थानमें दीर्घ प्रयोग छान्दस है। फिर उस मनको ज्ञान अर्थात् प्रकाशस्वरूप बुद्धि—आत्मामें लीन करे। बुद्धि ही मन आदि इन्द्रियोंमें व्याप्त है, इसलिये वह उनका आत्मा—प्रत्यक्स्वरूप है। उस ज्ञानस्वरूप बुद्धिको प्रथम विकार महान् आत्मामें लीन करे अर्थात् प्रथम उत्पन्न हुए महत्तत्त्वके समान आत्माका स्वच्छ-स्वभाव विज्ञान प्राप्त करे। और महान् आत्माको जिसका स्वरूप सम्पूर्ण विशेषोंसे रहित है और जो अविक्रिय, सर्वान्तर तथा बुद्धिके सम्पूर्ण प्रत्ययोंका साक्षी है उस मुख्य आत्मामें लीन करे ॥ १३ ॥

एवं पुरुष आत्मनि सर्वं प्रविलाप्य नामरूपकर्मत्रयं यन्मिथ्याज्ञानविजृम्भितं क्रियाकारकफललक्षणं स्वात्मयाथात्म्यज्ञानेन

मृगतृष्णा, रज्जु और आकाशके स्वरूपका ज्ञान होनेसे जैसे मृगजल, रज्जु-सर्प और आकाश-मालिन्यका बाध हो जाता है, उसी प्रकार मिथ्याज्ञानसे प्रतीत होनेवाले समस्त प्रपञ्च यानी नाम, रूप और कर्म

मरीच्युदकरज्जुसर्पगगनमलानीव मरीचिरज्जुगगनस्वरूपदर्शनेनैव स्वस्थः प्रशान्तात्मा कृतकृत्यो भवति यतोऽतस्तद्दर्शनार्थम्—

इन तीनोको, जो क्रिया कारक और फलरूप ही है, स्वात्मतत्त्वके यथार्थ ज्ञानद्वारा पुरुष अर्थात् आत्मामे लीन करके मनुष्य स्वस्थ, प्रशान्तचित्त एवं कृतकृत्य हो जाता है । क्योकि ऐसा है, इसलिये उसका साक्षात्कार करनेके लिये—

उद्बोधन

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया
दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति ॥ १४ ॥

[अरे अविद्याग्रस्त लोगो !] उठो, [अज्ञान-निद्रासे] जागो, और श्रेष्ठ पुरुषोके समीप जाकर ज्ञान प्राप्त करो । जिस प्रकार छुरेकी धार तीक्ष्ण और दुस्तर होती है, तत्त्वज्ञानी लोग उस मार्गको वैसा ही दुर्गम बतलाते है ॥ १४ ॥

अनाद्यविद्याप्रसुप्ता उत्तिष्ठत हे जन्तव आत्मज्ञानाभिमुखा भवत; जाग्रताज्ञाननिद्राया घोररूपायाः सर्वानर्थबीजभूतायाः क्षयं कुरुत ।

अरे अनादि अविद्यासे सोये हुए जीवो ! उठो, आत्मज्ञानके अभिमुख होओ तथा घोररूप अज्ञाननिद्रासे जागो—सम्पूर्ण अनर्थोकी बीजभूत उस अज्ञान-निद्राका क्षय करो ।

कथम् ? प्राप्योपगम्य वरान् प्रकृष्टानाचार्यांस्तद्विदस्तदुपदिष्टं सर्वान्तरमात्मानमहमस्मीति निबोधतावगच्छत । न ह्युपेक्षित-

किस प्रकार [क्षय करें ?] श्रेष्ठ—उत्कृष्ट आत्मज्ञानी आचार्योंके पास जाकर—उनके समीप पहुँचकर उनके उपदेश किये हुए सर्वान्तर्यामी आत्माको 'मै यही हूँ' ऐसा जानो । उसकी उपेक्षा नही

न्यमिति श्रुतिरनुकम्पयाह मातृवत् । अतिसूक्ष्मबुद्धिविषयत्वाज्ज्ञेयस्य । किमिव सूक्ष्मबुद्धिः इत्युच्यते; क्षुरस्य धाराग्रं निशिता तीक्ष्णीकृता दुरत्यया दुःखेनात्ययो यस्याः सा दुरत्यया । यथा सा पद्भ्यां दुर्गमनीया तथा दुर्गं दुःसंपाद्यमित्येतत् पथः पन्थानं तत्त्वज्ञानलक्षणं मार्गं कवयो मेधाविनो वदन्ति । ज्ञेयस्यातिसूक्ष्मत्वात्तद्विषयस्य ज्ञानमार्गस्य दुःसंपाद्यत्वं वदन्तीत्यभिप्रायः ॥ १४ ॥

करनी चाहिये—ऐसा माताके समान कृपा करके श्रुति कह रही है, क्योंकि वह ज्ञेय पदार्थ अत्यन्त सूक्ष्म बुद्धिका ही विषय है। सूक्ष्म बुद्धि कैसी होती है ? इसपर कहते हैं—निशित अर्थात् पैनायी हुई छुरेकी धार—अग्रभाग जिस प्रकार दुरत्यय होती है—जिसे कठिनतासे पार किया जा सके उसे दुरत्यय कहते हैं। जिस प्रकार उसपर पैरोंसे चलना अत्यन्त कठिन है उसी प्रकार यह आत्मज्ञानका मार्ग बड़ा दुर्गम अर्थात् दुष्प्राप्य है—ऐसा कवि—मेधावी पुरुष कहते है। अभिप्राय यह है कि ज्ञेय अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण मनीषिजन उससे सम्बद्ध ज्ञानमार्गको दुष्प्राप्य बतलाते है ॥१४॥

तत्कथमतिसूक्ष्मत्वं ज्ञेयस्य इत्युच्यते; स्थूला तावदियं मेदिनी शब्दस्पर्शरूपरसगन्धोपचिता सर्वेन्द्रियविषयभूता तथा शरीरम् । तत्रैकैकगुणापकर्षेण गन्धादीनां सूक्ष्मत्वमहत्त्वविशुद्धत्वनित्यत्वा-

उस ज्ञेयकी अत्यन्त सूक्ष्मता किस प्रकार है ? इसपर कहते है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—[इन पाँचो विषयो] से वृद्धिको प्राप्त हुई तथा सम्पूर्ण इन्द्रियोकी विषयभूत यह पृथिवी स्थूल है; ऐसा ही शरीर भी है। उनमे गन्धादि गुणोमेसे एक-एकका अपकर्ष—क्षय होनेसे जलसे लेकर

दितारतम्यं दृष्टमबादिषु याव- दाकाशमिति ते गन्धादयः सर्व एव स्थूलत्वाद्विकाराः शब्दान्ता यत्र न सन्ति किमु तस्य सूक्ष्म- त्वादिनिरतिशयत्वं वक्तव्यम् इत्येतद्दर्शयति श्रुतिः—

आकाशपर्यन्त चार भूतोंमे सूक्ष्मत्व, महत्त्व, विशुद्धत्व और नित्यत्व आदिका तारतम्य देखा गया है। किन्तु स्थूल होनेके कारण जहाँ गन्धसे लेकर शब्दपर्यन्त ये सारे विकार नही है उसके सूक्ष्मत्वादिकी निरतिशयताके विषयमे क्या कहा जाय ? यही बात आगेकी श्रुति दिखलाती है—

निर्विशेष आत्मज्ञानसे अमृतत्वप्राप्ति

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं
तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत् ।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं
निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ॥ १५ ॥

जो अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय तथा रसहीन, नित्य और गन्धरहित है; जो अनादि, अनन्त, महत्तत्त्वसे भी पर और ध्रुव (निश्चल) है उस आत्मतत्त्वको जानकर पुरुष मृत्युके मुखसे छूट जाता है ॥ १५ ॥

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत् एतद्व्याख्यातं ब्रह्माव्ययम्— यद्धि शब्दादिमत्तद्व्येतीदं तु अशब्दादिमत्त्वादव्ययं न व्येति न क्षीयते, अत एव च नित्यं यद्धि व्येति तदनित्यमिदं तु न

जो अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय तथा अरस, नित्य और अगन्धयुक्त है—ऐसी जिसकी व्याख्या की जाती है वह ब्रह्म अविनाशी है, क्योंकि जो पदार्थ शब्दादियुक्त होता है उसीका व्यय होता है; किन्तु यह ब्रह्म तो अशब्दादियुक्त होनेके कारण अव्यय है; इसका व्यय—क्षय नही होता, इसीलिये यह नित्य भी है; क्योंकि जिसका व्यय होता है वह अनित्य है । इसका व्यय नही होता

ध्येत्यतो नित्यम् । इतश्च नित्यम् अनाद्यविद्यमान आदिः कारणम् अस्य तदिदमनादि । यद्ध्यादि-मत्तत्कार्यत्वादनित्यं कारणे प्रलीयते यथा पृथिव्यादि । इदं तु सर्वकारणत्वादकार्यमकार्य-त्वान्नित्यं न तस्य कारणमस्ति यस्मिन्प्रलीयेत ।

इसलिये यह नित्य है । यह अनादि अर्थात् जिसका आदि—कारण विद्यमान नहीं है ऐसा होनेसे भी नित्य है, क्योंकि जो पदार्थ आदिमान् होता है वह कार्यरूप होनेसे अनित्य होता है और अपने कारणमें लीन हो जाता है; जैसे कि पृथिवी आदि । किन्तु यह आत्मा तो सबका कारण होनेसे अकार्य है और अकार्य होनेके कारण नित्य है । इसका कोई कारण नहीं है, जिसमें कि यह लीन हो ।

तथानन्तम् अविद्यमानोऽन्तः कार्यमस्य तदनन्तम् । यथा कदल्यादेः फलादिकार्योत्पादनेन अपि अनित्यत्वं दृष्टं न च तथाप्यन्तवत्त्वं ब्रह्मणः; अतोऽपि नित्यम् ।

इसी प्रकार यह आत्मा अनन्त भी है । जिसका अन्त अर्थात् कार्य अविद्यमान हो उसे अनन्त कहते हैं । जिस प्रकार फलादि कार्य उत्पन्न करनेसे भी कदली आदि पौधोंकी अनित्यता देखी गयी है उस प्रकार ब्रह्मका अन्तवत्त्व नहीं देखा गया । इसलिये भी वह नित्य है ।

महतो महत्तत्त्वाद्बुद्ध्या-ख्यात्परं विलक्षणं नित्यविज्ञप्ति-स्वरूपत्वात्सर्वसाक्षि हि सर्वभूता-त्मत्वाद् ब्रह्म । उक्तं हि "एष सर्वेषु भूतेषु" (क० उ० १ । ३ । १२)

नित्यविज्ञप्तिस्वरूप होनेके कारण बुद्धिसंज्ञक महत्तत्त्वसे भी पर अर्थात् विलक्षण है, क्योंकि ब्रह्म सम्पूर्ण भूतोंका अन्तरात्मा होनेके कारण सबका साक्षी है । यह बात उपर्युक्त "एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते" इत्यादि मन्त्रमें कही ही

इत्यादि । ध्रुवं च कूटस्थं नित्यं न पृथिव्यादिवदापेक्षिकं नित्यत्वम् । तदेवंभूतं ब्रह्मात्मानं निचाय्यावगम्य तमात्मानं मृत्युमुखान्मृत्युगोचरादविद्याकामकर्मलक्षणात्प्रमुच्यते विमुच्यते ॥

गयी है । इसी प्रकार वह ध्रुव—कूटस्थ नित्य है । उसकी नित्यता पृथिवी आदिके समान आपेक्षिक नहीं है । उस इस प्रकारके ब्रह्म—आत्माको जानकर पुरुष मृत्युमुखसे—अविद्या, काम और कर्मरूप मृत्युके पंजेसे मुक्त—वियुक्त हो जाता है ॥ १५ ॥

प्रस्तुतविज्ञानस्तुत्यर्थमाह श्रुतिः—

अब प्रस्तुत विज्ञानकी स्तुतिके लिये श्रुति कहती है—

प्रस्तुत विज्ञानकी महिमा

नाचिकेतमुपाख्यानं मृत्युप्रोक्तꣳ सनातनम् ।
उक्त्वा श्रुत्वा च मेधावी ब्रह्मलोके महीयते ॥ १६ ॥

नचिकेताद्वारा प्राप्त तथा मृत्युके कहे हुए इस सनातन विज्ञानको कह और सुनकर बुद्धिमान् पुरुष ब्रह्मलोकमे महिमान्वित होता है ॥१६॥

नाचिकेतं नचिकेतसा प्राप्तं नाचिकेतं मृत्युना प्रोक्तं मृत्युप्रोक्तमिदमाख्यानमुपाख्यानं वल्लीत्रयलक्षणं सनातनं चिरन्तनं वैदिकत्वादुक्त्वा ब्राह्मणेभ्यः श्रुत्वाचार्येभ्यो मेधावी ब्रह्मैव लोको ब्रह्मलोकस्तस्मिन्महीयत आत्मभूत उपास्यो भवतीत्यर्थः ॥ १६ ॥

नचिकेताद्वारा प्राप्त किये तथा मृत्युके कहे हुए इस तीन वल्लियोवाले उपाख्यानको, जो वैदिक होनेके कारण सनातन—चिरन्तन है, ब्राह्मणोसे कहकर तथा आचार्योंसे सुनकर मेधावी पुरुष ब्रह्मलोकमे—ब्रह्म ही लोक है; उसमे महिमान्वित होता है अर्थात् सबका आत्मस्वरूप होकर उपासनीय होता है ॥ १६ ॥

य इमं परमं गुह्यं श्रावयेद्ब्रह्मसंसदि ।
प्रयतः श्राद्धकाले वा तदानन्त्याय कल्पते
तदानन्त्याय कल्पत इति॥ १७ ॥

जो पुरुष इस परम गुह्य ग्रन्थको पवित्रतापूर्वक ब्राह्मणोंकी सभामे अथवा श्राद्धकालमे सुनाता है उसका वह श्राद्ध अनन्त फलवाला होता है, अनन्त फलवाला होता है ॥ १७ ॥

यः कश्चिदिमं ग्रन्थं परमं प्रकृष्टं गुह्यं गोप्यं श्रावयेद् ग्रन्थतोऽर्थतश्च ब्राह्मणानां संसदि ब्रह्मसंसदि प्रयतः शुचिर्भूत्वा श्राद्धकाले वा श्रावयेद् भुञ्जानानां तच्छ्राद्धमस्यानन्त्यायानन्तफलाय कल्पते संपद्यते । द्विर्वचनम् अध्यायपरिसमाप्त्यर्थम्॥ १७ ॥

जो कोई पुरुप इस परम—प्रकृष्ट और गुह्य—गोपनीय ग्रन्थको पवित्र होकर ब्राह्मणोकी सभामें अथवा श्राद्धकालमे—भोजन करनेके लिये बैठे हुए ब्राह्मणोके प्रति केवल पाठमात्र या अर्थ करते हुए सुनाता है उसका वह श्राद्ध अनन्त फलवाला होता है । यहाँ अध्यायकी समाप्तिके लिये 'तदानन्त्याय कल्पते' यह वाक्य दो वार कहा गया है ॥ १७॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य-
श्रीमदाचार्यश्रीशङ्करभगवतः कृतौ कठोपनिषद्भाष्ये
प्रथमाध्याये तृतीयवल्लीभाष्यं समाप्तम् ॥ ३ ॥

इति कठोपनिषदि प्रथमोऽध्यायः समाप्तः ॥ १ ॥

द्वितीय अध्याय

प्रथमा वल्ली

आत्मदर्शनका विघ्न—इन्द्रियोंकी बहिर्मुखता

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्येत्युक्तम् । कः पुनः प्रतिबन्धोऽग्र्याया बुद्धेर्येन तदभावात् आत्मा न दृश्यत इति तददर्शनकारणप्रदर्शनार्था वल्ल्यारभ्यते । विज्ञाते हि श्रेयःप्रतिबन्धकारणे तदपनयनाय यत्न आरब्धुं शक्यते नान्यथेति—

'सम्पूर्ण भूतोंमे छिपा हुआ वह आत्मा प्रकाशित नहीं होता; वह तो एकाग्र बुद्धिसे ही देखा जाता है' ऐसा पहले (१ । ३ । १२ मे) कहा था । अब प्रश्न होता है कि एकाग्र बुद्धिका ऐसा कौन प्रतिबन्ध है जिससे कि उस (एकाग्र बुद्धि) का अभाव होनेपर आत्मा दिखायी नही देता ? अतः आत्मदर्शनके प्रतिबन्धका कारण दिखलानेके लिये यह वल्ली आरम्भ की जाती है, क्योंकि श्रेयके प्रतिबन्धका कारण जान लेनेपर ही उसकी निवृत्तिके यत्नका आरम्भ किया जा सकता है, अन्यथा नही—

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभू-
स्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन् ।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष-
दावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥ १ ॥

स्वयम्भू (परमात्मा) ने इन्द्रियोंको बहिर्मुख करके हिंसित कर दिया है । इसीसे जीव बाह्य विषयोंको देखता है, अन्तरात्माको नही । जिसने अमरत्वकी इच्छा करते हुए अपनी इन्द्रियोंको रोक लिया है ऐसा कोई धीर पुरुष ही प्रत्यगात्माको देख पाता है ॥ १ ॥

पराञ्चि परागञ्चन्ति गच्छन्तीति खानि तदुपलक्षितानि श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि खानीत्युच्यन्ते । तानि पराञ्च्येव शब्दादिविषयप्रकाशनाय प्रवर्तन्ते । यस्मादेवं स्वाभाविकानि तानि व्यतृणद्धिंसितवान्हननं कृतवान् इत्यर्थः । कोऽसौ ? स्वयंभूः परमेश्वरः स्वयमेव स्वतन्त्रो भवति सर्वदा न परतन्त्र इति । तस्मात्पराङ् पराग्रूपाननात्मभूताञ्शब्दादीन्पश्यत्युपलभत उपलब्धा, नान्तरात्मन्नान्तरात्मानमित्यर्थः ।

एवंस्वभावेऽपि सति लोकस्य कश्चिन्नद्याः प्रतिस्रोतः प्रवर्तनमिव धीरो धीमान्विवेकी प्रत्यगात्मानं

जो पराक् अर्थात् बाहरकी ओर अञ्चन करती—गमन करती है उन्हे 'पराञ्चि' (बाहर जानेवाली) कहते है। 'ख' छिद्रोको कहते है, उनसे उपलक्षित श्रोत्रादि इन्द्रियाँ 'खानि'* नामसे कही गयी है। वे बहिर्मुख होकर ही शब्दादि विषयोको प्रकाशित करनेके लिये प्रवृत्त हुआ करती हैं। क्योकि वे ऐसी है इसलिये स्वभावसे ही उन्हे हिंसित कर दिया है—उनका हनन कर दिया है। वह [हनन करनेवाला] कौन है ? स्वयम्भू—परमेश्वर अर्थात् जो स्वतः ही सर्वदा स्वतन्त्र रहता है—परतन्त्र नही रहता। इसलिये वह उपलब्धा सर्वदा पराक् अर्थात् बहिःस्वरूप अनात्मभूत शब्दादि विषयोंको ही देखता—उपलब्ध करता है, 'नान्तरात्मन्' अर्थात् अन्तरात्माको नही।

यद्यपि लोकका ऐसा ही स्वभाव है तो भी कोई धीर—बुद्धिमान्—विवेकी पुरुष ही नदीको उसके प्रवाहके विपरीत दिशामे फेर देनेके समान [इन्द्रियोको विषयोकी

* नपुं० 'ख' शब्दका प्रथमा-बहुवचन ।

प्रत्यक्चासावात्मा चेति प्रत्यगात्मा। प्रतीच्येवात्मशब्दो रूढो लोके नान्यस्मिन्। व्युत्पत्तिपक्षेऽपि तत्रैवात्मशब्दो वर्तते।

"यच्चाप्नोति यदादत्ते
यच्चात्ति विषयानिह।
यच्चास्य संततो भाव-
स्तस्मादात्मेति कीर्त्यते"
(लिङ्ग० १ । ७० । ९६)

इत्यात्मशब्दव्युत्पत्तिस्मरणात्।

तं प्रत्यगात्मानं स्वं स्वभावमैक्षदपश्यत्पश्यतीत्यर्थः, छन्दसि कालानियमात्। कथं पश्यतीत्युच्यते। आवृत्तचक्षुरावृत्तं व्यावृत्तं चक्षुः श्रोत्रादिकमिन्द्रियजातम् अशेषविषयाद्यस्य स आवृत्तचक्षुः। स एवं संस्कृतः प्रत्यगात्मानं पश्यति। न हि बाह्यविषया-

ओरसे हटाकर] उस अपने प्रत्यगात्माको [देखता है]। जो प्रत्यक् (सम्पूर्ण विषयोंको जाननेवाला) हो और आत्मा भी हो उसे प्रत्यगात्मा कहते है। लोकमे आत्मा शब्द 'प्रत्यक्'के अर्थमे ही रूढ है, और किसी अर्थमे नही। व्युत्पत्तिपक्षमे भी 'आत्मा' शब्दकी प्रवृत्ति उसी (प्रत्यक्-अर्थ ही) में है जैसा कि "क्योंकि यह सबको व्याप्त करता है, ग्रहण करता है और इस लोकमे विषयोको भोगता है तथा इसका सर्वदा सद्भाव है इसलिये यह 'आत्मा' कहलाता है" इस प्रकार आत्मा शब्दकी व्युत्पत्तिके सम्बन्धमे स्मृति है।

उस प्रत्यगात्माको अर्थात् अपने स्वरूपको 'ऐक्षत्'—देखा यानी देखता है। वैदिक प्रयोगमे कालका नियम न होनेके कारण यहाँ वर्तमान कालके अर्थमें भूतकालकी क्रिया [ऐक्षत्] का प्रयोग हुआ है। वह किस प्रकार देखता है? इसपर कहते है—'आवृत्तचक्षुः' अर्थात् जिसने अपनी चक्षु और श्रोत्रादि इन्द्रियसमूहको सम्पूर्ण विषयोंसे व्यावृत्त कर लिया है—लौटा लिया है, वह इस प्रकार संस्कारयुक्त हुआ पुरुष ही उस प्रत्यगात्माको देख पाता है। एक

लोचनपरत्वं प्रत्यगात्मेक्षणं चैकस्य संभवति । किमर्थं पुनरित्थं महता प्रयासेन स्वभावप्रवृत्तिनिरोधं कृत्वा धीरः प्रत्यगात्मानं पश्यति इत्युच्यते; अमृतत्वममरण-धर्मत्वं नित्यस्वभावतामिच्छन् आत्मन इत्यर्थः ॥ १ ॥

ही पुरुषके लिये बाह्य विषयोंकी आलोचनामे तत्पर रहना तथा प्रत्यगात्माका साक्षात्कार करना—ये दोनो बाते सम्भव नहीं हैं । 'अच्छा, तो, इस प्रकार महान् परिश्रमसे [इन्द्रियोंकी] स्वाभाविक प्रवृत्तिको रोककर धीर पुरुष प्रत्यगात्माको क्यो देखता है ?' ऐसी आशंका होनेपर कहते है—'अमृतत्व—अमरणधर्मत्व अर्थात् आत्माकी नित्यस्वभावताकी इच्छा करता हुआ [उसे देखता है]' ॥ १ ॥

यत्तावत्स्वाभाविकं परागेव अनात्मदर्शनं तदात्मदर्शनस्य प्रतिबन्धकारणमविद्या तत्प्रति-कूलत्वात् । या च पराक्ष्वेवा-विद्योपप्रदर्शितेषु दृष्टादृष्टेषु भोगेषु तृष्णा ताभ्यामविद्या-तृष्णाभ्यां प्रतिबद्धात्मदर्शनाः—

जो स्वभावसे ही बाह्य अनात्म-दर्शन है वही आत्मदर्शनके प्रतिबन्धकी कारणरूपा अविद्या है, क्योंकि वह उस (आत्मदर्शन) के प्रतिकूल है । इसके सिवा अविद्यासे दिखलायी देनेवाले दृष्ट और अदृष्ट बाह्य भोगोंमे जो तृष्णा है उन अविद्या और तृष्णा दोनोंहीसे जिनका आत्मदर्शन प्रतिबद्ध हो रहा है वे—

अविवेकी और विवेकीका अन्तर

पराचः कामाननुयन्ति बाला-
स्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम् ।
अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा
ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते ॥ २ ॥

.अल्पज्ञ पुरुष बाह्य भोगोंके पीछे लगे रहते है। वे मृत्युके सर्वत्र फैले हुए पाशमे पड़ते हैं। किन्तु विवेकी पुरुष अमरत्वको ध्रुव (निश्चल) जानकर संसारके अनित्य पदार्थोंमेसे किसीकी इच्छा नही करते ॥२॥

पराचो बहिर्गतानेव कामान् काम्यान्विषयाननुयन्ति अनुगच्छन्ति बाला अल्पप्रज्ञास्ते तेन कारणेन मृत्योरविद्याकामकर्मसमुदायस्य यन्ति गच्छन्ति विततस्य विस्तीर्णस्य सर्वतो व्याप्तस्य पाशं पाश्यते बद्धयते येन तं पाशं देहेन्द्रियादिसंयोगवियोगलक्षणम्। अनवरतजन्ममरणजरारोगाद्यनेकानर्थव्रातं प्रतिपद्यन्त इत्यर्थः।

यत एवमथ तस्माद्धीरा विवेकिनः प्रत्यगात्मस्वरूपावस्थानलक्षणममृतत्वं ध्रुवं विदित्वा, देवाद्यमृतत्वं ह्यध्रुवमिदं तु प्रत्यगात्मस्वरूपावस्थानलक्षणं "न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्" (बृ० उ० ४।४।२३) इति ध्रुवम्। तदेवंभूतं कूटस्थमविचाल्यममृतत्वं विदित्वाध्रुवेषु सर्वपदार्थेष्वनित्येषु निर्धार्य

बाल—मन्दमति पुरुष पराक्—बाह्य कामनाओंका—काम्य विषयोंका ही अनुगमन—पीछा किया करते है। इसी कारणसे वे अविद्या काम और कर्मके समुदायरूप मृत्युके वितत—विस्तीर्ण—सर्वत्र व्याप्त पाशमे [पड़ते है]। जिससे जीव पाशित होता है—बाँधा जाता है उस देहेन्द्रियादिके संयोग-वियोगरूप पाशमे पड़ते है। अर्थात् निरन्तर जन्म-मरण, जरा और रोग आदि बहुत-से अनर्थसमूहको प्राप्त होते है।

क्योंकि ऐसी बात है इसलिये धीर—विवेकी पुरुष प्रत्यगात्मस्वरूपमे स्थितिरूप अमृतत्वको ध्रुव (निश्चल) जानकर—देवता आदिका अमृतत्व तो अध्रुव है किन्तु यह प्रत्यगात्मस्वरूपमे स्थितिरूप अमृतत्व "यह कर्मसे न बढ़ता है न घटता है" इस उक्तिके अनुसार ध्रुव है—इस प्रकारके अमृतत्वको कूटस्थ और अविचाल्य जानकर वे ब्राह्मण (ब्रह्मवेत्ता) लोग इस अनर्थप्राय संसारके सम्पूर्ण

ब्राह्मणा इह संसारेऽनर्थप्राये न प्रार्थयन्ते किंचिदपि प्रत्यगात्मदर्शनप्रतिकूलत्वात् । पुत्रवित्तलोकैषणाभ्यो व्युत्तिष्ठन्त्येवेत्यर्थः ॥ २ ॥

अध्रुव—अनित्य पदार्थोंमेसे किसीकी इच्छा नही करते, क्योंकि वे सब तो प्रत्यगात्माके दर्शनके विरोधी ही है। अर्थात् वे पुत्र, वित्त और लोकैषणासे दूर ही रहते है ॥२॥

यद्विज्ञानान्न किंचिदन्यत् प्रार्थयन्ते ब्राह्मणाः कथं तदधिगम इत्युच्यते—

ब्राह्मण लोग जिसका ज्ञान हो जानेसे और किसी वस्तुकी इच्छा नही करते उस ब्रह्मका बोध किस प्रकार होता है ? इसपर कहते है—

आत्मज्ञकी सर्वज्ञता

येन रूपं रसं गन्धं शब्दान्स्पर्शाꣳश्च मैथुनान् ।
एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते। एतद्वै तत् ॥ ३ ॥

जिस इस आत्माके द्वारा मनुष्य रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श और मैथुनजन्य सुखोको निश्चयपूर्वक जानता है [उस आत्मासे अविज्ञेय] इस लोकमे और क्या रह जाता है ? [तुझ नचिकेताका पूछा हुआ] वह तत्त्व निश्चय यही है ॥ ३ ॥

येन विज्ञानस्वभावेनात्मना रूपं रसं गन्धं शब्दान्स्पर्शांश्च मैथुनान्मैथुननिमित्तान्सुखप्रत्ययान्विजानाति विस्पष्टं जानाति सर्वो लोकः ।

सम्पूर्ण लोक जिस विज्ञानस्वरूप आत्माके द्वारा रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श और मैथुन—मैथुनजनित सुखोको स्पष्टतया जानता है [वही ब्रह्म है] ।

ननु नैवं प्रसिद्धिर्लोकस्य आत्मना देहादिविलक्षणेनाहं विजानामीति । देहादिसंघातोऽहं विजानामीति तु सर्वो लोकोऽवगच्छति ।

शङ्का—परन्तु लोकमे ऐसी कोई प्रसिद्धि नही है कि मैं किसी देहादिसे विलक्षण आत्माद्वारा जानता हूँ । सब लोग यही समझते है कि मै देहादि संघातरूप ही सब कुछ जानता हूँ ।

द्रष्टृस्य-विवेचनम्

न त्वेवम् । देहादिसंघातस्यापि शब्दादिस्वरूपत्वाविशेषाद्विज्ञेयत्वाविशेषाच्च न युक्तं विज्ञातृत्वम् । यदि हि देहादिसंघातो रूपाद्यात्मकः सन्रूपादीन्विजानीयाद्बाह्या अपि रूपादयोऽन्योन्यं स्वं स्वं रूपं च विजानीयुः । न चैतदस्ति । तस्माद्देहादिलक्षणांश्च रूपादीनेतेनैव देहादिव्यतिरिक्तेनैव विज्ञानस्वभावेनात्मना विजानाति लोकः । यथा येन लोहो दहति सोऽग्निरिति तद्वत् ।

आत्मनोऽविज्ञेयं किमत्रास्मिँल्लोके परिशिष्यते न किंचित्परिशिष्यते । सर्वमेव त्वात्मना विज्ञेयम् । यस्यात्मनोऽविज्ञेयं न किंचित्परिशिष्यते स आत्मा सर्वज्ञः । एतद्वै तत् । किं तद्यत् नचिकेतसा पृष्टं देवादिभिरपि

समाधान—ऐसी बात तो नहीं है, क्योंकि देहादि संघात भी समानरूपसे शब्दादिरूप तथा विज्ञेयस्वरूप है; अतः उसे ज्ञाता मानना उचित नहीं है। यदि देहादि संघात रूप-रसादिस्वरूप होकर भी रूपादिको जान ले तो बाह्य रूपादि भी परस्पर एक-दूसरेको तथा अपने-अपने रूपको जान लेंगे; किन्तु यह बात है नहीं। अतः लोक देहादिस्वरूप रूपादिको इस देहादिव्यतिरिक्त विज्ञानस्वभाव आत्माके द्वारा ही जानता है। जिस प्रकार लोहा जिसके द्वारा जलाता है उसे अग्नि कहते हैं उसी प्रकार [जिसके द्वारा लोक देहादि विषयोंको जानता है उसे आत्मा कहते हैं]।

उस आत्मासे जिसका ज्ञान न हो सके ऐसा क्या पदार्थ इस लोकमें रह जाता है, अर्थात् कुछ भी नहीं रहता—सभी कुछ आत्मासे ही जाना जा सकता है। [इस प्रकार] जिस आत्मासे अविज्ञेय कोई भी वस्तु नहीं रहती वह आत्मा सर्वज्ञ है और यही वह है। वह कौन है? जिसके विषयमें तुझ नचिकेताने प्रश्न किया है, जो देवादिका भी सन्देहास्पद है तथा

विचिकित्सितं धर्मादिभ्योऽन्यद् विष्णोः परमं पदं यस्मात्परं नास्ति तद्वा एतदधिगतमित्यर्थः ॥ ३ ॥

जो धर्माधर्मादिसे अन्य विष्णुका परमपद है और जिससे श्रेष्ठ और कुछ भी नहीं है, वही यह [ब्रह्म-पद] अब ज्ञात हुआ है—ऐसा इसका भावार्थ है ॥ ३ ॥

अतिसूक्ष्मत्वाद्दुर्विज्ञेयमिति मत्वैतमेवार्थं पुनः पुनराह—

यह ब्रह्म अति सूक्ष्म होनेके कारण दुर्विज्ञेय है—ऐसा मानकर उसी बातको बारम्बार कहते हैं—

आत्मज्ञकी निःशोकता

स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति ।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥ ४ ॥

जिसके द्वारा मनुष्य स्वप्नमें प्रतीत होनेवाले तथा जाग्रत्मे दिखायी देनेवाले—दोनों प्रकारके पदार्थोंको देखता है उस महान् और विभु आत्माको जानकर बुद्धिमान् पुरुष शोक नहीं करता ॥ ४ ॥

स्वप्नान्तं स्वप्नमध्यं स्वप्नविज्ञेयमित्यर्थः तथा जागरितान्तं जागरितमध्यं जागरितविज्ञेयं च; उभौ स्वप्नजागरितान्तौ येन आत्मनानुपश्यति लोक इति सर्वं पूर्ववत् । तं महान्तं विभुमात्मानं

स्वप्नान्त—स्वप्नका मध्य अर्थात् स्वप्नावस्थामे जानने योग्य तथा जागरितान्त—जाग्रत् अवस्थाका मध्य यानी जाग्रत् अवस्थामें जानने योग्य—इन दोनो स्वप्न और जाग्रत्के अन्तर्गत पदार्थोंको लोक जिस आत्माके द्वारा देखता है [वही ब्रह्म है; इस प्रकार] इस वाक्यकी और सब व्याख्या पूर्व मन्त्रके समान करनी चाहिये। उस

मत्वावगम्यात्मभावेन साक्षात् अहमस्मि परमात्मेति धीरो न शोचति ॥ ४ ॥

महान् और विभु आत्माको जानकर अर्थात् 'वह परमात्मा मै ही हूँ' ऐसा आत्मभावसे साक्षात् अनुभव कर धीर—बुद्धिमान् पुरुष शोक नही करता ॥ ४ ॥

किं च—

तथा—

आत्मज्ञकी निर्भयता

य इमं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात् ।
ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते । एतद्वै तत् ॥ ५ ॥

जो पुरुष इस कर्मफलभोक्ता और प्राणादिको धारण करनेवाले आत्माको उसके समीप रहकर भूत, भविष्यत् [और वर्तमान] के शासकरूपसे जानता है वह वैसा विज्ञान हो जानेके अनन्तर उस (आत्मा) की रक्षा करनेकी इच्छा नहीं करता । निश्चय यही वह [आत्मतत्त्व] है ॥ ५ ॥

यः कश्चिदिमं मध्वदं कर्मफलभुजं जीवं प्राणादिकलापस्य धारयितारमात्मानं वेद विजानाति अन्तिकादन्तिके समीप ईशानम् ईशितारं भूतभव्यस्य कालत्रयस्य, ततस्तद्विज्ञानादूर्ध्वमात्मानं न विजुगुप्सते न गोपायितुम् इच्छत्यभयप्राप्तत्वात् । यावद्धि भयमध्यस्थोऽनित्यमात्मानं मन्यते तावद्गोपायितुमिच्छत्यात्मानम् ।

जो कोई इस मध्वद—कर्मफलभोक्ता और जीव—प्राणादि कारणकलापको धारण करनेवाले आत्माको समीपसे भूत-भविष्यत् आदि तीनो कालोके शासकरूपसे जानता है, वह ऐसा ज्ञान हो जानेके अनन्तर उस आत्माका गोपन—रक्षण नही करना चाहता, क्योकि वह अभयको प्राप्त हो जाता है । जबतक वह भयके मध्यमे स्थित हुआ अपने आत्माको अनित्य समझता है तभीतक उसकी रक्षा भी करना चाहता

यदा तु नित्यमद्वैतमात्मानं विजानाति तदा किं कः कुतो वा गोपायितुमिच्छेत् । एतद्वै तदिति पूर्ववत् ॥ ५ ॥

है । जिस समय आत्माको नित्य और अद्वैत जान लेता है उस समय कौन किसको कहाँसे सुरक्षित रखनेकी इच्छा करेगा ? निश्चय यही वह आत्मतत्त्व है—इस प्रकार पूर्ववत् समझना चाहिये ॥ ५ ॥

यः प्रत्यगात्मेश्वरभावेन निर्दिष्टः स सर्वात्मेत्येतद्दर्शयति—
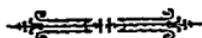
'जिस प्रत्यगात्माका यहाँ ईश्वर-भावसे निर्देश किया गया है वह सबका अन्तरात्मा है—यह बात इस मन्त्रसे दिखलायी जाती है—

ब्रह्मज्ञका सार्वात्म्यदर्शन

यः पूर्वं तपसो जातमद्भ्यः पूर्वमजायत ।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तं यो भूतेभिर्व्यपश्यत । एतद्वै तत् ॥६॥

जो मुमुक्षु पहले तपसे उत्पन्न हुए [हिरण्यगर्भ] को, जो कि जल आदि भूतोंसे पहले उत्पन्न हुआ है, भूतोंके सहित बुद्धिरूप गुहामें स्थित हुआ देखता है वही उस ब्रह्मको देखता है । निश्चय यही वह ब्रह्म है ॥ ६ ॥

यः कश्चिन्मुमुक्षुः पूर्वं प्रथमं तपसो ज्ञानादिलक्षणाद्ब्रह्मण इत्येतज्जातमुत्पन्नं हिरण्यगर्भम् ; किमपेक्ष्य पूर्वमित्याह—अद्भ्यः पूर्वमप्सहितेभ्यः पञ्चभूतेभ्यो न केवलाभ्योऽद्भ्य इत्यभिप्रायः,

जिस मुमुक्षुने पहले तपसे—ज्ञानादिलक्षण ब्रह्मसे उत्पन्न हुए हिरण्यगर्भको । किसकी अपेक्षा पूर्व उत्पन्न हुए हिरण्यगर्भको ? ऐसा प्रश्न होनेपर कहते हैं—जो जलसे पूर्व अर्थात् जलसहित पाँचों तत्त्वोंसे, न कि केवल जलसे ही, पूर्व उत्पन्न हुआ है उस प्रथमज

अजायत उत्पन्नो यस्तं प्रथमजं देवादिशरीराण्युत्पाद्य सर्वप्राणिगुहां हृदयाकाशं प्रविश्य तिष्ठन्तं शब्दादीनुपलभमानं भूतेभिर्भूतैः कार्यकरणलक्षणैः सह तिष्ठन्तं यो व्यपश्यत यः पश्यतीत्येतत् । य एवं पश्यति स एतदेव पश्यति यत्तत्प्रकृतं ब्रह्म ॥ ६ ॥

(हिरण्यगर्भ) को देवादि शरीरोंको उत्पन्न कर सम्पूर्ण प्राणियोंकी गुहा—हृदयाकाशमे प्रविष्ट हो देहेन्द्रियरूप भूतोंके सहित शब्दादि विषयोको अनुभव करते जिसने देखा है यानी जो इस प्रकार देखता है [वही वास्तवमे देखता है] । जो ऐसा अनुभव करता है वही उसे देखता है जो कि यह प्रकृत ब्रह्म है ॥ ६ ॥

किं च

तथा—

या प्राणेन संभवत्यदितिर्देवतामयी ।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तीं या भूतेभिर्व्यजायत । एतद्वै तत् ॥७॥

जो देवतामयी अदिति प्राणरूपसे प्रकट होती है तथा जो बुद्धिरूप गुहामे प्रविष्ट होकर रहनेवाली और भूतोके साथ ही उत्पन्न हुई है [उसे देखो] निश्चय यही वह तत्त्व है ॥ ७ ॥

या सर्वदेवतामयी सर्वदेवतात्मिका प्राणेन हिरण्यगर्भरूपेण परस्माद्ब्रह्मणः संभवति शब्दादीनामदनाददितिस्तां पूर्ववद् गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तीमदितिम् । तामेव विशिनष्टि—या भूतेभिः

जो सर्वदेवतामयी—सर्वदेवस्वरूपा अदिति प्राण अर्थात् हिरण्यगर्भरूपसे परब्रह्मसे उत्पन्न होती है; शब्दादि विषयोका अदन (भक्षण) करनेके कारण उसे अदिति कहते है—बुद्धिरूप गुहामे पूर्ववत् प्रविष्ट होकर स्थित हुई उस अदितिको [देखो] । उस अदितिकी ही विशेषता बतलाते है—

भूतैः समन्विता व्यजायत उत्पन्ना इत्येतत् ॥ ७ ॥

जो भूतोंके सहित अर्थात् भूतोंसे समन्वित ही उत्पन्न हुई है । [वही तेरा पूछा हुआ तत्त्व है] ॥ ७ ॥

अरणिस्थ अग्निमें ब्रह्मदृष्टि

किं च—

तथा—

अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुभृतो गर्भिणीभिः ।
दिवे दिव ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निः ॥
एतद्वै तत् ॥ ८ ॥

गर्भिणी स्त्रियोंद्वारा भली प्रकार पोषित हुए गर्भके समान जो जातवेदा (अग्नि) दोनो अरणियोंके बीचमें स्थित है तथा जो प्रमाद-शून्य एवं होम-सामग्रीयुक्त पुरुषोंद्वारा नित्यप्रति स्तुति किये जाने योग्य है, यही वह ब्रह्म है ॥ ८ ॥

योऽधियज्ञ उत्तराधरारण्योः निहितः स्थितो जातवेदा अग्निः पुनः सर्वहविषां भोक्ताध्यात्मं च योगिभिर्गर्भ इव गर्भिणीभिः अन्तर्वत्नीभिरगर्हितान्नपानभोजनादिना यथा गर्भः सुभृतः सुष्ठु सम्यग्भृतो लोक इवेत्थमेवर्त्विग्भिर्योगिभिश्च सुभृत इत्येतत् । किं च दिवे दिवेऽहन्यहनीड्यः स्तुत्यो वन्द्यश्च कर्मिभिर्योगिभिश्चाध्वरे हृदये च जागृवद्भिः जागरणशीलवद्भिरप्रमत्तैरित्येतत्

जो अधियज्ञरूपसे ऊपर और नीचेकी अरणियोंमे निहित अर्थात् स्थित हुआ और होम किये हुए सम्पूर्ण पदार्थोंका भोक्ता अध्यात्मरूप जातवेदा—अग्नि है; जैसे गर्भिणी—अन्तर्वत्नी स्त्रियाँ शुद्ध अन्न-पानादिद्वारा अपने गर्भकी बहुत अच्छी तरह रक्षा करती है उसी प्रकार यज्ञ करनेवाले तथा योगीजन जिसे धारण करते है, तथा घृत आदि होमसामग्रीयुक्त, कर्म-परायण एवं जागरणशील—प्रमाद-शून्य याजको और ध्यानभावना-

हविष्मद्भिराज्यादिमद्भिर्ध्यान- भावनावद्भिश्च मनुष्येभिर्मनुष्यैः अग्निः। एतद्वै तत्तदेव प्रकृतं ब्रह्म॥८॥

युक्त योगियोंद्वारा जो [क्रमशः] यज्ञ और हृदयदेशमे स्तुति किये जाने योग्य है, ऐसा जो अग्नि है वही निश्चय यह प्रकृत ब्रह्म है ॥८॥

प्राणमें ब्रह्मदृष्टि

किं च— तथा—

यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति ।
तं देवाः सर्वे अर्पितास्तदु नात्येति कश्चन। एतद्वै तत् ॥९॥

जहाँसे सूर्य उदित होता है और जहाँ वह अस्त हो जाता है उस प्राणात्मामे [अग्नादि और वागादिक] सम्पूर्ण देवता अर्पित हैं । उसका कोई भी उल्लङ्घन नहीं कर सकता । यही वह ब्रह्म है ॥९॥

यतश्च यस्मात्प्राणादुदेति उत्तिष्ठति सूर्योऽस्तं निम्लोचनं यत्र यस्मिन्नेव च प्राणेऽहन्यहनि गच्छति तं प्राणमात्मानं देवा अग्न्यादयोऽधिदैवं वागादयश्च अध्यात्मं सर्वे विश्वेऽरा इव रथ- नाभावर्पिताः संप्रवेशिताः स्थिति- काले सोऽपि ब्रह्मैव । तदेतत् सर्वात्मकं ब्रह्म । तदु नात्येति नातीत्य तदात्मकतां तदन्यत्वं गच्छति कश्चन कश्चिदपि । एतद्वै तत् ॥ ९ ॥

जिससे—जिस प्राणसे नित्य- प्रति सूर्य उदित होता है और जिस प्राणमें ही वह नित्यप्रति अस्तभावको प्राप्त होता है उस प्राणात्मामे स्थितिके समय अग्नि आदि अधिदैव और वागादि अध्यात्म सभी देवता इस प्रकार अर्पित है—प्रविष्ट किये गये हैं जैसे रथकी नाभिमें समस्त अरे; वह [प्राण] भी ब्रह्म ही है । वही यह सर्वात्मक ब्रह्म है । उसका अति- क्रमण कोई भी नहीं करता अर्थात् उस ब्रह्मके तादात्म्य भावको पार करके कोई भी उससे अन्यत्वको प्राप्त नहीं होता । यही वह (ब्रह्म) है ॥ ९ ॥
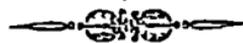
यद्ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु वर्तमानं तत्तदुपाधित्वादब्रह्मवदवभासमानं संसार्यन्यत्परस्माद् ब्रह्मण इति मा भूत्कस्यचिदाशङ्का इतीदमाह—

जो ब्रह्मासे लेकर स्थावरपर्यन्त सम्पूर्ण भूतोंमे वर्तमान है और भिन्न-भिन्न उपाधियोंके कारण अब्रह्मवत् भासित होता है वह संसारी जीव परब्रह्मसे भिन्न है—ऐसी किसीको शङ्का न हो जाय, इसलिये यमराज इस प्रकार कहते है—

भेददृष्टिकी निन्दा

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह ।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥१०॥

जो तत्त्व इस (देहेन्द्रियसंघात) में भासता है वही अन्यत्र (देहादिसे परे) भी है और जो अन्यत्र है वही इसमे है । जो मनुष्य इस तत्त्वमें नानात्व देखता है वह मृत्युसे मृत्युको [अर्थात् जन्म-मरणको] प्राप्त होता है ॥ १० ॥

यदेवेह कार्यकरणोपाधिसमन्वितं संसारधर्मवदवभासमानमविवेकिनां तदेव स्वात्मस्थममुत्र नित्यविज्ञानघनस्वभावं सर्वसंसारधर्मवर्जितं ब्रह्म । यच्चामुत्रामुष्मिन्नात्मनि स्थितं तदेवेह नामरूपकार्यकरणोपाधिम् अनुविभाव्यमानं नान्यत् ।

जो इस लोकमे कार्य-करण (देहेन्द्रिय) रूप उपाधिसे युक्त होकर अविवेकियोंको संसारधर्मयुक्त भास रहा है स्वस्वरूपमे स्थित वही ब्रह्म अन्यत्र (इन देहादिसे परे) नित्य विज्ञानघनस्वरूप और सम्पूर्ण संसारधर्मोंसे रहित है । तथा जो अमुत्र—उस आत्मामे अर्थात् परमात्मभावमे स्थित है वही इस लोकमे नाम-रूप एवं कार्य-करणरूप उपाधिके अनुरूप भासनेवाला आत्मतत्त्व है; और कोई नही ।

तत्रैवं सत्युपाधिस्वभावभेद-दृष्टिलक्षणयाविद्यया मोहितः सन् य इह ब्रह्मण्यनानाभूते परस्मादन्योऽहं मत्तोऽन्यत्परं ब्रह्मेति नानेव भिन्नमिव पश्यत्युपलभते स मृत्योर्मरणान्मरणं मृत्युं पुनः पुनर्जन्ममरणभावमाप्नोति प्रतिपद्यते । तस्मात्तथा न पश्येत् । विज्ञानैकरसं नैरन्तर्येणाकाशवत् परिपूर्णं ब्रह्मैवाहमस्मीति पश्येत् इति वाक्यार्थः ॥ १० ॥

ऐसा होनेपर भी जो पुरुष उपाधिके स्वभाव और भेददृष्टिरूप अविद्यासे मोहित होकर इस अभिन्नभूत—एकरूप ब्रह्ममे 'मै परमात्मासे भिन्न हूँ और परमात्मा मुझसे भिन्न है' इस प्रकार भिन्नवत् देखता है वह मृत्युसे मृत्युको अर्थात् बारम्बार जन्म-मरणभावको प्राप्त होता है । अतः ऐसी दृष्टि नहीं करनी चाहिये । बल्कि 'मै निर्बाधरूपसे आकाशके समान परिपूर्ण और विज्ञानैकरस-स्वरूप ब्रह्म ही हूँ' इस प्रकार देखे । यही इस वाक्यका अर्थ है ॥ १० ॥
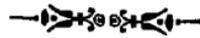
प्रागेकत्वविज्ञानादाचार्यागमसंस्कृतेन—

एकत्व-ज्ञान होनेसे पहले आचार्य और शास्त्रसे संस्कारयुक्त हुए—

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन ।
मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति ॥ ११ ॥

मनसे ही यह तत्त्व प्राप्त करने योग्य है, इस ब्रह्मतत्त्वमें नाना कुछ भी नहीं है । जो पुरुष इसमे नानात्व-सा देखता है वह मृत्युसे मृत्युको जाता है ॥ ११ ॥

मनसेदं ब्रह्मैकरसमाप्तव्यम् आत्मैव नान्यदस्तीति । आप्ते

मनके द्वारा ही यह एकरस ब्रह्म 'सब कुछ आत्मा ही है, और

च नानात्वप्रत्युपस्थापिकाया अविद्याया निवृत्तत्वादिह ब्रह्मणि नाना नास्ति किञ्चनाणुमात्रम् अपि । यस्तु पुनरविद्यातिमिरदृष्टिं न मुञ्चति नानेव पश्यति स मृत्योर्मृत्युं गच्छत्येव स्वल्पमपि भेदमध्यारोपयन् इत्यर्थः ॥११॥

कुछ नहीं है' इस प्रकार प्राप्त करने योग्य है । इस प्रकार उसकी प्राप्ति हो जानेपर नानात्वको स्थापित करनेवाली अविद्याके निवृत्त हो जानेसे इस ब्रह्मतत्त्वमे किञ्चित्—अणुमात्र भी नानात्व नहीं रहता । किन्तु जो पुरुष अविद्यारूप तिमिररोगग्रस्त दृष्टिको नही त्यागता वल्कि नानात्व ही देखता है वह इस प्रकार थोड़ा-सा भी भेद आरोपित करनेसे मृत्युसे मृत्युको [अर्थात् जन्म-मरणको] प्राप्त होता ही है ॥ ११ ॥

हृदयपुण्डरीकस्थ ब्रह्म

पुनरपि तदेव प्रकृतं ब्रह्माह—

फिर भी उस प्रकृत ब्रह्मका ही वर्णन करते हैं—

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति ।
ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते । एतद्वै तत् ॥१२॥

जो अङ्गुष्ठपरिमाण पुरुष शरीरके मध्यमे स्थित है, उसे भूत, भविष्यत् [और वर्तमान] का शासक जानकर वह उस (आत्माके ज्ञान) के कारण अपने शरीरकी रक्षा करना नहीं चाहता; निश्चय यही वह (ब्रह्मतत्त्व) है ॥ १२ ॥

अङ्गुष्ठमात्रोऽङ्गुष्ठपरिमाणः । अङ्गुष्ठपरिमाणं हृदयपुण्डरीकं तच्छिद्रवर्त्यन्तःकरणोपाधिः

अङ्गुष्ठमात्र यानी अङ्गुष्ठपरिमाण; हृदयकमल अङ्गुष्ठके समान परिमाणवाला है; उसके छिद्रमे रहनेवाला जो अन्तःकरणोपाधिक

अङ्गुष्ठमात्रोऽङ्गुष्ठमात्रवंशपर्वमध्यवर्त्यम्बरवत् पुरुषः पूर्णमनेन सर्वमिति मध्य आत्मनि शरीरे तिष्ठति यस्तमात्मानम् ईशानं भूतभव्यस्य विदित्वा न तत इत्यादि पूर्ववत् ॥१२॥

अङ्गुष्ठमात्र—अँगूठेके बराबर परिमाणवाले बाँसके पर्वमे स्थित आकाशके समान अङ्गुष्ठमात्र परिमाणवाला पुरुष शरीरके मध्यमे स्थित है—उससे सारा शरीर पूर्ण है, इसलिये वह पुरुष है—उस भूत-भविष्यत् कालके शासक आत्माको जानकर [ज्ञानी पुरुष अपनेको सुरक्षित रखनेकी इच्छा नहीं करता] इत्यादि शेष पदकी पूर्ववत् व्याख्या करनी चाहिये ॥ १२ ॥
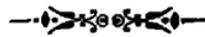
किं च—

तथा—

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः ।
ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः । एतद्वै तत् ॥ १३ ॥

यह अङ्गुष्ठमात्र पुरुष धूमरहित ज्योतिके समान है । यह भूत-भविष्यत्का शासक है । यही आज (वर्तमान कालमे) है और यही कल (भविष्यत्में) भी रहेगा । और निश्चय यही वह (ब्रह्मतत्त्व) है ॥ १३ ॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकोऽधूमकमिति युक्तं ज्योतिष्परत्वात् । यस्त्वेवं लक्षितो योगिभिर्हृदय ईशानो भूतभव्यस्य स नित्यः कूटस्थोऽद्येदानीं

वह अङ्गुष्ठमात्र पुरुष धूमरहित ज्योतिके समान है । मूल मन्त्रमे जो 'अधूमकः' पद है वह [नपुंसकलिङ्ग] 'ज्योतिः' शब्दका विशेषण होनेके कारण 'अधूमकम्' ऐसा होना चाहिये । जो योगियोको इस प्रकार हृदयमें लक्षित होता है वह भूत और भविष्यत्का शास्ता नित्य कूटस्थ आज—इस समय

प्राणिषु वर्तमानः स उ श्वोऽपि वर्तिष्यते नान्यस्तत्समोऽन्यश्च जनिष्यत इत्यर्थः । अनेन नायमस्तीति चैक इत्ययं पक्षो न्यायतोऽप्राप्तोऽपि स्ववचनेन श्रुत्या प्रत्युक्तस्तथा क्षणभङ्गवादश्च ॥ १३ ॥

प्राणियोंमे वर्तमान है और वही कल भी रहेगा, अर्थात् उसके समान कोई और पुरुष उत्पन्न नही होगा । इससे 'कोई कहते हैं कि यह नहीं है' ऐसा [१ । १ । २० मन्त्रमे कहा हुआ] जो पक्ष है वह यद्यपि न्यायतः प्राप्त नही होता तथापि उसका और बौद्धोंके क्षणभङ्गवादका खण्डन भी श्रुतिने स्ववचनसे कर दिया है ॥ १३ ॥

भेदापवाद

पुनरपि भेददर्शनापवादं ब्रह्मण आह—

ब्रह्मे जो भेददृष्टि की जाती है उसका अपवाद श्रुति फिर भी कहती है—

यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति ।
एवं धर्मान्पृथक्पश्यंस्तानेवानुविधावति ॥ १४ ॥

जिस प्रकार ऊँचे स्थानमे बरसा हुआ जल पर्वतोमें (पर्वतीय निम्न देशोमे) बह जाता है उसी प्रकार आत्माओंको पृथक्-पृथक् देखकर जीव उन्हीको (भिन्नात्मत्वको ही) प्राप्त होता है ॥ १४ ॥

यथोदकं दुर्गे दुर्गमे देश उच्छ्रिते वृष्टं सिक्तं पर्वतेषु पर्वतवत्सु निम्नप्रदेशेषु विधावति विकीर्णं सद्विनश्यति एवं धर्मान् आत्मनो भिन्नान्पृथक्पश्यन्पृथक्

जिस प्रकार दुर्ग—दुर्गम स्थान अर्थात् ऊँचाईपर बरसा हुआ जल पर्वतों—पर्वतीय निम्न प्रदेशोंमे फैलकर नष्ट हो जाता है उसी प्रकार धर्मो अर्थात् आत्माओको पृथक्—प्रत्येक शरीरमें भिन्न-भिन्न देखने-

एव प्रतिशरीरं पश्यंस्तानेव शरीरभेदानुवर्तिनोऽनुविधावति। शरीरभेदमेव पृथक्पुनः पुनः प्रतिपद्यत इत्यर्थः ॥ १४ ॥

वाला मनुष्य उन्हीं—शरीरभेदका अनुसरण करनेवालोंकी ओर ही जाता है, अर्थात् बारम्बार भिन्न-भिन्न शरीरभेदको ही प्राप्त होता है ॥ १४ ॥
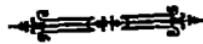
यस्य पुनर्विद्यावतो विध्वस्तोपाधिकृतभेददर्शनस्य विशुद्धविज्ञानघनैकरसमद्वयमात्मानं पश्यतो विजानतो मुनेर्मननशीलस्य आत्मस्वरूपं कथं सम्भवतीत्युच्यते—

जो विद्यावान् है, जिसकी उपाधिकृत भेददृष्टि नष्ट हो गयी है और जो एकमात्र विशुद्धविज्ञानघनैकरस अद्वितीय आत्माको ही देखनेवाला है उस विज्ञानी मुनि—मननशीलका आत्मा कैसा होता है ? यह बतलाया जाता है—

अभेददर्शनकी कर्तव्यता

यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति ।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम ॥ १५ ॥

जिस प्रकार शुद्ध जलमे डाला हुआ शुद्ध जल वैसा ही हो जाता है उसी प्रकार, हे गौतम! विज्ञानी मुनिका आत्मा भी हो जाता है ॥१५॥

यथोदकं शुद्धे प्रसन्ने शुद्धं प्रसन्नमासिक्तं प्रक्षिप्तमेकरसमेव नान्यथा तादृगेव भवत्यात्माप्येवमेव भवत्येकत्वं विजानतो मुनेर्मननशीलस्य हे गौतम ।

जिस प्रकार शुद्ध—स्वच्छ जलमे आसिक्त—प्रक्षिप्त (डाला हुआ) शुद्ध—स्वच्छ जल उसके साथ मिलकर एकरस हो जाता है—उससे विपरीत अवस्थामें नहीं रहता उसी प्रकार हे गौतम ! एकत्वको जाननेवाले मुनि—मननशील पुरुषका आत्मा भी वैसा

तस्मात्कुतार्किकभेददृष्टिं नास्तिक-कुदृष्टिं चोज्झित्वा मातृपितृसहस्रे-भ्योऽपि हितैषिणा वेदेनोपदिष्टम् आत्मैकत्वदर्शनं शान्तदर्पैः आदरणीयमित्यर्थः ॥ १५ ॥	ही हो जाता है । अतः तात्पर्य यह है कि सभीको कुतार्किककी भेददृष्टि और नास्तिककी कुदृष्टिका परित्याग कर सहस्रो माता-पिताओंसे भी अधिक हितैषी वेदके उपदेश किये हुए आत्मैकत्वदर्शनका ही अभिमानरहित होकर आदर करना चाहिये ॥ १५ ॥
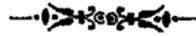
इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य-श्रीमदाचार्यश्रीशंकरभगवतः कृतौ कठोपनिषद्भाष्ये द्वितीयाध्याये प्रथमवल्लीभाष्यं समाप्तम् ॥१॥ (४)

द्वितीया वल्ली

प्रकारान्तरसे ब्रह्मानुसन्धान

पुनरपि प्रकारान्तरेण ब्रह्मतत्त्वनिर्धारणार्थोऽयमारम्भो दुर्विज्ञेयत्वाद्ब्रह्मणः—

ब्रह्म अत्यन्त दुर्विज्ञेय है; अतः ब्रह्मतत्त्वका प्रकारान्तरसे फिर भी निश्चय करनेके लिये यह आगेका ग्रन्थ आरम्भ किया जाता है—

पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रचेतसः ।
अनुष्ठाय न शोचति विमुक्तश्च विमुच्यते । एतद्वै तत् ॥ १ ॥

उस नित्यविज्ञानस्वरूप अजन्मा [आत्मा] का पुर ग्यारह दरवाजोंवाला है । उस [आत्मा] का ध्यान करनेपर मनुष्य शोक नहीं करता, और वह [इस शरीरके रहते हुए ही कर्मबन्धनसे] मुक्त हुआ ही मुक्त हो जाता है । निश्चय यही वह [ब्रह्म] है ॥ १ ॥

शरीरस्य ब्रह्मपुरत्वम्

पुरं पुरमिव पुरम् । द्वारपालाधिष्ठात्राद्यनेकपुरोपकरणसम्पत्तिदर्शनाच्छरीरं पुरम् । पुरं च सोपकरणं स्वात्मनासंहतस्वतन्त्रस्वाम्यर्थं दृष्टम्; तथेदं पुरसामान्यादनेकोपकरणसंहतं

[यह शरीररूप] पुर पुरके समान होनेसे पुर कहलाता है । द्वारपाल और अधिष्ठाता (हाकिम) आदि अनेकों पुरसम्बन्धिनी सामग्री दिखायी देनेके कारण शरीर पुर है । और जिस प्रकार सम्पूर्ण सामग्रीके सहित प्रत्येक पुर अपनेसे असंहत (बिना मिले हुए) स्वतन्त्र स्वामीके [उपभोगके] लिये देखा जाता है उसी प्रकार पुरसे सदृशता होनेके कारण यह अनेक सामग्री-

शरीरं स्वात्मनासंहतराजस्थानीयस्वाम्यर्थं भवितुमर्हति ।

तच्चेदं शरीराख्यं पुरमेकादशद्वारमेकादश द्वाराण्यस्य सप्त शीर्षण्यानि नाभ्या सहार्वाञ्चि त्रीणि शिरस्येकं तैरेकादशद्वारं पुरम् । कस्याजस्य जन्मादिविक्रियारहितस्यात्मनो राजस्थानीयस्य पुरधर्मविलक्षणस्य । अवक्रचेतसः अवक्रमकुटिलमादित्यप्रकाशवन्नित्यमेवावस्थितमेकरूपं चेतो विज्ञानमस्येत्यवक्रचेतास्तस्यावक्रचेतसो राजस्थानीयस्य ब्रह्मणः ।

स्वात्मानुभवेन शोकादिनिवृत्ति

यस्येदं पुरं तं परमेश्वरं पुरस्वामिनमनुष्ठाय ध्यात्वा—ध्यानं हि तस्यानुष्ठानं सम्यग्विज्ञानपूर्वकम्—तं सर्वैषणाविनिर्मुक्तः सन्समं सर्वभूतस्थं

सम्पन्न शरीर भी अपनेसे पृथक् राजस्थानीय अपने स्वामी [आत्मा] के लिये होना चाहिये ।

यह शरीरनामक पुर ग्यारह दरवाजोंवाला है । [दो आँख, दो कान, दो नासारन्ध्र और एक मुख इस प्रकार] सात मस्तकसम्बन्धी, नाभिके सहित [शिश्न और गुदा मिलाकर] तीन निम्नदेशीय तथा [ब्रह्मरन्ध्ररूप] एक शिरमें रहनेवाला—इस प्रकार इन सभी द्वारोंसे [युक्त होनेके कारण] यह पुर एकादश द्वारवाला है । वह पुर किसका है ? [इसपर कहते हैं—] अजका, अर्थात् पुरके धर्मोंसे विलक्षण जन्मादि विकाररहित राजस्थानीय आत्माका । इसके सिवा जो अवक्रचित्त है—जिसका चित्त—विज्ञान अवक्र—अकुटिल अर्थात् सूर्यके समान नित्यस्थित और एकरूप है उस अवक्रचेता राजस्थानीय ब्रह्मका [यह पुर है] ।

जिसका यह पुर है उस पुरस्वामी परमेश्वरका अनुष्ठान—ध्यान करके, क्योंकि सम्यग्विज्ञानपूर्वक ध्यान ही उसका अनुष्ठान है; अतः सम्पूर्ण एषणाओंसे मुक्त होकर उस सम—सम्पूर्ण भूतोंमें स्थित ब्रह्मका ध्यान

ध्यात्वा न शोचति। तद्विज्ञानात् अभयप्राप्तेः शोकावसराभावात् कुतो भयेक्षा । इहैवाविद्याकृत-कामकर्मबन्धनैर्विमुक्तो भवति । विमुक्तश्च सन्विमुच्यते पुनः शरीरं न गृह्णातीत्यर्थः ॥ १ ॥

कर पुरुष शोक नही करता । ब्रह्मके विज्ञानसे अभय-प्राप्ति हो जानेसे शोकका अवसर न रहनेके कारण भयदर्शन भी कहाँ हो सकता है ? अतः वह इस लोकमे ही अविद्याकृत काम और कर्मके बन्धनोसे मुक्त हो जाता है । इस प्रकार वह मुक्त (जीवन्मुक्त) हुआ ही मुक्त (विदेहमुक्त) होता है; अर्थात् पुनः शरीरग्रहण नही करता ॥१॥

स तु नैकशरीरपुरवर्त्येवात्मा किं तर्हि सर्वपुरवर्ती । कथम्—

परन्तु वह आत्मा तो केवल एक ही शरीररूप पुरमे रहनेवाला नही है, बल्कि सभी पुरोमे रहता है। किस प्रकार रहता है ? [सो कहते है—]

हꣳसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथि-दुरोणसत् । नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत् ॥ २ ॥

वह गमन करनेवाला है, आकाशमे चलनेवाला सूर्य है, वसु है, अन्तरिक्षमे विचरनेवाला सर्वव्यापक वायु है, वेदी (पृथिवी) मे स्थित होता (अग्नि) है, कलशमे स्थित सोम है । इसी प्रकार वह मनुष्योंमे गमन करनेवाला, देवताओंमें जानेवाला, सत्य या यज्ञमें गमन करनेवाला, आकाशमें जानेवाला, जल, पृथिवी, यज्ञ और पर्वतोंसे उत्पन्न होनेवाला तथा सत्यस्वरूप और महान् है ॥ २ ॥

हंसो हन्ति गच्छतीति। शुचिषच्छुचौदिव्या- दित्यात्मना सीदति इति। वसुर्वासयति सर्वानिति। वाय्वात्मनान्तरिक्षे सीदतीत्यन्तरिक्षसत्। होताग्निः "अग्निर्वै होता" इति श्रुतेः। वेद्यां पृथिव्यां सीदतीति वेदिषद्। "इयं वेदिः परोऽन्तः पृथिव्याः" (ऋ०सं० २।३।२०) इत्यादि- मन्त्रवर्णात्। अतिथिः सोमः सन्दुरोणे कलशे सीदति इति दुरोणसत्। ब्राह्मणः अतिथिरूपेण वा दुरोणेषु गृहेषु सीदतीति।

आत्मनः सर्व-पुरान्तर्वर्तित्वम्

वह गमन करता है इसलिये 'हंस' है, शुचि—आकाशमे सूर्य-रूपसे चलता है इसलिये 'शुचिपत्' है, सबको व्याप्त करता है इसलिये 'वसु' है, वायुरूपसे आकाशमे चलता है इसलिये 'अन्तरिक्षसत्' है, "अग्नि ही होता है" इस श्रुतिके अनुसार 'होता' अग्निको कहते हैं, वेदी—पृथिवीमे गमन करता है अतः 'वेदिपद्' है जैसा कि "यह वेदी पृथिवी (यज्ञभूमि) का उत्कृष्ट मध्यभाग है" इत्यादि मन्त्रवर्णसे प्रमाणित होता है। यह अतिथि—सोम होकर दुरोण—कलशमे स्थित होता है इसलिये 'दुरोणसत्' है। अथवा ब्राह्मण अतिथिरूपसे दुरोण—घरोंमे रहता है इसलिये वही 'अतिथिः दुरोणसत्' है।

नृषन्नृषु मनुष्येषु सीदतीति नृषत्। वरसद् वरेषु देवेषु सीदतीति ऋतसदृतं सत्यं यज्ञो वा तस्मिन्सीदतीति। व्योमसद् व्योम्न्याकाशे सीदतीति व्योम- सत्। अब्जा अप्सु शङ्खशुक्ति- मकरादिरूपेण जायत इति।

वह मनुष्योंमे जाता है इसलिये 'नृषत्' है, वर—देवताओंमे जाता है इसलिये 'वरसत्' है, ऋत—सत्य अथवा यज्ञको कहते है उसमे गमन करता है इसलिये 'ऋतसत्' है, व्योम—आकाशमे चलता है इसलिये 'व्योमसत्' है। अप्—जल-मे शंख, सीपी और मकर आदि रूपोंसे उत्पन्न होता है इसलिये

गोजा गवि पृथिव्यां व्रीहियवादिरूपेण जायत इति । ऋतजा यज्ञाङ्गरूपेण जायत इति । अद्रिजाः पर्वतेभ्यो नद्यादिरूपेण जायत इति ।

'अब्जा' है । गो—पृथिवीमें व्रीहि—यवादिरूपसे उत्पन्न होता है इसलिये 'गोजा' है । ऋत—यज्ञाङ्गरूपसे उत्पन्न होता है इसलिये 'ऋतजा' है । नदी आदिरूपसे अद्रि—पर्वतोसे उत्पन्न होता है इसलिये 'अद्रिजा' है ।

सर्वात्मापि सन्नृतमवितथस्वभाव एव । बृहन्महान्सर्वकारणत्वात् । यदाप्यादित्य एव मन्त्रेणोच्यते तदाप्यस्यात्मस्वरूपत्वमादित्यस्येत्यङ्गीकृतत्वाद् ब्राह्मणव्याख्यानेऽप्यविरोधः । सर्वव्याप्येक एवात्मा जगतो नात्मभेद इति मन्त्रार्थः ॥२॥

इस प्रकार सर्वात्मा होकर भी वह ऋत—अवितथस्वभाव ही है तथा सबका कारण होनेसे बृहत्—महान् है । [असौ वा आदित्यो हंसः…… इत्यादि ब्राह्मणमन्त्रके अनुसार] यदि इस मन्त्रसे आदित्यका ही वर्णन किया गया हो तो भी 'आदित्य [इस चराचरके] आत्मस्वरूप है'[1], ऐसा अङ्गीकृत होनेके कारण इसका उस ब्राह्मणग्रन्थकी व्याख्यासे भी अविरोध ही है । अतः इस मन्त्रका तात्पर्य यही है कि जगत्का एक ही सर्वव्यापक आत्मा है, आत्माओंमें भेद नहीं है ॥ २ ॥

आत्मनः स्वरूपाधिगमे लिङ्गमुच्यते—

अब आत्माका स्वरूपज्ञान करानेमें लिङ्ग बतलाते हैं—

१. सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च (ऋ० मं० १ । ८ । ७) ।

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति ।
मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते ॥ ३ ॥

जो प्राणको ऊपरकी ओर ले जाता है और अपानको नीचेकी ओर ढकेलता है, हृदयके मध्यमे रहनेवाले उस वामन—भजनीयकी सब देव उपासना करते है ॥ ३ ॥

आत्मनः प्राणापानयोः अधिष्ठातृत्वम्

ऊर्ध्वं हृदयात्प्राणं प्राणवृत्तिं वायुमुन्नयत्यूर्ध्वं गमयति। तथापानं प्रत्यगधोऽस्यति क्षिपति य इति वाक्यशेषः । तं मध्ये हृदयपुण्डरीकाकाश आसीनं बुद्धावभिव्यक्तविज्ञानप्रकाशनं वामनं संभजनीयं सर्वे विश्वेदेवाश्चक्षुरादयः प्राणा रूपादिविज्ञानं बलिमुपाहरन्तो विश इव राजानमुपासते तादर्थ्येनानुपरतव्यापारा भवन्ति इत्यर्थः । यदर्था यत्प्रयुक्ताश्च सर्वे वायुकरणव्यापाराः सोऽन्यः सिद्ध इति वाक्यार्थः ॥ ३ ॥

जो हृदयदेशसे प्राण—प्राणवृत्तिरूप वायुको ऊर्ध्व—ऊपरकी ओर ले जाता है तथा अपानको प्रत्यक्—नीचेकी ओर ढकेलता है । इस वाक्यमें 'यः (जो)' यह पद शेष रह गया है, हृदयकमलाकाशके भीतर रहनेवाले उस वामन अर्थात् भजनीयकी, जिसका विज्ञानरूप प्रकाश बुद्धिमे अभिव्यक्त होता है, चक्षु आदि सभी देव—इन्द्रियाँ और प्राण रूप-रसादि विज्ञानरूप कर देते हुए इस प्रकार उपासना करते है जैसे वैश्यलोग राजाकी अर्थात् वे चक्षु आदि उसके ही लिये अपना व्यापार बन्द नही करते। अतः जिसके लिये और जिसकी प्रेरणासे प्राण और इन्द्रियोंके समस्त व्यापार होते है वह उनसे अन्य है—ऐसा सिद्ध हुआ । यही इस वाक्यका अर्थ है ॥ ३ ॥

देहस्थ *आत्मा ही जीवन है*

किं च— तथा—

अस्य विस्रंसमानस्य शरीरस्थस्य देहिनः ।
देहाद्विमुच्यमानस्य किमत्र परिशिष्यते । एतद्वै तत् ॥ ४ ॥

इस शरीरस्थ देहीके भ्रष्ट हो जानेपर—इस देहसे मुक्त हो जानेपर भला इस शरीरमे क्या रह जाता है ? [अर्थात् कुछ भी नही रहता] यही वह [ब्रह्म] है ॥ ४ ॥

अस्य शरीरस्थस्यात्मनो विस्रंसमानस्यावस्रंसमानस्य भ्रंशमानस्य देहिनो देहवतः; विस्रंसनशब्दार्थमाह—देहाद्विमुच्यमानस्येति किमत्र परिशिष्यते प्राणादिकलापे न किञ्चन परिशिष्यतेऽत्र देहे पुरस्वामिविद्रवण इव पुरवासिनां यस्यात्मनोऽपगमे क्षणमात्रात्कार्यकरणकलापरूपं सर्वमिदं हतबलं विध्वस्तं भवति विनष्टं भवति सोऽन्यः सिद्धः॥४॥

इस शरीरस्थ देही—देहवान् आत्माके विस्रंसमान—अवस्रंसमान अर्थात् भ्रष्ट हो जानेपर इस प्राणादि समुदायमेसे भला क्या रह जाता है ? अर्थात् कुछ भी नही रहता । 'देहाद्विमुच्यमानस्य' ऐसा कहकर विस्रंसन शब्दका अर्थ बतलाया गया है । नगरके स्वामीके चले जानेपर जैसे पुरवासियोकी दुर्दशा होती है उसी प्रकार इस शरीरमे, जिस आत्माके चले जानेपर, एक क्षणमे ही यह भूत और इन्द्रियोका समुदायरूप सबका सब बलहीन—विध्वस्त अर्थात् नष्ट हो जाता है वह इससे भिन्न ही सिद्ध होता है ॥ ४ ॥

स्यान्मतं प्राणापानाद्यपगमात् एवेदं विध्वस्तं भवति न तु तद्व्यतिरिक्तात्मापगमात्प्राणादिभिरेव हि मर्त्यो जीवतीति नैतदस्ति—

यदि कोई ऐसा माने कि यह शरीर, प्राण और अपान आदिके चले जानेसे ही नष्ट हो जाता है, उनसे भिन्न किसी आत्माके जानेसे नहीं, क्योंकि प्राणादिके कारण ही मनुष्य जीवित रहता है—तो ऐसी बात नहीं है, [क्योंकि—]

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन ।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥ ५ ॥

कोई भी मनुष्य न तो प्राणसे जीवित रहता है और न अपानसे ही । बल्कि वे तो, जिसमें ये दोनो आश्रित है ऐसे किसी अन्यसे ही जीवित रहते है ॥ ५ ॥

न प्राणेन नापानेन चक्षुरादिना वा मर्त्यो मनुष्यो देहवान्कश्चन जीवति न कोऽपि जीवति न ह्येषां परार्थानां संहत्यकारित्वाज्जीवनहेतुत्वमुपपद्यते । स्वार्थेनासंहतेन परेण केनचिद्प्रयुक्तं संहतानामवस्थानं न दृष्टं गृहादीनां लोके; तथा प्राणादीनामपि संहतत्वाद्भवितुमर्हति ।

कोई भी मर्त्य—मनुष्य अर्थात् देहधारी न तो प्राणसे जीवित रहता है और न अपान अथवा चक्षु आदि इन्द्रियोंसे ही, क्योंकि परस्पर मिलकर प्रवृत्त होनेवाले तथा किसी दूसरेके शेषभूत ये इन्द्रिय आदि जीवनके हेतु नही हो सकते । लोकमे किसी स्वतन्त्र और बिना मिले हुए अन्य [चेतन पदार्थ] की प्रेरणाके बिना गृह आदि संहत पदार्थोंकी स्थिति नहीं देखी गयी; उसी तरह संघातरूप होनेसे प्राणादिकी स्थिति भी स्वतन्त्र नहीं हो सकती ।

अत इतरेणैव संहतप्राणादिविलक्षणेन तु सर्वे संहताः सन्तो जीवन्ति प्राणान्धारयन्ति । यस्मिन्संहतविलक्षण आत्मनि सति परस्मिन्नेतौ प्राणापानौ चक्षुरादिभिः संहतावुपाश्रितौ, यस्यासंहतस्यार्थे प्राणापानादिः स्वव्यापारं कुर्वन्वर्तते संहतः सन्स ततोऽन्यः सिद्ध इत्यभिप्रायः ॥ ५ ॥

अतः ये सब परस्पर मिलकर प्राणादि संहत पदार्थोंसे भिन्न किसी अन्यके द्वारा ही जीवित रहते—प्राण धारण करते है, जिस संहतपदार्थभिन्न सत्स्वरूप परमात्माके रहते हुए ही यह प्राण-अपान चक्षु आदिसे संहत होकर आश्रित है; तात्पर्य यह है कि जिस असंहत आत्माके लिये प्राण-अपान आदि संहत होकर अपने व्यापारोको करते हुए बर्तते है वह आत्मा उनसे भिन्न सिद्ध होता है ॥ ५ ॥

मरणोत्तर कालमें जीवकी गति

हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम् ।
यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम ॥ ६ ॥

हे गौतम ! अब मै फिर भी तुम्हारे प्रति उस गुह्य और सनातन ब्रह्मका वर्णन करूँगा, तथा [ब्रह्मको न जाननेसे] मरणको प्राप्त होनेपर आत्मा जैसा हो जाता है [वह भी बतलाऊँगा] ॥ ६ ॥

हन्तेदानीं पुनरपि ते तुभ्यम् इदं गुह्यं गोप्यं ब्रह्म सनातनं चिरन्तनं प्रवक्ष्यामि यद्विज्ञानात् सर्वसंसारोपरमो भवति, अविज्ञानाच्च यस्य मरणं प्राप्य

अहो ! अब मै तुम्हे फिर भी इस गुह्य—गोपनीय सनातन—चिरन्तन ब्रह्मके विषयमे बतलाऊँगा, जिसके ज्ञानसे सम्पूर्ण संसारकी निवृत्ति हो जाती है तथा जिसका ज्ञान न होनेपर मरणको प्राप्त होनेके अनन्तर आत्मा जैसा हो

यथात्मा भवति यथा संसरति तथा शृणु हे गौतम ॥ ६ ॥	जाता है, अर्थात् वह जिस प्रकार [जन्म-मरणरूप] संसारको प्राप्त होता है, हे गौतम ! वह सुन ॥ ६ ॥

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः ।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ॥ ७ ॥

अपने कर्म और ज्ञानके अनुसार कितने ही देहधारी तो शरीर धारण करनेके लिये किसी योनिको प्राप्त होते हैं और कितने ही स्थावर-भावको प्राप्त हो जाते हैं ॥ ७ ॥

योनिं योनिद्वारं शुक्रबीजसमन्विताः सन्तोऽन्ये केचिद् अविद्यावन्तो मूढाः प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय शरीरग्रहणार्थं देहिनो देहवन्तः; योनिं प्रविशन्तीत्यर्थः। स्थाणुं वृक्षादिस्थावरभावम् अन्येऽत्यन्ताधमा मरणं प्राप्यानुसंयन्त्यनुगच्छन्ति । यथाकर्म यद्यस्य कर्म तद्यथाकर्म यैर्यादृशं कर्मेह जन्मनि कृतं तद्वशेनेत्येतत् । तथा च यथाश्रुतं यादृशं च विज्ञानमुपार्जितं तदनुरूपमेव शरीरं प्रतिपद्यन्त इत्यर्थः ।	अन्य—कुछ अविद्यावान् मूढ देहधारी शरीर धारण करनेके लिये वीर्यरूप बीजसे संयुक्त होकर योनि—योनिद्वारको प्राप्त होते है अर्थात् किसी योनिमे प्रविष्ट हो जाते है। दूसरे कोई अत्यन्त अधम पुरुष मरणको प्राप्त होकर [यथाकर्म और यथाश्रुत] स्थाणु यानी वृक्षादि स्थावर-भावका अनुवर्तन—अनुगमन करते है। तात्पर्य यह कि यथाकर्म यानी जिसका जो कर्म है अथवा इस जन्ममे जिसने जैसा कर्म किया है उसके अधीन होकर तथा यथाश्रुत यानी जिसने जैसा विज्ञान उपार्जित किया है उसके अनुरूप शरीरको ही प्राप्त होते

"यथाप्रज्ञं हि संभवाः" इति श्रुत्यन्तरात् ॥ ७ ॥

है । "जन्म अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार हुआ करते है" ऐसी एक दूसरी श्रुतिसे भी यही प्रमाणित होता है ॥ ७ ॥

यत्प्रतिज्ञातं गुह्यं ब्रह्म वक्ष्यामीति तदाह—

पहले जो यह प्रतिज्ञा की थी कि 'मै तुझे गुह्य ब्रह्म बतलाऊँगा' उसे ही बतलाते है—

गुह्य ब्रह्मोपदेश

य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः। तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते। तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन। एतद्वै तत् ॥ ८ ॥

प्राणादिके सो जानेपर जो यह पुरुप अपने इच्छित पदार्थोंकी रचना करता हुआ जागता रहता है वही शुक्र (शुद्ध) है, वह ब्रह्म है और वही अमृत कहा जाता है । उसमे सम्पूर्ण लोक आश्रित है; कोई भी उसका उल्लङ्घन नही कर सकता । निश्चय यही वह [ब्रह्म] है ॥८॥

य एष सुप्तेषु प्राणादिषु जागर्ति न स्वपिति । कथम् ? कामं कामं तं तमभिप्रेतं स्त्र्याद्यर्थमविद्यया निर्मिमाणो निष्पादयञ्जागर्ति पुरुषो यस्तदेव शुक्रं शुभ्रं शुद्धं तद्ब्रह्म नान्यद्गुह्यं

जो यह प्राणादिके सो जानेपर जागता रहता है—[उनके साथ] सोता नही है । किस प्रकार जागता रहता है ? [इसपर कहते है—] अविद्याके योगसे स्त्री आदि अपने-अपने इच्छित—अभीष्ट पदार्थोंकी रचना करता हुआ अर्थात् उन्हे निष्पन्न करता हुआ जागता है वही शुक्र—शुभ्र यानी शुद्ध है । वह ब्रह्म है, उससे भिन्न और कोई

ब्रह्मास्ति । तदेवामृतमविनाशि उच्यते सर्वशास्त्रेषु । किं च पृथिव्यादयो लोकास्तस्मिन्नेव सर्वे ब्रह्मण्याश्रिताः सर्वलोककारणत्वात्तस्य । तदु नात्येति कश्चन इत्यादि पूर्ववदेव ॥ ८ ॥

गुह्य ब्रह्म नहीं है। वही सब शास्त्रोंमे अमृत—अविनाशी कहा गया है । यही नहीं, उस ब्रह्ममे ही पृथिवी आदि सम्पूर्ण लोक आश्रित है, क्योंकि वह सभी लोकोंका कारण है । उसका कोई भी अतिक्रमण नहीं कर सकता [निश्चय यही वह ब्रह्म है] इत्यादि [आगेकी व्याख्या] पूर्ववत् समझनी चाहिये ॥ ८ ॥

अनेकतार्किककुबुद्धिविचालितान्तःकरणानां प्रमाणोपपन्नम् अप्यात्मैकत्वविज्ञानमसकृदुच्यमानमप्यनृजुबुद्धीनां ब्राह्मणानां चेतसि नाधीयत इति तत्प्रतिपादन आदरवती पुनः पुनराह श्रुतिः—

अनेक तार्किकोंकी कुबुद्धिद्वारा जिनका चित्त चञ्चल कर दिया गया है, अतः जिनकी बुद्धि सरल नहीं है उन ब्राह्मणोंके चित्तमे, प्रमाणसे युक्त सिद्ध होनेपर भी, आत्मैकत्व-विज्ञान बारम्बार कहे जानेपर भी स्थिर नहीं होता । अतः उसके प्रतिपादनमे आदर रखनेवाली श्रुति पुनः पुनः कहती है—

आत्माका उपाधिप्रतिरूपत्व

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो
रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥ ९ ॥

जिस प्रकार सम्पूर्ण भुवनमें प्रविष्ट हुआ एक ही अग्नि प्रत्येक रूप (रूपवान् वस्तु) के अनुरूप हो गया है उसी प्रकार सम्पूर्ण भूतोंका एक ही अन्तरात्मा उनके रूपके अनुरूप हो रहा है तथा उनसे बाहर भी है ॥ ९ ॥

अग्निर्यथैक एव प्रकाशात्मा सन्भुवनं भवन्त्यस्मिन्भूतानीति भुवनमयं लोकस्तमिमं प्रविष्टः अनुप्रविष्टः रूपं रूपं प्रतिदार्वादि-दाह्यभेदं प्रतीत्यर्थः प्रतिरूपः तत्र तत्र प्रतिरूपवान्दाह्यभेदेन बहुविधो बभूव; एक एव तथा सर्वभूतान्तरात्मा सर्वेषां भूतानाम् अभ्यन्तर आत्मातिसूक्ष्मत्वाद् दार्वादिष्विव सर्वदेहं प्रति प्रविष्टत्वात्प्रतिरूपो बभूव बहिश्च स्वेन अविकृतेन स्वरूपेणाकाशवत्॥९॥

जिस प्रकार एक ही अग्नि प्रकाशस्वरूप होकर भी भुवनमें—इसमें सब जीव होते हैं इसीसे इस लोकको भुवन कहते हैं, उसी इस लोकमें अनुप्रविष्ट हुआ रूप-रूपके प्रति अर्थात् काष्ठ आदि भिन्न-भिन्न प्रत्येक दाह्य पदार्थके प्रति प्रतिरूप—उस-उस पदार्थके अनुरूप हुआ दाह्य-भेदसे अनेक प्रकारका हो गया है उसी प्रकार सम्पूर्ण भूतोंका एक ही अन्तरात्मा—आन्तरिक आत्मा अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण काष्ठादिमें प्रविष्ट हुए अग्निके समान सम्पूर्ण शरीरोंमें प्रविष्ट रहनेके कारण उनके अनुरूप हो गया है तथा आकाशके समान अपने अविकारी रूपसे उसके बाहर भी है ॥ ९ ॥

तथान्यो दृष्टान्तः—

ऐसा ही एक दूसरा दृष्टान्त भी है—

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो
रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥१०॥

जिस प्रकार इस लोकमे प्रविष्ट हुआ वायु प्रत्येक रूपके अनुरूप हो रहा है उसी प्रकार सम्पूर्ण भूतोका एक ही अन्तरात्मा प्रत्येक रूपके अनुरूप हो रहा है और उनसे बाहर भी है ॥ १० ॥

वायुर्यथैक इत्यादि । प्राणात्मना देहेष्वनुप्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूवेत्यादि समानम् ॥ १० ॥

जिस प्रकार एक ही वायु प्राणरूपसे देहोंमे अनुप्रविष्ट होकर प्रत्येक रूपके अनुरूप हो रहा है [उसी प्रकार सम्पूर्ण भूतोका एक ही अन्तरात्मा प्रत्येक रूपके अनुरूप हो रहा है] इत्यादि पूर्ववत् ही समझना चाहिये ॥ १० ॥

एकस्य सर्वात्मत्वे संसारदुःखित्वं परस्यैव तदिति प्राप्तमत इदमुच्यते—

इस प्रकार एकहीकी सर्वात्मकता होनेपर संसारदुःखसे युक्त होना भी परमात्माका ही सिद्ध होता है; इसलिये ऐसा कहा जाता है—

आत्माकी असङ्गता

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षु-
र्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ॥११॥

जिस प्रकार सम्पूर्ण लोकका नेत्र होकर भी सूर्य नेत्रसम्बन्धी बाह्यदोषोंसे लिप्त नहीं होता उसी प्रकार सम्पूर्ण भूतोंका एक ही अन्तरात्मा संसारके दुःखसे लिप्त नहीं होता, बल्कि उनसे बाहर रहता है ॥ ११ ॥

सूर्यो यथा चक्षुष आलोकेन उपकारं कुर्वन्मूत्रपुरीषाद्यशुचिप्रकाशनेन तद्दर्शिनः सर्वलोकस्य चक्षुरपि सन्न लिप्यते चाक्षुषैरशुच्यादिदर्शननिमित्तैराध्यात्मिकैः पापदोषैर्बाह्यैश्चाशुच्यादिसंसर्गदोषैः । एकः संस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ।

जिस प्रकार सूर्य अपने प्रकाशसे लोकका उपकार करता हुआ अर्थात् मल-मूत्र आदि अपवित्र वस्तुओंको प्रकाशित करनेके कारण उन्हें देखनेवाले समस्त लोकोंका नेत्ररूप होकर भी अपवित्र पदार्थादिके देखनेसे प्राप्त हुए आध्यात्मिक पापदोष तथा अपवित्र पदार्थोंके संसर्गसे होनेवाले बाह्यदोषोंसे लिप्त नहीं होता उसी प्रकार सम्पूर्ण भूतोंका एक ही अन्तरात्मा भी लोकके दुःखसे लिप्त नहीं होता, प्रत्युत उससे बाहर रहता है ।

लोको ह्यविद्यया स्वात्मनि अध्यस्तया कामकर्मोद्भवं दुःखम् अनुभवति । न तु सा परमार्थतः स्वात्मनि । यथा रज्जुशुक्तिकोषरगगनेषु सर्परजतोदकमलानि न रज्ज्वादीनां स्वतो दोषरूपाणि

लोक अपने आत्मामें आरोपित अविद्याके कारण ही कामना और कर्मजनित दुःखका अनुभव करता है । किन्तु वह [अविद्या] परमार्थतः स्वात्मामें है नहीं, जिस प्रकार कि रज्जु, शुक्ति, मरुस्थल और आकाशमें [प्रतीत होनेवाले] सर्प, रजत, जल और मलिनता—ये उन रज्जु आदिमें स्वाभाविक दोषरूप नहीं है

सन्ति। संसर्गिणि विपरीतबुद्ध्यध्यासनिमित्तात्तद्दोषवद्भिभाव्यन्ते। न तद्दोषैस्तेषां लेपः। विपरीतबुद्ध्यध्यासबाह्या हि ते।

बल्कि उनके संसर्गमे आये हुए पुरुषमे विपरीत बुद्धिका अध्यास होनेके कारण ही वे उन-उन दोषोसे युक्त प्रतीत होते है। किन्तु उन दोषोसे उनका लेप नही होता, क्योकि वे तो उस विपरीत बुद्धिजनित अध्याससे बाहर ही हैं।

तथात्मनि सर्वो लोकः क्रियाकारकफलात्मकं विज्ञानं सर्पादिस्थानीयं विपरीतमध्यस्य तन्निमित्तजन्ममरणादिदुःखमनुभवति। न त्वात्मा सर्वलोकात्मापि सन् विपरीताध्यारोपनिमित्तेन लिप्यते लोकदुःखेन। कुतः? बाह्यः, रज्ज्वादिवदेव विपरीतबुद्ध्यध्यासबाह्यो हि स इति ॥ ११ ॥

इसी प्रकार सम्पूर्ण लोक भी [रज्जु आदिमे अध्यस्त] सर्पादिके समान अपने आत्मामे क्रिया, कारक और फलरूप विपरीत ज्ञानका आरोप कर उसके निमित्तसे होनेवाले जन्म-मरण आदि दुःखका अनुभव करता है। आत्मा तो सम्पूर्ण लोकका अन्तरात्मा होकर भी विपरीत अध्यारोपसे होनेवाले लौकिक दुःखसे लिप्त नहीं होता। क्यों नहीं होता? क्योकि वह उससे बाहर है—अर्थात् रज्जु आदिके समान वह विपरीत बुद्धिजनित अध्याससे बाहर ही है ॥ ११ ॥

आत्मदर्शी ही नित्य सुखी है

किं च— | तथा—

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा
एकं रूपं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥ १२ ॥

जो एक, सबको अपने अधीन रखनेवाला और सम्पूर्ण भूतोका अन्तरात्मा अपने एक रूपको ही अनेक प्रकारका कर लेता है, अपनी बुद्धिमे स्थित उस आत्मदेवको जो धीर (विवेकी) पुरुष देखते है उन्हींको नित्य सुख प्राप्त होता है, औरोको नही ॥ १२ ॥

स हि परमेश्वरः सर्वगतः स्वतन्त्र एको न तत्समोऽभ्यधिको वान्योऽस्ति । वशी सर्व ह्यस्य जगद्वशे वर्तते । कुतः ? सर्वभूतान्तरात्मा । यत एकमेव सदैकरसमात्मानं विशुद्धविज्ञानरूपं नामरूपाद्यशुद्धोपाधिभेदवशेन बहुधानेकप्रकारं यः करोति स्वात्मसत्तामात्रेणाचिन्त्यशक्तित्वात् । तमात्मस्थं स्वशरीरहृदयाकाशे बुद्धौ चैतन्याकारेण अभिव्यक्तमित्येतत् ।

वह स्वतन्त्र और सर्वगत परमेश्वर एक है । उसके समान अथवा उससे बड़ा और कोई नहीं है । वह वशी है, क्योकि सारा जगत् उसके अधीन है । उसके अधीन क्यो है ? [इसपर कहते है—] क्योकि वह सम्पूर्ण भूतोका अन्तरात्मा है । इस प्रकार जो अचिन्त्यशक्तिसम्पन्न होनेके कारण अपने एक—नित्य एकरस विशुद्धविज्ञानस्वरूप आत्माको नाम-रूप आदि अशुद्ध उपाधिभेदके कारण अपनी सत्तामात्रसे बहुधा—अनेक प्रकारका कर लेता है, उस आत्मस्थ अर्थात् अपने शरीरस्थ हृदयाकाश यानी बुद्धिमे चैतन्यस्वरूपसे अभिव्यक्त हुए [आत्माको जो लोग देखते हैं उन्हींको नित्य सुख प्राप्त होता है] ।

न हि शरीरस्याधारत्वमात्मनः आकाशवदमूर्तत्वात्; आदर्शस्थं

आकाशके समान अमूर्तिमान् होनेसे आत्माका आधार शरीर नही है [अर्थात् आत्मा निराधार है] ।

सुखमिति यद्वत् । तमेतम् ईश्वरमात्मानं ये निवृत्तबाह्यवृत्तयोऽनुपश्यन्ति आचार्यागमोपदेशमनु साक्षादनुभवन्ति धीरा विवेकिनस्तेषां परमेश्वरभूतानां शाश्वतं नित्यं सुखम् आत्मानन्दलक्षणं भवति; नेतरेषां बाह्यासक्तबुद्धीनामविवेकिनां स्वात्मभूतमप्यविद्याव्यवधानात्॥१२॥

जैसे दर्पणमे प्रतिबिम्बित मुखका आधार दर्पण नही है । जिनकी बाह्य वृत्तियाँ निवृत्त हो गयी है ऐसे जो धीर—विवेकी पुरुष उस ईश्वर—आत्माको देखते हैं—आचार्य और शास्त्रका उपदेश पानेके अनन्तर उसका साक्षात् अनुभव करते है उन परमात्मस्वरूपताको प्राप्त हुए पुरुषोको ही आत्मानन्दरूप शाश्वत—नित्यसुख प्राप्त होता है । किन्तु दूसरे जो बाह्य पदार्थोंमे आसक्तचित्त अविवेकी पुरुष है उन्हे यह सुख स्वात्मभूत होनेपर भी अविद्यारूप व्यवधानके कारण प्राप्त नहीं हो सकता ॥ १२ ॥

किं च— | इसके सिवा—

नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनाना-
मेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥१३॥

जो अनित्य पदार्थोंमें नित्यस्वरूप तथा ब्रह्मा आदि चेतनोंमे चेतन है और जो अकेला ही अनेकोंकी कामनाएँ पूर्ण करता है, अपनी बुद्धिमे स्थित उस आत्माको जो विवेकी पुरुष देखते है उन्हीको नित्य-शान्ति प्राप्त होती है, औरोको नही ॥ १३ ॥

नित्योऽविनाश्यनित्यानां विनाशिनाम् । चेतनश्चेतनानां चेतयितृणां ब्रह्मादीनां प्राणिनाम् अग्निनिमित्तमिव दाहकत्वम् अनग्नीनामुदकादीनामात्मचैतन्यनिमित्तमेव चेतयितृत्वमन्येषाम् । किं च स सर्वज्ञः सर्वेश्वरः कामिनां संसारिणां कर्मानुरूपं कामान्कर्मफलानि स्वानुग्रहनिमित्तांश्च कामान्स एको बहूनाम् अनेकेषामनायासेन विदधाति प्रयच्छतीत्येतत् । तमात्मस्थं ये अनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः उपरतिः शाश्वती नित्या स्वात्मभूतैव स्यान्नेतरेषामनेवंविधानाम् ॥१३॥

जो अनित्यों—नाशवानोंमें नित्य—अविनाशी है, चेतन अर्थात् ब्रह्मा आदि अन्य चेतयिता प्राणियोंका भी चेतन है। जिस प्रकार जल आदि दाहशक्तिशून्य पदार्थोंका दाहकत्व अग्निके निमित्तसे होता है वैसे ही अन्य प्राणियोंका चेतनत्व आत्मचैतन्यके निमित्तसे ही है। इसके सिवा वह सर्वज्ञ तथा सर्वेश्वर भी है, क्योंकि वह अकेला ही बिना किसी प्रयासके अनेक सकाम संसारी पुरुषोंके कर्मानुरूप भोग यानी कर्मफल तथा अपने अनुग्रहरूप निमित्तसे हुए भोग विधान करता अर्थात् देता है। जो धीर (बुद्धिमान्) पुरुष अपने आत्मामें स्थित उस आत्मदेवको देखते हैं उन्हींको शाश्वती—नित्य यानी स्वात्मभूता शान्ति—उपरति प्राप्त होती है—अन्य जो ऐसे नहीं हैं उन्हें नहीं होती ॥ १३ ॥

तदेतदिति मन्यन्तेऽनिर्देश्यं परमं सुखम् ।
कथं नु तद्विजानीयां किमु भाति विभाति वा ॥१४॥

उसी इस [आत्मविज्ञान] को ही विवेकी पुरुष अनिर्वाच्य परम सुख मानते हैं। उसे मैं कैसे जान सकूँगा। क्या वह प्रकाशित (हमारी बुद्धिका विषय) होता है, अथवा नहीं ॥ १४ ॥

यत्तदात्मविज्ञानं सुखम् अनिर्देश्यं निर्देष्टुमशक्यं परमं प्रकृष्टं प्राकृतपुरुषवाङ्मनसयोरगोचरम् अपि सन्निवृत्तैषणा ये ब्राह्मणास्ते यत्तदेतत्प्रत्यक्षमेवेति मन्यन्ते। कथं नु केन प्रकारेण तत् सुखमहं विजानीयाम्। इदम् इत्यात्मबुद्धिविषयमापादयेयं यथा निवृत्तैषणा यतयः। किमु तद्भाति दीप्यते प्रकाशात्मकं तद्यतोऽस्मद्बुद्धिगोचरत्वेन विभाति विस्पष्टं दृश्यते किं वा नेति ॥ १४ ॥

यह जो आत्मविज्ञानरूप सुख है वह अनिर्देश्य—कथन करनेके अयोग्य, परम अर्थात् प्रकृष्ट और साधारण पुरुषोंके वाणी और मनका अविषय भी है; तो भी जो सब प्रकारकी एषणाओंसे रहित ब्राह्मणलोग हैं वे उसे प्रत्यक्ष ही मानते हैं। उस आत्मसुखको मैं कैसे जान सकूँगा? अर्थात् निष्काम यतियोंके समान 'वह यही है' इस प्रकार उसे कैसे अपनी बुद्धिका विषय बनाऊँगा? वह प्रकाशस्वरूप है, सो क्या वह भासता है—हमारी बुद्धिका विषय होकर स्पष्ट दिखलायी देता है, या नहीं? ॥ १४ ॥

अत्रोत्तरमिदं भाति च विभाति चेति। कथम्?

इसका उत्तर यही है कि वह भासता है और विशेषरूपसे भासता है। किस प्रकार? [सो कहते हैं—]

सर्वप्रकाशकका अप्रकाश्यत्व

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥ १५ ॥

वहाँ (उस आत्मलोकमें) सूर्य प्रकाशित नहीं होता, चन्द्रमा और तारे भी नहीं चमकते और न यह विद्युत् ही चमचमाती है; फिर इस अग्निकी तो बात ही क्या है ? उसके प्रकाशमान होते हुए ही सब कुछ प्रकाशित होता है और उसके प्रकाशसे ही यह सब कुछ भासता है ॥ १५ ॥

न तत्र तस्मिन्स्वात्मभूते ब्रह्मणि सर्वावभासकोऽपि सूर्यो भाति तद्ब्रह्म न प्रकाशयतीत्यर्थः । तथा न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमस्मद्दृष्टिगोचरः अग्निः । किं बहुना यदिदमादिकं सर्वं भाति तत्तमेव परमेश्वरं भान्तं दीप्यमानमनुभात्यनुदीप्यते । यथा जलोल्मुकाद्यग्निसंयोगादग्निं दहन्तमनु दहति न स्वतस्तद्वत्तस्यैव भासा दीप्त्या सर्वमिदं सूर्यादि विभाति ।

यत एवं तदेव ब्रह्म भाति च विभाति च । कार्यगतेन

वहाँ—उस अपने आत्मस्वरूप ब्रह्ममें सबको प्रकाशित करनेवाला होकर भी सूर्य प्रकाशित नहीं होता अर्थात् वह भी उस ब्रह्मको प्रकाशित नहीं करता । इसी प्रकार ये चन्द्रमा, तारे और विद्युत् भी प्रकाशित नहीं होते । फिर हमारी दृष्टिके विषयभूत इस अग्निका तो कहना ही क्या है ? अधिक क्या कहा जाय ? यह सूर्य आदि जो कुछ प्रकाशित हो रहे हैं वे सब उस परमात्माके प्रकाशित होते हुए ही अनुभासित हो रहे हैं, जिस प्रकार जल और उल्मुक (जलते हुए काष्ठ) आदि अग्निके संयोगसे अग्निके प्रज्वलित होते हुए ही दहन करते हैं, स्वयं नहीं, उसी प्रकार उसके प्रकाश—तेजसे ही ये सूर्य आदि सब प्रकाशित हो रहे है ।

क्योंकि ऐसा है इसलिये वही ब्रह्म प्रकाशित होता है और विशेषरूपसे प्रकाशित होता है । कार्यगत

विविधेन भासा तस्य ब्रह्मणो भारूपत्वं स्वतोऽवगम्यते । न हि स्वतोऽविद्यमानं भासनमन्यस्य कर्तुं शक्यम् । घटादीनाम् अन्यावभासकत्वादर्शनाद्भासन- रूपाणां चादित्यादीनां तद्- दर्शनात् ॥ १५ ॥

नाना प्रकारके प्रकाशसे उस ब्रह्म- की प्रकाशस्वरूपता स्वतः सिद्ध है, क्योंकि जिसमे स्वतः प्रकाश नहीं है वह दूसरेको भी प्रकाशित नही कर सकता, जैसा कि घटादि- का दूसरोंको प्रकाशित करना नहीं देखा गया और प्रकाशस्वरूप आदित्यादिका दूसरोंको प्रकाशित करना देखा गया है ॥ १५ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य- श्रीमदाचार्यश्रीशङ्करभगवतः कृतौ कठोपनिषद्भाष्ये द्वितीयाध्याये द्वितीयवल्लीभाष्यं समाप्तम् ॥२॥ (५)

तृतीया वल्ली

संसाररूप अश्वत्थ वृक्ष

तूलावधारणेनैव मूलावधारणं वृक्षस्य क्रियते लोके यथा, एवं संसारकार्यवृक्षावधारणेन तन्मूलस्य ब्रह्मणः स्वरूपावदिधारयिषयेयं षष्ठी वल्ल्यारभ्यते—

लोकमे जिस प्रकार तूल[1] (कार्य) का निश्चय कर लेनेसे ही वृक्षके मूलका निश्चय किया जाता है उसी प्रकार संसाररूप कार्यवृक्षके निश्चयसे उसके मूल ब्रह्मका स्वरूप-निर्धारण करनेकी इच्छासे यह छठी वल्ली आरम्भ की जाती है—

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः ।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ।
तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन ।
एतद्वै तत् ॥ १ ॥

जिसका मूल ऊपरकी ओर तथा शाखाएँ नीचेकी ओर हैं ऐसा यह अश्वत्थ वृक्ष सनातन (अनादि) है । वही विशुद्ध ज्योतिःस्वरूप है, वही ब्रह्म है और वही अमृत कहा जाता है । सम्पूर्ण लोक उसीमे आश्रित है; कोई भी उसका अतिक्रमण नही कर सकता । यही निश्चय वह [ब्रह्म] है ॥ १ ॥

ऊर्ध्वमूल ऊर्ध्वं मूलं यत् तद्विष्णोः परमं पदमस्येति सोऽयमव्यक्तादिस्थावरान्तः संसारवृक्ष ऊर्ध्वमूलः । वृक्षश्च व्रश्चनात् ।

ऊर्ध्व (ऊपरकी ओर) अर्थात् जो वह भगवान् विष्णुका परम पद है वही जिसका मूल है ऐसा यह अव्यक्तसे स्थावरपर्यन्त संसारवृक्ष 'ऊर्ध्वमूल' है । इसका व्रश्चन—छेदन होनेके कारण यह वृक्ष

१. 'तूल' कपासको कहते हैं । वह कपासके पौधेका कार्य है । अतः यहाँ 'तूल' शब्दसे सम्पूर्ण कार्यवर्ग उपलक्षित होता है ।

जन्मजरामरणशोकाद्यनेकानर्थात्मकः प्रतिक्षणमन्यथास्वभावो मायामरीच्युदकगन्धर्वनगरादिवद्दृष्टनष्टस्वरूपत्वादवसाने च वृक्षवदभावात्मकः कदलीस्तम्भवन्निःसारोऽनेकशतपाखण्डबुद्धिविकल्पास्पदस्तत्त्वविजिज्ञासुभिः अनिर्धारितेदंतत्त्वो वेदान्तनिर्धारितपरब्रह्ममूलसारोऽविद्याकामकर्माव्यक्तबीजप्रभवोऽपरब्रह्मविज्ञानक्रियाशक्तिद्वयात्मकहिरण्यगर्भाङ्कुरः सर्वप्राणिलिङ्गभेदस्कन्धस्तृष्णाजलावसेकोद्भूतदर्पो बुद्धीन्द्रियविषयप्रवालाङ्कुरः श्रुतिस्मृतिन्यायविद्योपदेशपलाशो यज्ञदानतपआद्यनेकक्रियासुपुष्पः सुखदुःखवेदनानेकरसः

कहलाता है। जो जन्म, जरा, मरण और शोक आदि अनेक अनर्थोंसे भरा हुआ, क्षण-क्षणमें अन्यथा भावको प्राप्त होनेवाला, माया मृगतृष्णाके जल और गन्धर्वनगरादिके समान दृष्टनष्टस्वरूप होनेसे अन्तमें वृक्षके समान अभावरूप हो जानेवाला, केलेके खम्भेके समान निःसार और सैकड़ों पाखण्डियोंकी बुद्धिके विकल्पोंका आश्रय है, तत्त्वजिज्ञासुओंद्वारा जिसका तत्त्व 'इदम्'रूपसे निर्धारित नहीं किया गया, वेदान्तनिर्णीत परब्रह्म ही जिसका मूल और सार है, जो अविद्या काम कर्म और अव्यक्तरूप बीजसे उत्पन्न होनेवाला है, ज्ञान और क्रिया—ये दोनों जिसकी स्वरूपभूत शक्तियाँ हैं वह अपरब्रह्मरूप हिरण्यगर्भ ही जिसका अङ्कुर है, सम्पूर्ण प्राणियोंके लिङ्गशरीर ही जिसके स्कन्ध हैं, जो तृष्णारूप जलके सेचनसे बढ़े हुए तेजवाला, बुद्धि, इन्द्रिय और विषयरूप नूतन पल्लवोंके अङ्कुरोंवाला, श्रुति, स्मृति, न्याय और ज्ञानोपदेशरूप पत्तोंवाला, यज्ञ, दान, तप आदि अनेक क्रियाकलापरूप सुन्दर फूलोंवाला, सुख, दुःख और वेदनारूप अनेक प्रकारके रसोंसे

प्राण्युपजीव्यानन्तफलस्तत्तृष्णासलिलावसेकप्ररूढजडीकृतदृढबद्धमूलः सत्यनामादिसप्तलोकब्रह्मादिभूतपक्षिकृतनीडः प्राणिसुखदुःखोद्भूतहर्षशोकजातनृत्यगीतवादित्रक्ष्वेलितास्फोटितहसिताक्रुष्टरुदितहाहामुञ्चमुञ्चेत्याद्यनेकशब्दकृततुमुलीभूतमहारवो वेदान्तविहितब्रह्मात्मदर्शनासङ्गशस्त्रकृतोच्छेद एष संसारवृक्षोऽश्वत्थोऽश्वत्थवत्कामकर्मवातेरितनित्यप्रचलितस्वभावः, स्वर्गनरकतिर्यक्प्रेतादिभिः शाखाभिः अवाक्शाखः; सनातनोऽनादित्वाच्चिरं प्रवृत्तः ।

युक्त, प्राणियोंकी आजीविकारूप अनन्त फलोंवाला तथा फलोंके तृष्णारूप जलके सेचनसे बढ़े हुए और [सात्त्विक आदि भावोंसे] मिश्रित एवं दृढतापूर्वक स्थिर हुए [कर्म-वासनादिरूप अवान्तर] मूलोंवाला है; ब्रह्मा आदि पक्षियोंने जिसपर सत्यादि नामोंवाले सात लोकरूप घोंसले बना रक्खे हैं, जो प्राणियोंके सुख-दुःखजनित हर्ष-शोकसे उत्पन्न हुए नृत्य, गान, वाद्य, क्रीडा, आस्फोटन, (खम ठोकना) हँसी, आक्रन्दन, रोदन तथा हाय-हाय, छोड-छोड इत्यादि अनेक प्रकारके शब्दोंकी तुमुलध्वनिसे अत्यन्त गुञ्जायमान हो रहा है तथा वेदान्तविहित ब्रह्मात्मैक्यदर्शनरूप असङ्गशस्त्रसे जिसका उच्छेद होता है ऐसा यह संसाररूप वृक्ष अश्वत्थ है, अर्थात् अश्वत्थ वृक्षके समान कामना और कर्मरूप वायुसे प्रेरित हुआ नित्य चञ्चलस्वभाववाला है। स्वर्ग, नरक, तिर्यक् और प्रेतादि शाखाओंके कारण यह नीचेकी ओर फैली शाखाओंवाला है तथा सनातन यानी अनादि होनेके कारण चिरकालसे चला आ रहा है ।

यदस्य संसारवृक्षस्य मूलं तदेव शुक्रं शुभ्रं शुद्धं ज्योतिष्मत्

इस संसारका जो मूल है वही शुक्र—शुभ्र—शुद्ध—ज्योतिर्मय अर्थात्

चैतन्यात्मज्योतिःस्वभावं तदेव ब्रह्म सर्वमहत्त्वात् । तदेवामृतम् अविनाशस्वभावमुच्यते कथ्यते सत्यत्वात् । वाचारम्भणं विकारो नामधेयमनृतम् अन्यदतो मर्त्यम् । तस्मिन्परमार्थसत्ये ब्रह्मणि लोका गन्धर्वनगरमरीच्युदकमायासमाः परमार्थदर्शनाभावावगमनाः श्रिता आश्रिताः सर्वे समस्ता उत्पत्तिस्थितिलयेषु । तदु तद्ब्रह्म नात्येति नातिवर्तते मृदादिमिव घटादिकार्यं कश्चन कश्चिदपि विकारः । एतद्वै तत् ॥ १ ॥

चैतन्यात्मज्योतिःस्वरूप है । वही सबसे महान् होनेके कारण ब्रह्म है। वही सत्यस्वरूप होनेके कारण अमृत अर्थात् अविनाशी स्वभाववाला कहा जाता है । विकार वाणीका विलास और केवल नाममात्र है अतः उस ब्रह्मसे अन्य सब मिथ्या और नाशवान् है । उस परमार्थ-सत्य ब्रह्ममे उत्पत्ति, स्थिति और लयके समय सम्पूर्ण लोक गन्धर्व-नगर, मरीचिका-जल और मायाके समान आश्रित हैं, ये परमार्थदर्शन हो जानेपर बाधित हो जानेवाले है । जिस प्रकार घट आदि कोई भी कार्य मृत्तिका आदिका अतिक्रमण नही कर सकते उस प्रकार कोई भी विकार उस ब्रह्मका अतिक्रमण नही कर सकता । निश्चय यही वह [ब्रह्म] है ॥ १ ॥

यद्विज्ञानादमृता भवन्तीत्युच्यते जगतो मूलं तदेव नास्ति ब्रह्मासत एवेदं निःसृतमिति ।

तत्र—

शङ्का—'जिसके ज्ञानसे अमर हो जाते है' ऐसा जिसके विषयमें कहा जाता है वह जगत्का मूलभूत ब्रह्म तो वस्तुतः है ही नही; यह सब तो असत्से ही प्रादुर्भूत हुआ है।

समाधान—ऐसी बात नही है [क्योंकि—]

ईश्वरके ज्ञानसे अमरत्वप्राप्ति

यदिदं किं च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम् ।
महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ २ ॥

यह जो कुछ सारा जगत् है प्राण—ब्रह्ममे, उदित होकर उसीसे, चेष्टा कर रहा है। वह ब्रह्म महान् भयरूप और उठे हुए वज्रके समान है। जो इसे जानते हैं वे अमर हो जाते हैं ॥ २ ॥

यदिदं किं च यत्किं चेदं जगत्सर्वं प्राणे परस्मिन्ब्रह्मणि सत्येजति कम्पते तत एव निःसृतं निर्गतं सत्प्रचलति नियमेन चेष्टते। यदेवं जगदुत्पत्त्यादिकारणं ब्रह्म तन्महद्भयम्। महच्च तद्भयं च बिभेत्यस्मादिति महद्भयम्; वज्रमुद्यतमुद्यतमिव वज्रम्। यथा वज्रोद्यतकरं स्वामिनमभिमुखीभूतं दृष्ट्वा भृत्या नियमेन तच्छासने वर्तन्ते तथेदं चन्द्रादित्यग्रहनक्षत्रतारकादिलक्षणं जगत्सेश्वरं नियमेन क्षणम् अप्यविश्रान्तं वर्तत इत्युक्तं

यह जो कुछ है अर्थात् यह जो कुछ जगत् है वह सब प्राण यानी परब्रह्मके होनेपर ही उसीसे प्रादुर्भूत होकर एजन—कम्पन—गमन अर्थात् नियमसे चेष्टा कर रहा है। इस प्रकार जो ब्रह्म जगत्‌की उत्पत्ति आदिका कारण हैं वह महान् भयरूप है। यह महान् भयरूप है अर्थात् इससे सब भय मानते हैं, इसलिये यह 'महद्भय' है। तथा उठाये हुए वज्रके समान है। कहना यह है कि जिस प्रकार अपने सामने स्वामीको हाथमे वज्र उठाये देखकर सेवकलोग नियमानुसार उसकी आज्ञामें प्रवृत्त होते रहते हैं उसी प्रकार चन्द्रमा, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और तारा आदिरूप यह सारा जगत् अपने अधिष्ठाताओंके सहित एक क्षणको भी विश्राम न लेकर नियमानुसार उसकी आज्ञामे वर्तता है।

भवति । य एतद्विदुः स्वात्मप्रवृत्तिसाक्षिभूतमेकं ब्रह्मामृता अमरणधर्माणस्ते भवन्ति ॥ २ ॥

अपने अन्तःकरणकी प्रवृत्तिके साक्षीभूत इस एक ब्रह्मको जो लोग जानते हैं वे अमर—अमरणधर्मा हो जाते है ॥ २ ॥

कथं तद्भयाज्जगद्वर्तत इत्याह—

उसके भयसे जगत् किस प्रकार व्यापार कर रहा है ? सो कहते है—

सर्वशासक प्रभु

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः ।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥ ३ ॥

इस (परमेश्वर) के भयसे अग्नि तपता है, इसीके भयसे सूर्य तपता है तथा इसीके भयसे इन्द्र, वायु और पाँचवाँ मृत्यु दौड़ता है ॥३॥

भयाद्भीत्या परमेश्वरस्याग्निः तपति भयात्तपति सूर्यो भयात् इन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः । न हीश्वराणां लोकपालानां समर्थानां सतां नियन्ता चेद्वज्रोद्यतकरवन्न स्यात्स्वामिभयभीतानामिव भृत्यानां नियता प्रवृत्तिरुपपद्यते ॥ ३ ॥

इस परमेश्वरके भयसे अग्नि तपता है, इसीके भयसे सूर्य तप रहा है तथा इसीके भयसे इन्द्र, वायु और पाँचवाँ मृत्यु दौड़ता है । यदि सामर्थ्यवान् और ईशनशील लोकपालोका, हाथमे वज्र उठाये रखनेवाले [इन्द्र] के समान कोई नियन्ता न होता तो स्वामीके भयसे प्रवृत्त होनेवाले सेवकोके समान उनकी नियमित प्रवृत्ति नही हो सकती थी ॥ ३ ॥

ईश्वरज्ञानके विना पुनर्जन्मप्राप्ति

तच्च,

और उस (भयके कारण-स्वरूप ब्रह्म) को—

इह चेदशकद्बोद्धुं प्राक्शरीरस्य विस्रसः ।
ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते ॥ ४ ॥

यदि इस देहमें इसके पतनसे पूर्व ही ब्रह्मको [जान सका तो बन्धनसे मुक्त हो जाता है और यदि] नहीं जान पाया तो इन जन्म-मरणशील लोकोंमे वह शरीर-भावको प्राप्त होनेमे समर्थ होता है ॥ ४ ॥

इह जीवन्नेव चेद्यद्यशकत् शक्नोति शक्तः सञ्ज्ञानात्येतद्भय-कारणं ब्रह्म बोद्धुमवगन्तुं प्राक्पूर्वं शरीरस्य विस्रसोऽव-स्रंसनात्पतनात्संसारबन्धनाद्वि-मुच्यते । न चेदशकद्बोद्धुं ततः अनवबोधात्सर्गेषु सृज्यन्ते येषु स्रष्टव्याः प्राणिन इति सर्गाः पृथिव्यादयो लोकास्तेषु सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय शरीरभावाय कल्पते समर्थो भवति शरीरं गृह्णातीत्यर्थः । तस्माच्छरीर-विस्रंसनात्प्रागात्मबोधाय यत्न आस्थेयः ॥ ४ ॥

यदि इस देहमे अर्थात् जीवित रहते हुए ही शरीरका पतन होनेसे पूर्व साधक पुरुषने इन सूर्यादिके भयके हेतुभूत ब्रह्मको जान लिया तो वह संसारबन्धनसे मुक्त हो जाता है; और यदि उसे न जान सका तो उसका ज्ञान न होनेके कारण वह सर्गोंमे जिनमे स्रष्टव्य प्राणियोंकी रचना की जाती है उन पृथिवी आदि लोकोमे शरीरत्व—शरीरभावको प्राप्त होनेमें समर्थ होता है अर्थात् शरीरग्रहण कर लेता है । अतः शरीरपातसे पूर्व ही आत्मज्ञानके लिये यत्न करना चाहिये ॥ ४ ॥

यस्मादिहैवात्मनो दर्शनम् आदर्शस्थस्येव मुखस्य स्पष्टमुपपद्यते न लोकान्तरेषु ब्रह्मलोकाद् अन्यत्र, स च दुष्प्रापः, कथम्? इत्युच्यते—

क्योंकि जिस प्रकार दर्पणमे मुखका प्रतिबिम्ब स्पष्ट पड़ता है उसी प्रकार इस (मनुष्यदेह) में ही आत्माका स्पष्ट दर्शन होना सम्भव है वैसा दर्शन ब्रह्मलोकको छोडकर और किसी लोकमे नही होता और उसका प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है; सो किस प्रकार? इसपर कहते है—

स्थानभेदसे भगवद्दर्शनमें तारतम्य

यथादर्शे तथात्मनि यथा स्वप्ने तथा पितृलोके । यथाप्सु परीव ददृशे तथा गन्धर्वलोके छायातपयोरिव ब्रह्मलोके ॥ ५ ॥

जिस प्रकार दर्पणमे उसी प्रकार निर्मल बुद्धिमे आत्माका [स्पष्ट] दर्शन होता है तथा जैसा स्वप्नमे वैसा ही पितृलोकमे और जैसा जलमे वैसा ही गन्धर्वलोकमे उसका [अस्पष्ट] भान होता है; किन्तु ब्रह्मलोकमे तो छाया और प्रकाशके समान वह [सर्वथा स्पष्ट] अनुभूत होता है ॥५॥

यथादर्शे प्रतिबिम्बभूतम् आत्मानं पश्यति लोकोऽत्यन्तविविक्तं तथेहात्मनि स्वबुद्धौ आदर्शवन्निर्मलीभूतायां विविक्तम् आत्मनो दर्शनं भवतीत्यर्थः ।

जिस प्रकार लोक दर्पणमें प्रतिबिम्बित हुए अपने-आपको अत्यन्त स्पष्टतया देखता है उसी प्रकार दर्पणके समान निर्मल हुई अपनी बुद्धिमे आत्माका स्पष्ट दर्शन होता है—ऐसा इसका अभिप्राय है ।

यथा स्वप्नेऽविविक्तं जाग्रद्वासनोद्भूतं तथा पितृलोकेऽविविक्तम्

जिस प्रकार स्वप्नमे जाग्रद्वासनाओंसे प्रकट हुआ दर्शन अस्पष्ट होता है उसी प्रकार पितृलोकमे

एव दर्शनमात्मनः कर्मफलोपभोगासक्तत्वात् । यथा चाप्सु अविभक्तावयवमात्मरूपं परीव ददृशे परिदृश्यत इव तथा गन्धर्वलोकेऽविविक्तमेव दर्शनमात्मनः। एवं च लोकान्तरेष्वपि शास्त्रप्रामाण्यादवगम्यते। छायातपयोः इवात्यन्तविविक्तं ब्रह्मलोक एव एकस्मिन्। स च दुष्प्रापोऽत्यन्तविशिष्टकर्मज्ञानसाध्यत्वात् । तस्मादात्मदर्शनायेहैव यत्नः कर्तव्य इत्यभिप्रायः ॥ ५ ॥

भी अस्पष्ट आत्मदर्शन होता है, क्योंकि वहाँ जीव कर्मफलके उपभोगमे आसक्त रहता है। तथा जिस प्रकार जलमे अपना स्वरूप ऐसा दिखलायी देता है, मानो उसके अवयव विभक्त न हो उसी प्रकार गन्धर्वलोकमे भी अस्पष्टरूपसे ही आत्माका दर्शन होता है। अन्य लोकोंमें भी शास्त्रप्रमाणसे ऐसा ही [अर्थात् अस्पष्ट आत्मदर्शन ही] माना जाता है। एकमात्र ब्रह्मलोकमे ही छाया और प्रकाशके समान वह आत्मदर्शन अत्यन्त स्पष्टतया होता है। किन्तु अत्यन्त विशिष्ट कर्म और ज्ञानसे साध्य होनेके कारण वह ब्रह्मलोक तो बड़ा दुष्प्राप्य है। अतः अभिप्राय यह है कि इस मनुष्यलोकमे ही आत्मदर्शनके लिये प्रयत्न करना चाहिये ॥ ५ ॥

कथमसौ बोद्धव्यः किं वा तदवबोधे प्रयोजनमित्युच्यते—

उस आत्माको किस प्रकार जानना चाहिये और उसके जाननेमे क्या प्रयोजन है? इसपर कहते हैं—

आत्मज्ञानका प्रकार और प्रयोजन

इन्द्रियाणां पृथग्भावमुदयास्तमयौ च यत् ।
पृथगुत्पद्यमानानां मत्वा धीरो न शोचति ॥ ६ ॥

पृथक्-पृथक् भूतोसे उत्पन्न होनेवाली इन्द्रियोंके जो विभिन्न भाव तथा उनकी उत्पत्ति और प्रलय हैं उन्हे जानकर बुद्धिमान् पुरुष शोक नहीं करता ॥ ६ ॥

इन्द्रियाणां श्रोत्रादीनां स्वस्वविषयग्रहणप्रयोजनेन स्वकारणेभ्य आकाशादिभ्यः पृथग् उत्पद्यमानानामत्यन्तविशुद्धात् केवलाच्चिन्मात्रात्मस्वरूपात्पृथग्भावं स्वभावविलक्षणात्मकतां तथा तेषामेवेन्द्रियाणामुदयास्तमयौ चोत्पत्तिप्रलयौ जाग्रत्स्वापावस्थापेक्षया नात्मन इति मत्वा ज्ञात्वा विवेकतो धीरो धीमान्न शोचति । आत्मनो नित्यैकस्वभावस्य अव्यभिचाराच्छोककारणत्वानुपपत्तेः । तथा च श्रुत्यन्तरम् "तरति शोकमात्मवित्" (छा० उ० ७ । १ । ३) इति ॥ ६ ॥

अपने-अपने विषयको ग्रहण करनारूप प्रयोजनके कारण अपने कारणरूप आकाशादि भूतोंसे पृथक्-पृथक् उत्पन्न होनेवाली श्रोत्रादि इन्द्रियोंका जो अत्यन्त विशुद्धस्वरूप केवल चिन्मात्र आत्मस्वरूपसे पृथक्त्व अर्थात् स्वाभाविक विलक्षणरूपता है उसे तथा जाग्रत् और स्वप्नकी अपेक्षासे उन इन्द्रियोके उदयास्तमय—उत्पत्ति और प्रलयको जानकर अर्थात् विवेकपूर्वक यह समझकर कि ये इन्द्रियोकी ही अवस्थाएँ है, आत्माकी नही, धीर—बुद्धिमान् पुरुष शोक नहीं करता, क्योकि सर्वदा एक स्वभावमे रहनेवाले आत्माका कभी व्यभिचार न होनेके कारण शोकका कोई कारण नही ठहरता । जैसा कि "आत्मज्ञानी शोकको पार कर जाता है" ऐसी एक श्रुति भी है ॥ ६ ॥

यस्मादात्मन इन्द्रियाणां पृथग्भाव उक्तो नासौ बहिरधि-

जिस आत्मासे इन्द्रियोका पृथक्त्व दिखलाया गया है वह कही बाहर है—ऐसा नही समझना

गन्तव्यो यस्मात्प्रत्यगात्मा स सर्वस्य । तत्कथमित्युच्यते—

चाहिये, क्योंकि वह सभीका अन्तरात्मा है । सो किस प्रकार ? इसपर कहते हैं—

इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम् ।
सत्त्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम् ॥ ७ ॥

इन्द्रियोंसे मन पर (उत्कृष्ट) है, मनसे बुद्धि श्रेष्ठ है, बुद्धिसे महत्तत्त्व बढकर है तथा महत्तत्त्वसे अव्यक्त उत्तम है ॥ ७ ॥

इन्द्रियेभ्यः परं मन इत्यादि । अर्थानामिहेन्द्रियसमानजातीयत्वादिन्द्रियग्रहणेनैव ग्रहणम् । पूर्ववदन्यत् । सत्त्वशब्दाद्बुद्धिरिहोच्यते ॥ ७ ॥

इन्द्रियोंसे मन पर है [तथा मनसे बुद्धि श्रेष्ठ है] इत्यादि । इन्द्रियोंके सजातीय होनेसे इन्द्रियोंका ग्रहण करनेसे ही विषयोंका भी ग्रहण हो जाता है । अन्य सब पूर्ववत् (कठ० १ । ३ । १०के समान) समझना चाहिये । 'सत्त्व' शब्दसे यहाँ बुद्धि कही गयी है ॥७॥

अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च ।
यं ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति ॥ ८ ॥

अव्यक्तसे भी पुरुष श्रेष्ठ है और वह व्यापक तथा अलिङ्ग है; जिसे जानकर मनुष्य मुक्त होता है और अमरत्वको प्राप्त हो जाता है ॥ ८ ॥

अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापको व्यापकस्याप्याकाशादेः सर्वस्य कारणत्वात् । अलिङ्गो

अव्यक्तसे भी पुरुष श्रेष्ठ है । वह आकाशादि सम्पूर्ण व्यापक पदार्थोंका भी कारण होनेसे व्यापक है । और अलिङ्ग है—जिसके द्वारा

लिङ्ग्यते गम्यते येन तल्लिङ्गं बुद्ध्यादि तदविद्यमानमस्येति सोऽयमलिङ्ग एव । सर्वसंसारधर्मवर्जित इत्येतत् । यं ज्ञात्वा आचार्यतः शास्त्रतश्च मुच्यते जन्तुः अविद्यादिहृदयग्रन्थिभिर्जीवन्नेव पतितेऽपि शरीरेऽमृतत्वं च गच्छति सोऽलिङ्गः परोऽव्यक्तात् पुरुष इति पूर्वेणैव सम्बन्धः॥८॥

कोई वस्तु जानी जाती है वह बुद्धि आदि लिङ्ग कहलाते हैं; परन्तु पुरुषमे इनका अभाव है इसलिये यह अलिङ्ग अर्थात् सम्पूर्ण संसार-धर्मोंसे रहित है। जिसे - आचार्य और शास्त्रद्वारा जानकर पुरुष जीवित रहते हुए ही अविद्या आदि हृदयकी ग्रन्थियोसे मुक्त हो जाता है तथा शरीरका पतन होनेपर भी अमरत्वको प्राप्त होता है वह पुरुष अलिङ्ग है, और अव्यक्तसे भी पर है— इस प्रकार इसका पूर्ववाक्यसे ही सम्बन्ध है ॥ ८ ॥

कथं तर्ह्यलिङ्गस्य दर्शनम् उपपद्यत इत्युच्यते—

तो फिर जिसका कोई लिङ्ग (ज्ञापक चिह्न) नही है उस आत्माका दर्शन होना किस प्रकार सम्भव है? सो कहा जाता है—

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य
न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् ।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो
य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ ९ ॥

इस आत्माका रूप दृष्टिमे नही ठहरता । इसे नेत्रसे कोई भी नही देख सकता । यह आत्मा तो मनका नियमन करनेवाली हृदयस्थिता बुद्धिद्वारा मननरूप सम्यग्दर्शनसे प्रकाशित [हुआ ही जाना जा सकता] है । जो इसे [ब्रह्मरूपसे] जानते है वे अमर हो जाते है ॥ ९ ॥

न संदृशे संदर्शनविषये न तिष्ठति प्रत्यगात्मनोऽस्य रूपम् । अतो न चक्षुषा सर्वेन्द्रियेण, चक्षुर्ग्रहणस्योपलक्षणार्थत्वात् , पश्यति नोपलभते कश्चन कश्चिद् अप्येनं प्रकृतमात्मानम् ।

इस प्रत्यगात्माका रूप संदर्शन—दृष्टिके विषयमे स्थिर नही होता । अतः कोई भी पुरुष इस प्रकृत आत्माको चक्षुसे—सम्पूर्ण इन्द्रियोसे [अर्थात् समस्त इन्द्रियोमेसे किसीसे] भी नही देख सकता अर्थात् उपलब्ध नहीं कर सकता । यहाँ चक्षुका ग्रहण सम्पूर्ण इन्द्रियोका उपलक्षण करानेके लिये है ।

कथं तर्हि तं पश्येदित्युच्यते । हृदा हृत्स्थया बुद्ध्या । मनीषा मनसः संकल्पादिरूपस्येष्टे नियन्तृत्वेनेति मनीट् तया हृदा मनीषाविकल्पयित्र्या मनसा मननरूपेण सम्यग्दर्शनेन अभिक्लृप्तोऽभिसमर्थितोऽभिप्रकाशित इत्येतत् । आत्मा ज्ञातुं शक्यत इति वाक्यशेषः । तम् आत्मानं ब्रह्मैतद्ये विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ ९ ॥

तो फिर उसे किस प्रकार देखे ? इसपर कहते है—हृदयस्थिता बुद्धिसे, जो कि सङ्कल्पादिरूप मनकी नियन्त्री होकर ईशन करनेके कारण 'मनीट्' है उस विकल्पशून्या बुद्धिसे मन अर्थात् मननरूप यथार्थ दर्शन-द्वारा सब प्रकार समर्थित अर्थात् प्रकाशित हुआ वह आत्मा जाना जा सकता है । यहाँ 'आत्मा जाना जा सकता है' यह वाक्यशेष है । उस आत्माको जो लोग 'यह ब्रह्म है' ऐसा जानते हैं वे अमर हो जाते है ॥ ९ ॥

सा हृन्मनीट् कथं प्राप्यत इति तदर्थो योग उच्यते—

वह हृदयस्थित [सङ्कल्पशून्य] बुद्धि किस प्रकार प्राप्त होती है ? यह बतलानेके लिये योगसाधनका उपदेश किया जाता है—

परमपदप्राप्ति

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम् ॥ १० ॥

जिस समय पाँचो ज्ञानेन्द्रियाँ मनके सहित [आत्मामे] स्थित हो जाती है और बुद्धि भी चेष्टा नहीं करती उस अवस्थाको परम गति कहते है ॥ १० ॥

यदा यस्मिन्काले स्वविषयेभ्यो निवर्तितान्यात्मन्येव पञ्च ज्ञानानि—ज्ञानार्थत्वाच्छ्रोत्रादीनि इन्द्रियाणि ज्ञानान्युच्यन्ते—अवतिष्ठन्ते सह मनसा यदनुगतानि तेन संकल्पादिव्यावृत्तेनान्तःकरणेन; बुद्धिश्चाध्यवसायलक्षणा न विचेष्टति स्वव्यापारेषु न विचेष्टते न व्याप्रियते तामाहुः परमां गतिम् ॥ १० ॥

जिस समय अपने-अपने विषयोसे निवृत्त हुई पाँचो ज्ञानेन्द्रियाँ—ज्ञानार्थक होनेके कारण श्रोत्रादि इन्द्रियाँ 'ज्ञान' कही जाती है—मनके साथ अर्थात् वे जिसका अनुवर्तन करनेवाली है उस सङ्कल्पादि व्यापारसे निवृत्त हुए अन्तःकरणके सहित [आत्मामे] स्थिर हो जाती हैं और निश्चयात्मिका बुद्धि भी अपने व्यापारोंमे चेष्टाशील नहीं होती—चेष्टा नहीं करती—व्यापार नही करती उस अवस्थाको ही परम गति कहते है ॥ १० ॥

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥ ११ ॥

उस स्थिर इन्द्रियधारणाको ही योग कहते है । उस समय पुरुष प्रमादरहित हो जाता है, क्योकि योग ही उत्पत्ति और नाशरूप है ॥ ११ ॥

तामीदृशीं तदवस्थां योगम् इति मन्यन्ते वियोगमेव सन्तम्। सर्वानर्थसंयोगवियोगलक्षणा हीयमवस्था योगिनः। एतस्यां ह्यवस्थायामविद्याध्यारोपणवर्जितस्वरूपप्रतिष्ठ आत्मा। स्थिराम् इन्द्रियधारणां स्थिरामचलाम् इन्द्रियधारणां बाह्यान्तःकरणानां धारणमित्यर्थः।

अप्रमत्तः प्रमादवर्जितः समाधानं प्रति नित्यं यत्नवांस्तदा तस्मिन्काले यदैव प्रवृत्तयोगो भवतीति सामर्थ्यादवगम्यते। न हि बुद्ध्यादिचेष्टाभावे प्रमादसंभवोऽस्ति। तस्मात्प्रागेव बुद्ध्यादिचेष्टोपरमादप्रमादो विधीयते। अथवा यदैवेन्द्रियाणां स्थिरा धारणा तदानीमेव निरङ्कुशमप्रमत्तत्वमित्यतः अभि-

उस ऐसी अवस्थाको ही—जो वास्तवमे वियोग ही है—योग मानते है, क्योकि योगीकी यह अवस्था सब प्रकारके अनर्थसंयोगकी वियोगरूपा है। इस अवस्थामे ही आत्मा अपने अविद्यादि आरोपसे रहित स्वरूपमे स्थित रहता है। [उस अवस्थाको ही] स्थिर इन्द्रिय-धारणा कहते है—स्थिर अर्थात् अचल इन्द्रियधारणा यानी बाह्य और आन्तरिक करणोका धारण करना।

तब—उस समय साधक पुरुष अप्रमत्त—प्रमादरहित हो जाता है, अर्थात् चित्तसमाधानके प्रति सर्वदा सयत्न रहता है; जिस समय कि वह योगमे प्रवृत्त होता है [उस समय ऐसी स्थिति होती है]—ऐसा इस वाक्यके सामर्थ्यसे जाना जाता है, क्योकि बुद्धि आदिकी चेष्टाका अभाव हो जानेपर प्रमाद होना सम्भव नही है। अतः बुद्धि आदिकी चेष्टाका अभाव होनेसे पूर्व ही अप्रमादका विधान किया जाता है। अथवा जिसी समय इन्द्रियोकी धारणा स्थिर होती है उसी समय निरङ्कुश अप्रमत्तत्व होता

धीयतेऽप्रमत्तस्तदा भवतीति । कुतः ? योगो हि यस्मात् प्रभवाप्ययौ उपजनापायधर्मक इत्यर्थोऽतोऽपायपरिहारायाप्रमादः कर्तव्य इत्यभिप्रायः ॥ ११ ॥

है; इसीलिये 'उस समय अप्रमत्त हो जाता है' ऐसा कहा है । ऐसी बात क्यों है ? क्योंकि योग ही प्रभव और अप्यय यानी उत्पत्ति और लयरूप धर्मवाला है; अतः तात्पर्य यह है कि अपाय (लय) की निवृत्तिके लिये प्रमादका अभाव करना चाहिये ॥ ११ ॥

बुद्ध्यादिचेष्टाविषयं चेद् ब्रह्मेदं तदिति विशेषतो गृह्येत बुद्ध्याद्युपरमे च ग्रहणकारणाभावात् अनुपलभ्यमानं नास्त्येव ब्रह्म । यद्धि करणगोचरं तदस्तीति प्रसिद्धं लोके विपरीतं चासद् इत्यतश्चानर्थको योगः । अनुपलभ्यमानत्वाद्वा नास्तीत्युपलब्धव्यं ब्रह्मेत्येवं प्राप्त इदमुच्यते—

यदि ब्रह्म बुद्धि आदिकी चेष्टाका विषय होता तो 'यह वह [ब्रह्म] है' इस प्रकार विशेषरूपसे गृहीत किया जा सकता था; किन्तु बुद्धि आदिके निवृत्त हो जानेपर तो उसे गृहीत करनेके कारणका अभाव हो जानेसे उपलब्ध न होनेवाला वह ब्रह्म वस्तुतः है ही नहीं । लोकमे जो वस्तु इन्द्रियगोचर होती है वही 'है' इस प्रकार प्रसिद्ध होती है और इसके विपरीत [इन्द्रियगोचर न होनेवाली] वस्तु 'असत्' कही जाती है, अतः योग व्यर्थ है । अथवा उपलब्ध होनेवाला न होनेसे ब्रह्म 'नहीं है' इस प्रकार जानना चाहिये—ऐसा प्राप्त होनेपर यह कहा जाता है—

सत्यम्,

ठीक है—

आत्मोपलब्धिका साधन सद्बुद्धि ही है

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा ।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते ॥ १२ ॥

वह आत्मा न तो वाणीसे, न मनसे और न नेत्रसे ही प्राप्त किया जा सकता है: वह 'है' ऐसा कहनेवालोंसे अन्यत्र (भिन्न पुरुषोंको) किस प्रकार उपलब्ध हो सकता है ? ॥ १२ ॥

नैव वाचा न मनसा न चक्षुषा नान्यैरपीन्द्रियैः प्राप्तुं शक्यत इत्यर्थः । तथापि सर्वविशेषरहितोऽपि जगतो मूलम् इत्यवगतत्वादस्त्येव कार्यप्रविलापनस्य अस्तित्वनिष्ठत्वात् । तथा हीदं कार्यं सूक्ष्मतारतम्यपारम्पर्येणानुगम्यमानं सद्बुद्धिनिष्ठामेवावगमयति । यदापि विषयप्रविलापनेन प्रविलाप्यमाना बुद्धिस्तदापि सा सत्प्रत्ययगर्भैव विलीयते । बुद्धिर्हि नः प्रमाणं सदसतोर्याथात्म्यावगमे ।

तात्पर्य यह कि वह ब्रह्म न तो वाणीसे, न मनसे, न नेत्रसे और न अन्य इन्द्रियोंसे ही प्राप्त किया जा सकता है । तथापि सर्वविशेषरहित होनेपर भी 'वह जगत्का मूल है' इस प्रकार ज्ञात होनेके कारण वह है ही, क्योंकि कार्यका विलय किसी अस्तित्वके आश्रयसे ही हो सकता है । इसी प्रकार सूक्ष्मताकी तारतम्यपरम्परासे अनुगत होनेवाला यह सम्पूर्ण कार्यवर्ग भी सद्बुद्धिनिष्ठाको ही सूचित करता है । जिस समय विषयका विलय करते हुए बुद्धिका विलय किया जाता है उस समय भी वह सद्वृत्तिगर्भिता हुई ही लीन होती है । तथा सत् और असत्का यथार्थ स्वरूप जाननेमें तो हमारे लिये बुद्धि ही प्रमाण है ।

मूलं चेज्जगतो न स्यादसद-न्वितमेवेदं कार्यमसदित्येवं गृह्येत न त्वेतदस्ति सत्सदित्येव तु गृह्यते; यथा मृदादिकार्यं घटादि मृदाद्यन्वितम् । तस्माज्जगतो मूलमात्मास्तीत्येवोपलब्धव्यम् । कस्मात् ? अस्तीति ब्रुवतोऽस्तित्व-वादिन आगमार्थानुसारिणः श्रद्दधानादन्यत्र नास्तिकवादिनि नास्ति जगतो मूलमात्मा निर-न्वयमेवेदं कार्यमभावान्तं प्रवि-लीयत इति मन्यमाने विपरीत-दर्शिनि कथं तद्ब्रह्म तत्त्वत उपलभ्यते न कथञ्चनोपलभ्यत इत्यर्थः ॥ १२ ॥

यदि जगत्का कोई मूल न होता तो यह सम्पूर्ण कार्यवर्ग असन्मय ही होनेके कारण 'असत् है' इस प्रकार गृहीत होता । किन्तु ऐसी बात नहीं है; यह जगत् तो 'है—है' इस प्रकार ही गृहीत होता है, जिस प्रकार कि मृत्तिका आदिके कार्य घट आदि [अपने कारण] मृत्तिका आदिसे समन्वित ही गृहीत होते हैं । अतः जगत्का मूल आत्मा 'है' इस प्रकार ही उपलब्ध किया जाना चाहिये । क्यों ? क्योंकि आत्मा 'है' इस प्रकार कहनेवाले शास्त्रार्थानुसारी श्रद्धालु आस्तिक पुरुषोंसे भिन्न नास्तिकवादियोंको, जो ऐसा मानते हैं कि 'जगत्का मूल आत्मा नहीं है, जिसका अभाव ही अन्तिम परिणाम है ऐसा यह कार्यवर्ग कारणसे अनन्वित हुआ ही लीन हो जाता है'—ऐसे उन विपरीतदर्शियोंको वह ब्रह्म किस प्रकार तत्त्वतः उपलब्ध हो सकता है ? अर्थात् किसी प्रकार उपलब्ध नहीं हो सकता ॥ १२ ॥

तस्मादपोह्यासद्वादिपक्षम् आसुरम्—

अतः असद्वादियोंके आसुरी पक्षका निराकरण कर—

अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः ।
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति ॥ १३ ॥

वह आत्मा 'है' इस प्रकार ही उपलब्ध किया जाना चाहिये तथा उसे तत्त्वभावसे भी जानना चाहिये । इन दोनों प्रकारकी उपलब्धियोंमेंसे जिसे 'है' इस प्रकारकी उपलब्धि हो गयी है तत्त्वभाव उसके अभिमुख हो जाता है ॥ १३ ॥

अस्तीत्येवात्मोपलब्धव्यः सत्कार्यो बुद्ध्याद्युपाधिः । यदा तु तद्रहितोऽविक्रिय आत्मा कार्यं च कारणव्यतिरेकेण नास्ति "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" (छा० उ० ६ । १ । ४) इति श्रुतेस्तदा यस्य निरुपाधिकस्यालिङ्गस्य सदसदादिप्रत्ययविषयत्ववर्जितस्यात्मनः तत्त्वभावो भवति तेन च रूपेण आत्मोपलब्धव्य इत्यनुवर्तते ।

बुद्धि आदि जिसकी उपाधि है तथा जिसका सत्त्व उसके कार्यवर्गमें अनुगत है उस आत्माको 'है' इस प्रकार ही उपलब्ध करना चाहिये। जिस समय आत्मा उस बुद्धि आदि उपाधिसे रहित और निर्विकार जाना जाता है तथा कार्यवर्ग "विकार वाणीका विलास और नाममात्र है, केवल मृत्तिका ही सत्य है" इस श्रुतिके अनुसार अपने कारणसे भिन्न नहीं है—ऐसा निश्चित होता है उस समय जिस निरुपाधिक अलिङ्ग और सत्-असत् आदि प्रतीतिके विषयत्वसे रहित आत्माका तत्त्वभाव होता है उस तत्त्वस्वरूपसे ही आत्माको उपलब्ध करना चाहिये—इस प्रकार यहाँ 'उपलब्धव्य' पदकी अनुवृत्ति की जाती है ।

तत्राप्युभयोः सोपाधिकनिरुपाधिकयोरस्तित्वतत्त्वभावयोः—

सोपाधिक अस्तित्व और निरुपाधिक तत्त्वभाव इन दोनोंमेंसे—

निर्धारणार्था षष्ठी—पूर्वमस्तीत्येवोपलब्धस्यात्मनः सत्कार्योपाधिकृतास्तित्वप्रत्ययेनोपलब्धस्य इत्यर्थः पश्चात्प्रत्यस्तमितसर्वोपाधिरूप आत्मनस्तत्त्वभावो विदिताविदिताभ्यामन्योऽद्वयस्वभावः "नेति नेति" (बृ० उ० २ । ३ । ६, ३ । ९ । २६) इति "अस्थूलमनण्वहृस्वम्" (बृ० उ० ३ । ८ । ८) "अदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयने" (तै० उ० २ । ७ । १) इत्यादिश्रुतिनिर्दिष्टः प्रसीदत्यभिमुखीभवति आत्मप्रकाशनाय पूर्वमस्तीत्युपलब्धवत इत्येतत् ॥ १३ ॥

यहाँ 'उभयोः' इस पदमें षष्ठी निर्धारणके लिये है—पहले तो 'है' इस प्रकार उपलब्ध हुए आत्माका अर्थात् सत्कार्यरूप उपाधिके किये हुए अस्तित्व-प्रत्ययसे उपलब्ध हुए आत्माका और फिर जिसकी सम्पूर्ण उपाधि निवृत्त हो गयी है और जो ज्ञात एवं अज्ञातसे भिन्न अद्वितीयस्वरूप है, उस "नेति-नेति[1]" "अस्थूलमनण्वहृस्वम्[2]" "अदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयने[3]" इत्यादि श्रुतियोंसे निर्दिष्ट आत्माका तत्त्वभाव 'प्रसीदति'—अभिमुख होता है अर्थात् जिसे पहले 'है' इस प्रकार आत्माकी उपलब्धि हो गयी है उसे अपना स्वरूप प्रकट करनेके लिये [वह तत्त्वभाव अभिमुख प्रकाशित होता है] ॥ १३ ॥

अमर कब होता है ?

एवं परमार्थदर्शिनोः— | इस प्रकार परमार्थदर्शीकी—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥ १४ ॥

---

१. 'यह (स्थूल) नहीं है, यह (सूक्ष्म) नहीं है ।'

२. 'अस्थूल, असूक्ष्म, अह्रस्व ।'

३. 'अदृश्य (इन्द्रियोंके अविषय) में, अनात्म्य (अहंता-ममताहीन) में, अनिर्वचनीयमें, अनिलयन (आधाररहित) में ।'

जिस समय सम्पूर्ण कामनाएँ, जो कि इसके हृदयमे आश्रय करके रहती हैं, छूट जाती है उस समय वह मर्त्य (मरणधर्मा) अमर हो जाता है और इस शरीरसे ही ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है ॥ १४ ॥

कामत्यागेन अमृतत्वम्

यदा यस्मिन्काले सर्वे कामाः कामयितव्यस्यान्यस्याभावात्प्रमुच्यन्ते विशीर्यन्ते येऽस्य प्राक्प्रतिबोधाद्विदुषो हृदि बुद्धौ श्रिता आश्रिताः । बुद्धिर्हि कामानामाश्रयो नात्मा । "कामः संकल्पः" (बृ० उ० १ । ५ । ३) इत्यादिश्रुत्यन्तराच्च । अथ तदा मर्त्यः प्राक्प्रबोधात् आसीत्स प्रबोधोत्तरकालमविद्याकामकर्मलक्षणस्य मृत्योर्विनाशादमृतो भवति । गमनप्रयोजकस्य मृत्योर्विनाशाद्गमनानुपपत्तेरत्रेहैव प्रदीपनिर्वाणवत्सर्वबन्धनोपशमाद् ब्रह्म समश्नुते ब्रह्मैव भवतीत्यर्थः ॥ १४ ॥

जब—जिस समय सम्पूर्ण कामनाएँ कामनायोग्य अन्य पदार्थका अभाव होनेके कारण छूट जाती है—छिन्न-भिन्न हो जाती है, जो कि बोध होनेसे पूर्व इस विद्वान्के हृदय—बुद्धिमे आश्रित रहती है—क्योंकि बुद्धि ही कामनाओंका आश्रय है, आत्मा नहीं; जैसा कि "कामना, संकल्प [और संशय—ये सब मन ही है]" इत्यादि एक दूसरी श्रुतिसे भी सिद्ध होता है ।

तब फिर जो आत्मसाक्षात्कारसे पूर्व मरणधर्मा था वह जीव आत्मज्ञान होनेके अनन्तर अविद्या, कामना और कर्मरूप मृत्युका नाश हो जानेसे अमर हो जाता है । परलोकमे गमन करानेवाले मृत्युका विनाश हो जानेसे वहाँ जाना सम्भव न होनेके कारण वह इस लोकमें ही दीपनिर्वाणके समान सम्पूर्ण बन्धनोके नष्ट हो जानेसे ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है, अर्थात् ब्रह्म ही हो जाता है ॥ १४ ॥

कदा पुनः कामानां मूलतो विनाश इत्युच्यते—

परन्तु कामनाओंका समूल नाश कब होता है ? इसपर कहते हैं—

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्यनुशासनम् ॥ १५ ॥

जिस समय इस जीवनमे ही इसके हृदयकी सम्पूर्ण ग्रन्थियोंका छेदन हो जाता है उस समय यह मरणधर्मा अमर हो जाता है। बस सम्पूर्ण वेदान्तोंका इतना ही आदेश है ॥ १५ ॥

ग्रन्थिभेद एवामृतत्वम्

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते भेदम् उपयान्ति विनश्यन्ति हृदयस्य बुद्धेरिह जीवत एव ग्रन्थयो ग्रन्थिवद् दृढबन्धनरूपा अविद्याप्रत्यया इत्यर्थः । अहमिदं शरीरं ममेदं धनं सुखी दुःखी चाहम् इत्येवमादिलक्षणास्तद्विपरीतब्रह्मात्मप्रत्ययोपजननाद् ब्रह्मैवाहमस्मि असंसारीति विनष्टेष्वविद्याग्रन्थिषु तन्निमित्ताः कामा मूलतो विनश्यन्ति । अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्येतावदेवैतावन्मात्रं नाधिकमस्तीत्याशङ्का कर्तव्या—

जिस समय यह—जीवित रहते हुए ही इसके हृदयकी—बुद्धिकी सम्पूर्ण ग्रन्थियाँ अर्थात् दृढ बन्धनरूप अविद्याजनित प्रतीतियाँ छिन्न-भिन्न होती—भेद-को प्राप्त होतीं अर्थात् नष्ट हो जाती है—'मैं यह शरीर हूँ, यह मेरा धन है, मैं सुखी हूँ, मैं दुखी हूँ' इत्यादि प्रकारके अनुभव अविद्या-प्रत्यय हैं; उसके विपरीत ब्रह्मात्मभावके अनुभवकी उत्पत्तिसे 'मैं असंसारी ब्रह्म ही हूँ' ऐसे बोधद्वारा अविद्यारूप ग्रन्थियोंके नष्ट हो जानेपर उसके निमित्तसे हुई कामनाएँ समूल नष्ट हो जाती है। तब वह मर्त्य (मरणधर्मा जीव) अमर हो जाता है। बस इतना ही सम्पूर्ण वेदान्तोंका अनुशासन—आदेश है; इससे अधिक कुछ और

अनुशासनमनुशिष्टिरुपदेशः सर्ववेदान्तानामिति वाक्यशेषः ॥१५॥

है ऐसी आशङ्का नही करनी चाहिये । यहाँ 'सर्ववेदान्तानाम्' यह वाक्यशेष है ॥ १५ ॥

निरस्ताशेषविशेषव्यापिब्रह्मात्मप्रतिपत्त्या प्रभिन्नसमस्ताविद्यादिग्रन्थेर्जीवत एव ब्रह्मभूतस्य विदुषो न गतिर्विद्यत इत्युक्तमत्र ब्रह्म समश्नुत इत्युक्तत्वात् । "न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति" (बृ० उ० ४ । ४ । ६) इति श्रुत्यन्तराच्च ।

जिसमे सम्पूर्ण विशेषणोका अभाव है उस सर्वव्यापक ब्रह्मको ही अपने आत्मस्वरूपसे जान लेनेके कारण जिसकी अविद्या आदि समस्त ग्रन्थियाँ टूट गयी है और जो जीवितावस्थामे ही ब्रह्मभावको प्राप्त हो गया है उस विद्वान्का कही गमन नही होता—ऐसा पहले कहा गया, क्योकि [चौदहवे मन्त्रमे] 'इस शरीरमे ही ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है'—ऐसा कहा है । "उसके प्राण उत्क्रमण नहीं करते वह ब्रह्मरूप हुआ ही ब्रह्ममें लीन हो जाता है" इस एक दूसरी श्रुतिसे भी यही निश्चय होता है ।

ये पुनर्मन्दब्रह्मविदो विद्यान्तरशीलिनश्च ब्रह्मलोकभाजो ये च तद्विपरीताः संसारभाजः तेषामेव गतिविशेष उच्यते—प्रकृतोत्कृष्टब्रह्मविद्याफलस्तुतये ।

किन्तु जो मन्द ब्रह्मज्ञानी और अन्य विद्या (उपासना) का परिशीलन करनेवाले ब्रह्मलोकप्राप्तिके अधिकारी है अथवा जो उनसे विपरीत [जन्म-मरणरूप] संसारको ही प्राप्त होनेवाले है, उन्हीको किसी गतिविशेषका वर्णन यहाँ प्रकरणप्राप्त ब्रह्मविद्याके उत्कृष्ट फलकी स्तुतिके लिये किया जाता है ।

किं चान्यदग्निविद्या पृष्टा प्रत्युक्ता च । तस्याश्च फलप्राप्तिप्रकारो वक्तव्य इति मन्त्रारम्भः । तत्र—

इसके सिवा नचिकेताके पूछनेपर यमराजने पहले अग्निविद्याका भी वर्णन किया था; उस अग्निविद्याके फलकी प्राप्तिका प्रकार भी बतलाना है ही । इसी अभिप्रायसे इस मन्त्रका आरम्भ किया जाता है । वहाँ [कहना यह है कि—]

शतं चैका च हृदयस्य नाड्य-
स्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका ।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति
विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति ॥ १६ ॥

इस हृदयकी एक सौ एक नाड़ियाँ है; उनमेसे एक मूर्धाका भेदन करके बाहरको निकली हुई है । उसके द्वारा ऊर्ध्व—ऊपरकी ओर गमन करनेवाला पुरुष अमरत्वको प्राप्त होता है । शेष विभिन्न गतियुक्त नाड़ियाँ उत्क्रमण (प्राणोत्सर्ग) की हेतु होती है ॥ १६ ॥

सुषुम्नाभेदेन अमृतत्वम्

शतं च शतसंख्याका एका च सुषुम्ना नाम पुरुषस्य हृदयाद्विनिःसृता नाड्यः शिरास्तासां मध्ये मूर्धानं भित्त्वाभिनिःसृता निर्गता सुषुम्ना नाम । तयान्तकाले हृदय आत्मानं वशीकृत्य योजयेत् ।

पुरुषके हृदयसे सौ अन्य और सुषुम्ना नामकी एक—इस प्रकार [एक सौ एक] नाड़ियाँ—शिराएँ निकली है । उनमे सुषुम्नानाम्नी नाडी मस्तकका भेदन करके बाहर निकल गयी है । अन्तकालमे उसके द्वारा आत्माको अपने हृदयदेशमे वशीभूत करके समाहित करे ।

तया नाड्योर्ध्वमुपर्यायन् गच्छन्नादित्यद्वारेणामृतत्वममरण-

उस नाडीके द्वारा ऊर्ध्व—ऊपरकी ओर जानेवाला जीव सूर्यमार्गसे अमृतत्व—आपेक्षिक अमरणधर्मत्व-

धर्मत्वमापेक्षिकम् । "आभूतसंप्लवं स्थानममृतत्वं हि भाष्यते" (वि० पु० २ । ८ । ९७) इति स्मृतेः । ब्रह्मणा वा सह कालान्तरेण मुख्यममृतत्वमेति भुक्त्वा भोगाननुपमान्ब्रह्मलोकगतान् । विष्वङ्नानाविधगतयः अन्या नाड्य उत्क्रमणे निमित्तं भवन्ति संसारप्रतिपत्त्यर्था एव भवन्तीत्यर्थः ॥ १६ ॥

को प्राप्त हो जाता है, जैसा कि "सम्पूर्ण भूतोके क्षयपर्यन्त रहनेवाला स्थान अमृतत्व कहलाता है" इस स्मृतिसे प्रमाणित होता है । अथवा [यह भी तात्पर्य हो सकता है कि] कालान्तरमे ब्रह्माके साथ ब्रह्मलोकके अनुपम भोगोको भोगकर मुख्य अमृतत्वको प्राप्त करता है । इसके सिवा जिनकी गति विविध भाँतिकी है ऐसी अन्य सब नाडियाँ प्राणप्रयाणकी हेतु होती है, अर्थात् वे संसारप्राप्तिके लिये ही होती है ॥ १६ ॥

इदानीं सर्ववल्ल्यर्थोपसंहारार्थमाह—

अब सम्पूर्ण वल्लियोके अर्थका उपसंहार करनेके लिये कहते है—

उपसंहार

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा
सदा जनानां हृदये संनिविष्टः ।
तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण ।
तं विद्याच्छुक्रममृतं तं विद्याच्छुक्रममृतमिति ॥ १७ ॥

अङ्गुष्ठमात्र पुरुष, जो अन्तरात्मा है सर्वदा जीवोंके हृदयदेशमे स्थित है । मूँजसे सींकके समान उसे धैर्यपूर्वक अपने शरीरसे बाहर निकाले [अर्थात् शरीरसे पृथक् करके अनुभव करे] । उसे शुक्र (शुद्ध) और अमृतरूप समझे, उसे शुक्र और अमृतरूप समझे ॥ १७ ॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां सम्बन्धिनि हृदये संनिविष्टो यथाव्याख्यातः तं स्वादात्मीयाच्छरीरात्प्रवृहेत् उद्यच्छेन्निष्कर्षेत्पृथक्कुर्यादित्यर्थः। किमिवेत्युच्यते मुञ्जादिव इषीकामन्तस्थां धैर्येणाप्रमादेन। तं शरीरान्निष्कृष्टं चिन्मात्रं विद्याद्विजानीयाच्छुक्रममृतं यथोक्तं ब्रह्मेति। द्विर्वचनमुपनिषत्परिसमाप्त्यर्थमितिशब्दश्च ॥१७॥

अङ्गुष्ठमात्र पुरुष, जिसकी व्याख्या पहले (क० उ० २।१।१२-१३ मे) की जा चुकी है और जो जीवोंके हृदयमे स्थित उनका अन्तरात्मा है उसे अपने शरीरसे बाहर करे—ऊपर नियन्त्रित करे—निकाले अर्थात् शरीरसे पृथक् करे। किस प्रकार पृथक् करे? इसपर कहते है—धैर्य अर्थात् अप्रमादपूर्वक इस प्रकार अलग करे जैसे मूँजसे उसके भीतर रहनेवाली सीक की जाती है। शरीरसे पृथक् किये हुए उस (अङ्गुष्ठमात्र पुरुष) को ही पूर्वोक्त चिन्मात्र विशुद्ध और अमृतमय ब्रह्म जाने। यहाँ 'तं विद्याच्छुक्रममृतम्' इस पदकी द्विरुक्ति और 'इति' शब्द उपनिषद्की समाप्तिके लिये हैं ॥ १७ ॥

विद्यास्तुत्यर्थोऽयमाख्यायिकार्थोपसंहारोऽधुनोच्यते—

अब विद्याकी स्तुतिके लिये यह आख्यायिकाके अर्थका उपसंहार कहा जाता है—

मृत्युप्रोक्तां नचिकेतोऽथ लब्ध्वा
विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम्।
ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्यु-
रन्योऽप्येवं यो विदध्यात्ममेव ॥१८॥

मृत्युकी कही हुई इस विद्या और सम्पूर्ण योगविधिको पाकर नचिकेता ब्रह्मभावको प्राप्त, विरज (धर्माधर्मशून्य) और मृत्युहीन हो गया। दूसरा भी जो कोई अध्यात्म-तत्त्वको इस प्रकार जानेगा वह भी वैसा ही हो जायगा ॥ १८ ॥

मृत्युप्रोक्तां यथोक्तामेतां ब्रह्मविद्यां योगविधिं च कृत्स्नं समस्तं सोपकरणं सफलमित्येतत्; नचिकेता वरप्रदानात् मृत्योर्लब्ध्वा प्राप्येत्यर्थः, किम् ? ब्रह्मप्राप्तोऽभून्मुक्तोऽभवदित्यर्थः। कथम् ? विद्याप्राप्त्या विरजो विगतधर्माधर्मो विमृत्युर्विगतकामाविद्यश्च सन्पूर्वमित्यर्थः।

मृत्युकी कही हुई इस पूर्वोक्त ब्रह्मविद्या और कृत्स्न— सम्पूर्ण योगविधिको, उसके साधन और फलके सहित, वरप्रदानके कारण मृत्युसे प्राप्त कर नचिकेता, क्या हो गया ? [इसपर कहते हैं—] ब्रह्मभावको प्राप्त हो गया, अर्थात् मुक्त हो गया। सो किस प्रकार ? [इसपर कहते हैं—] विद्याकी प्राप्तिद्वारा पहले विरज-धर्माधर्मसे रहित और विमृत्यु—काम और अविद्यासे रहित होकर [मुक्त हो गया] ऐसा इसका तात्पर्य है।

न केवलं नचिकेता एव अन्योऽपि नचिकेतोवदात्मविद् अध्यात्ममेव निरुपचरितं प्रत्यक्स्वरूपं प्राप्य तत्त्वमेवेत्यभिप्रायः; नान्यद्रूपमप्रत्यग्रूपम्। तदेवमध्यात्ममेवमुक्तप्रकारेण वेद विजानातीत्येवंवित्सोऽपि विरजः

केवल नचिकेता ही नहीं, बल्कि नचिकेताके समान जो दूसरा भी आत्मज्ञानी है अर्थात् जो अपने देहादिके अधिष्ठाता उपचारशून्य प्रत्यक्स्वरूपको—यही तत्त्व है, अन्य अप्रत्यक्रूप नहीं—ऐसा जानता है, जो उक्त प्रकारसे अपने उसी अध्यात्मरूपको जानता है अर्थात् जो उसी प्रकार जाननेवाला है वह भी विरज (धर्माधर्मसे

सन्ब्रह्मप्राप्त्या विमृत्युर्भवतीति वाक्यशेषः ॥ १८ ॥

रहित) होकर ब्रह्मप्राप्तिद्वारा मृत्युहीन हो जाता है—यह वाक्यशेष है ॥ १८ ॥

शिष्याचार्ययोः प्रमादकृतान्यायेन विद्याग्रहणप्रतिपादननिमित्तदोषप्रशमनार्थेयं शान्तिः उच्यते—

अब शिष्य और आचार्यके प्रमादकृत अन्यायसे विद्याके ग्रहण और प्रतिपादनमे होनेवाले दोषोकी निवृत्तिके लिये यह शान्ति कही जाती है—

शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं
करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु
मा विद्विषावहै ॥ १९ ॥
ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

परमात्मा हम [आचार्य और शिष्य] दोनोंकी साथ-साथ रक्षा करे । हमारा साथ-साथ पालन करे । हम साथ-साथ विद्यासम्बन्धी सामर्थ्य प्राप्त करे । हमारा अध्ययन किया हुआ तेजस्वी हो । हम द्वेष न करे ॥ १९ ॥

सह नावावामवतु पालयतु विद्यास्वरूपप्रकाशनेन । कः ? स एव परमेश्वर उपनिषत्प्रकाशितः । किं च सह नौ भुनक्तु तत्फलप्रकाशनेन नौ पालयतु । सहैवावां विद्याकृतं वीर्यं सामर्थ्यं करवावहै निष्पादयावहै । किं

विद्याके स्वरूपका प्रकाशन कर हम दोनोकी साथ-साथ रक्षा करे । कौन [रक्षा करे ? इसपर कहते है—] वह उपनिषत्प्रकाशित परमेश्वर ही [हमारी रक्षा करे] । तथा उसके फलको प्रकाशित कर वह हम दोनोंका साथ-साथ पालन करे । हम अपने विद्याकृत वीर्य—सामर्थ्यको साथ-साथ ही सम्पादित करें—प्राप्त करें । और

च तेजस्विनौ तेजस्विनोरावयोर्यदधीतं तत्स्वधीतमस्तु। अथवा तेजस्वि नावावाभ्यां यदधीतं तदतीव तेजस्वि वीर्यवदस्तु इत्यर्थः। मा विद्विषावहै शिष्याचार्यावन्योन्यं प्रमादकृतान्यायाध्ययनाध्यापनदोषनिमित्तं द्वेषं मा करवावहै इत्यर्थः। शान्तिः शान्तिः शान्तिरिति त्रिर्वचनं सर्वदोषोपशमनार्थमित्योमिति १९

हम तेजस्वियोंका जो अध्ययन किया हुआ है वह सुपठित हो। अथवा तेजस्वी हो अर्थात् हमलोगोंका जो अध्ययन किया हुआ है वह अत्यन्त तेजस्वी यानी वीर्यवान् हो। हम शिष्य और आचार्य परस्पर विद्वेष न करें अर्थात् हम प्रमादकृत अन्यायसे अध्ययन और अध्यापनमें हुए दोषोंके कारण परस्पर एक दूसरेसे द्वेष न करें। 'शान्तिः शान्तिः शान्तिः' इस प्रकार 'शान्तिः' शब्दका तीन बार उच्चारण [आध्यात्मिकादि] सम्पूर्ण दोषोंकी शान्तिके लिये किया गया है। इत्योम् ॥१९॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमदाचार्यश्रीशङ्करभगवतः कृतौ कठोपनिषद्भाष्ये द्वितीयाध्याये तृतीया वल्ली समाप्ता ॥३॥ (६)

इति कठोपनिषदि द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ॥ २ ॥

श्रीहरिः

मन्त्राणां वर्णानुक्रमणिका

प्रश्न—महाराज ! क्या बीता हुआ समय फिर भी आजाया करता है । अन्य जो आपने कहा सो तो आश्चर्यसा मालूम होता है ।

उत्तर—नहीं २ ऐसा मत कहो बिते हुए समयका फिर लौट कर आने में कोई आश्चर्य नहीं है । क्योंकि इस संसारको विद्वानोने चक्र की उपमा दी है । और यह संसार चक्र, काल चक्र के आश्रित हो कर घूमता रहता है । जैसे कि चाक का घूमना देखने वाला चाकके जिस २ भागको देख लेता है । फिरउसी भागको घूम कर आयहुए को कई बार देख सकता है । इसी प्रकार इस संसार चक्र में भी जो २ बातें देखनें सुनने और अनुभव में आती है सो भी उसी प्रकार भविष्यत् में भी देखने सुनने और भोगने में अवश्य आवेंगी और भूतकाल में भी देखने सुनने और भोगने में आई थीं । जरा विचार कर के देखिये कि जब कालको चक्रकी उपमा दी गई तो वर्त्तमान काल ही भूतकाल होवेगा । भविष्यत् काल वर्त्तमान काल होवेगा । और भूतकाल भविष्यत् काल होवेगा । जैसे मध्यान के समय प्रातः काल को भूतकाल कहते हैं और मध्यान्ह को वर्तमान काल और सायंकालको भविष्यत् काल कहते हैं । फिर जब सायंकाल आता है तब उस मध्यान्ह काल जिसको कि हम वर्तमान काल कहते थे, अब भूतकाल कहने लगते है । और वही सायंकाल कि जिसको हम पहिले भविष्यत् काल कहते थे अब वर्त्तमान कालकहते हैं । इसी तरह प्रात कालकी उस वक्त भूत कालमें गणना थी अब प्रातः काल इस समय भविष्यत् काल समझा जा रहा है । जैसे ऋतु मास दिन इत्यादि बीते हुए फिर लौट कर आ जाते हैं तैसे ही बीता हुआ समय फिर आने में कोई आश्चर्य नहीं है ।

प्रश्न—महाराज ! जयन्ती महोत्सवादि को बात और जो पदार्थ देखने सुनने वा भोगनेमें आते हैं सो नये नहीं हैं । किन्तु पहिले

भी अनुभवमें आचुके हैं। और आगे भी इसी तरह आते रहेंगे। ऐसा जो आपने कहा सो हम लोगोंकी समझमें नहीं आता इसलिए इसी बातको कृपा करके आप फिर विस्तार पूर्वक कहिये जिस से हम समझ सकें और यह भी बतलाइए कि नगर बीकानेरमें जयन्ती महोत्सव पहिले कब और कौनसे महाराजाके राज्यमें हुआ था और आगामी कब और कौनसे महाराजाके राज्यमें होवेगा। क्योंकि राव बीकेजी से लेकर वर्तमान महाराज तक कुल इक्कीस २१ गद्दी नरेश आजतक बीकानेरमें हुए हैं। जिनों कि कविता इस प्रकार है।

बीको, नेरो, लूणसी, जैतो कल्लो, राय, दलपत, शूरो, करणसि, अनोप, सरूप, सुजाय, जोरो, गज्जो, राजसी, परतापो, सूरत, रतनसिंह, सिरदार सिंह, डूँग, गंग, महिपत।

महाराज! इन सब नरेशोंकी बहादुरी वा कर्त्तव्यादि आद्योपान्त ख्यात बीकानेर में मौजूद है। परन्तु पहिले कभी किसी महाराज के समयमें श्रीजयंती महोत्सवका होना तो कहीं नहीं लिखा? फिर आप किस प्रकार कहते हैं कि नगर बीकानेर में श्रीजयन्ती महोत्सव पहिले भी हुआ था।

उत्तर—जी हाँ, यह आपका कहना ठीक है क्योंकि ये जो मैंने कहा सो बिलकुल नईसी बात है इस लिए आप लोगोंके ध्यान में अवश्य न जमी होगी। अब मैं इसी बात को आपकी बुद्धीमें आनेके लिए बिस्तार पूर्वक कहता हूँ। आप भी एकाग्र चित्त हो कर सुनिये जिससे कि शीघ्रही समझमें आजाय।

श्रीब्रह्माजी महाराजके एक दिन रातको कल्प कहते हैं। उनके दिन और रात्रि बराबर होते हैं। रात्रिमें सारी सृष्टि सूर्य्य, चन्द्रमा

और सारी पृथिवियों के सहित माया विशिष्ट परमात्मामें लय हो जाया करती है। उस समय किसी जीवको कुछ भी सुख दुखादि भोग नहीं मिलते। सर्व जीव उस समय गाढ़ निद्रामें सोये हुए की तरह रहते हैं। जिसका कारण यह है कि उस समय किसी जीवके कर्म भी अपने सुख दुखादि फल देने के सनमुख नहीं होते। इस वास्ते महा प्रलय के होनेमें किसी प्रकार की बाधा भी नहीं पड़ती और कर्मोंके फल न देनेका कारण आगे कहा जायगा।

जब महाराज ब्रह्माजी की रात्री व्यतीत होकर दिन आरंभ होता है, तो पृथ्व्यादि पदार्थ बनाये जाकर फिर वही जीव जो माया विशिष्ट परमात्मामें लय हुआ था, अपने २ कर्मों के अनुसार स्थूल शरीरको धारण करके प्रगट होता है। और महाराज की सायंकाल पर्यन्त स्थूल शरीरोंको बदलता हुआ सुख दुखोंका अनुभव करता रहता है। इसी प्रकार से ब्रह्माजी की रात्री में प्रलय और दिनमें सृष्टि रहती है।

यहां पर यह जिज्ञासा होती है कि महाराज का दिन कितना बड़ा होता है। जिस पर कहते हैं कि महाराज ब्रह्माजी के एक दिन भरमें १४ मनु तथा १४ इन्द्र, उत्पन्न होकर अपना अपना भोग भोग कर लय हो जाया करते हैं। और सतयुग, त्रेता, द्वापर कलियुग, इन चारों युगों के मिलाने से एक चौकड़ी होती है। ऐसी ऐसी एक हजार १००० चौकड़ी का महाराजका दिन होता है। और एक चौकड़ी में देवताओंके बारह हजार १२००० और मनुष्योंके तेंयालीस लाख, बीस हजार ४३२०००० वर्ष होते हैं जिसका नकशा इस तरह है।

एक चौकड़ी का नकशा ।

	युग नाम	सत्य		त्रेता		द्वापर		कलिः		जोड़
१		युगः	संधिः	युगः	संधिः	युगः	संधिः	युगः	संधिः	चारों युगों के संधि-सहित देवताओंका
२	देवोंका	४०००	८००	३०००	६००	२०००	४००	१०००	२००	
३	जोड़	४८००		३६००		२४००		१२००		१२०००
४	मानुष	१४४००००	२८८०००	१०८००००	२१६०००	७२००००	१४४०००	३६००००	७२०००	मानुषी
५	जोड़	१७२८०००		१२९६०००		८६४०००		४३२०००		४३२००००

इस हिसाब से जब अर्द्ध कल्प अर्थात् सृष्टि काल में जो कि महाराज का दिन है एक हजार १००० चौकड़ी व्यतीत होने से मनुष्योंके चार अर्ब बत्तीस करोड़ ४३२०००००० वर्ष होवेंगे। और पूरे कल्प में इनसे द्विगुण अर्थात् २००० दो हजार चौकड़ी के आठ अर्ब चौसठ किरोड़ ८६४०००००० वर्ष होवेंगे। ऐसे तीन सौ साठ ३६० कल्प व्यतीत होने से महाराज का एक वर्ष होता है। और ऐसे सौ वर्ष की महाराज ब्रह्माजी की आयु होती है। ऐसा मनुआदि शास्त्रों में स्पष्ट लिखा है।

सभ्य गणों जब महारात्रि के, अन्त में महाराज ब्रह्माजी योग निद्रासे उठ कर सृष्टिकी रचना आरंभ करते हैं तो पहिले सूर्य्य, चन्द्रमा और पृथ्व्यादि पदार्थोंको उत्पन्न करते हैं। जो कि मनुष्यों की स्थितिका कारण है। फिर अन्नादि पदार्थों को रच कर मनुष्या-दिकन की सृष्टि रचते हैं। तो इनके बनाने अर्थात् रचना अवस्था में बारह करोड़ १२००००००० वर्ष लग कर शेष चार अर्ब बीस करोड़ वर्ष ४२०००००००० रहते हैं। बस इतने वर्षोंमें जो कुछ दुःख सुखादि भोगने में आता है उसी को आप प्रारब्ध कर्मका फल भोगना समझिए। कर्म तीन प्रकार के होते हैं; जैसे संचित, प्रारब्ध, और आगामी इनका विस्तार पूर्वक वर्णन फिर किया जायगा। इन चार अर्ब बीस करोड़ वर्षोंमे चौरासी लाख ८४००००० बार मनुष्यादि का जन्म होता है सो पहिले शरीरके सदृश ही उत्तर शरीर होता है अर्थात् पहिले वाला ही शरीर होता है ऐसा नहीं कि मनुष्य उत्तर जन्म में पशु पक्षी आदिक होवे। और पशु पक्ष आदि मनुष्य का शरीर धारण करें; क्यों कि बीज रूप जो सूक्ष्म शरीर है वो एक कल्प तक नहीं बदलता इसी कारण से प्राणी ही

शरीर यहाँ तक होता है। कि वर्ण आश्रम, जाति कुटम्ब, नाम, ग्राम, देश, काल, मकान, माता, पिता, भगिनी, भ्राता, मित्र, भार्या, पुत्र, पौत्र, विद्या, आयु, रोग, भोग, स्वामी, सेवक, बुरा, भला, धन, भूख, सम्पत, विपति, संयोग, वियोग, जय, पराजय, और पशु आदि जो कुछ सुख, दुखके हेतु हैं सो सर्व इस वक्त अनुभव करते हो उनको ऐसा समझो कि यह सब पदार्थ इस कल्प के आदि के शरीर से लेकर आज तक हमको सब शरीरमें बारम्बार मिलते आए हैं। और इस कल्प के अन्तिम शरीर तक यही उपरोक्त सब पदार्थ बारम्बार प्राप्त होते रहेंगे। अर्थात् इन चौरासी लाख जन्मों में एक से ही सब भोग होते हैं। न्यूनाधिक किञ्चित मात्र भी नहीं होता है।

जौन से पुरुष किसी पूर्व कल्प के किये हुए पुण्यों से स्वर्गके सुखोंको भोग कर शेष रहे पुण्यों से कल्प के आदिमें उत्तम देश उत्तम काल में उत्तम जातिमें महाराजाधिराज अथवा धनाढ्य पण्डित ईश्वर भक्त वा स्वधर्म्मानुष्ठावी वा सद्गुण विशिष्ट जिज्ञासु, आदि उत्तम पुरुष होते हैं। वे चौरासी लाख जन्म पर्यन्त वैसे ही वैसे होते हैं। और जो पुरुष पूर्वके किये हुए पापों से नर्क के दुखोंको भोगते हुए कई कल्पों तक तिर्यगादी योनियों को पाकर पापोंको क्षीण करते हुए शेष पापसे अंग हीन, धनहीन, बुद्धि हीन, वा रोगी होकर दुखोंको भोगते हुए सर्व जन्मोंको बितायेंगे। इस से यह सिद्ध होता है कि जन्म तो एक ही है जो कल्प के आदिमें हुआ था। बाकी एक कम चौरासी लाख बार तो केवल शरीर ही बदला जाताहै। जिस तरह मनुष्य पुराने वस्त्रको डाल कर नवीन वस्त्र धारण करते हैं वैसे ही जीवात्मा जीर्ण देह को त्याग कर फिर नवीन देह को धारण करता है। ऐसा ही तो श्रीमद्भगवद्गीतामें भी कहा है।

श्लोक—

वासांसि जीर्णानि यथा विहायनवानि
　　　　गृह्णाति नरोऽपराणि ॥
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि
　　　　संयाति नवानिदेही ॥

कदाचित् कोई कहे कि इस श्लोक से यह तो सिद्ध नहीं होता कि जीवात्मा पुराने मनुष्य शरीर को छोड़ कर फिर मनुष्यका ही शरीर धारण करता है। किन्तु शरीर मात्रका ही धारण करना इस श्लोक से तो पाया जाता है। इससे तो यह भी हो सकता है कि मनुष्य देहको छोड़ कर वृष्णादिकनका देह भी धारण कर सकता है।

केवल मनुष्य का मनुष्य ही होना यह तो सिद्ध नहीं होता। इसका उत्तर सुनिए, जैसे धोती पहरनेवाला पुरानी धोतीको छोड़ कर बदलेमें नवीन धोती ही धारण करता है। किन्तु उसकी जगह पगड़ी धारण नहीं करता। और पगड़ी त्यागने वाला पगड़ी की जगह पगड़ी ही धारण करता है न कि पगड़ी की जगह धोती। इसी प्रकार सृष्टि काल पर्यन्त जो २ जीव जैसा २ शरीर छोड़ेगा, उसके बदले वैसा ही वैसा शरीर धारण करेगा। यही उक्त श्लोक के अर्थका आशय वस्त्रोंके दृष्टान्त से पाया जाता है। इस से यही सिद्ध होता है कि मनुष्यादि कल्पके आदि में जो शरीर धारण करते हैं वही करते रहते हैं अर्थात् सृष्टि के आद्योपान्त तक में मनुष्यादि एक ही नाटक वारम्वार दिखलाते रहते हैं।

जैसे किसी एक मनुष्यने महाराज हरिश्चन्द्र के नाटकमें महर्षि

विश्वामित्रका स्वांग धारण करनेकी शिक्षा ग्रहण की थी इस लिये जब २ यह हरिश्चन्द्रका ख्याल किया जाताथा तब २ वही मनुष्य विश्वामित्रकी जगह का काम किया करता था। वैसे ही यह संसार जो कि परमेश्वर का रचा नाटक है इसमें यह पृथवी मानों नाटक गृह है और सूर्य्य चन्द्रादि मानो उसमें प्रकाश है। रात्रि और दिन मानों परदे हैं। नदी पर्वत वृक्षादि मानों सुन्दर दृश्य हैं। और तमाम देहधारी मानों नाटक करने वाले हैं। और ईश्वर स्वयम् ही इसका दर्शक है। इस कुदरती नाटक में परमात्माने जिन २ जीवोंको जो २ काम दिये हैं वे जीव उन्हीं २ कामोंको जब २ यह नाटक होता है तब २ करते रहते हैं और जैसे प्राकृत नाटक में मनुष्य अपने जिम्मेका काम करके छुट्टी पाते हैं और दूसरे दिन उसी नाटकमें अपना काम करनेको फिर उपस्थित हो जाते हैं। इसी प्रकार इस संसार रूपी नाटकमें भी सर्व जीव अपना २ काम करके परलोक सिधारते हैं और ५०० वर्ष बीतने पर जब यही नाटक फिर होता है तो पहिले शरीर के अनुसार ही स्थूल शरीर धारण करके अपने जिम्मे का काम करनेके लिये जीव उपस्थित होते हैं। इस प्रकार पाँच २ सौ वर्षका एक २ नाटक होनेके हिसाब से महाराज ब्रह्माजी के दिन भरमें चौरासी लाख बार एक साही नाटक हो चुकता है।

इस लिये कहा जाता है कि यह जयन्ती महोत्सव भी कुदरती नाटक में मिला हुआ होने से जाना जाता है कि पहिले कइबार हो चुका था और भविष्यत में भी होवेगा।

और आप लोगोंने प्रश्न में यह भी पूछा था कि जयन्ती महोत्सव पहिले कब और किस महाराजके समय में हुआ था और भविष्यत में कब और किस महाराज के समय में होवेगा।

इसका उत्तर भी आपको मिल चुका है। कि यह जयन्ती

महोत्सव पाँच सौ वर्ष पहिले इन्हीं महाराजाधिराजने नगर बिकानेर में किया था अब कर रहे हैं और पाँच सौ वर्ष पश्चात् फिर भी करेंगे अर्थात इस कल्प भर में यही महाराजा इसी महोत्सवको चौरासी लाख बार करेंगे। क्यों कि इस महोत्सव की जिम्मेवारी परमात्माने इन्हीं महाराजा को दी है।

जब महात्माने कहा कि पाँचसौ वर्ष पहिले इन्हीं महाराजाने यह उत्सव किया था तब तो श्रोतागणोंने अत्यन्त आश्चर्य्य में आकर इस प्रकार बक्ष्यमाण प्रश्न करना आरंभ किया।

प्रश्नः—महाराज पाँचसौ वर्ष तो अभी बीकानेर बसे को ही नहीं हुए; किन्तु बिक्रम सम्वत् १५४५ वैसाख सुदी २ को ही तो इस जंगल में राव श्री बीकेजीने नगर बीकानेर को बसाया है। जिसके लिये निम्न लिखित दोहा भी प्रसिद्ध है।

दोहा।

पनरे सौ पैताल वें सुद वैसाख सुमेर ॥
थावर दूज थरपियो बीके बीकानेर ॥

इस शहरको बसे ही कुल ४२५ चार सौ पचीस वर्ष हुए हैं तो फिर आप किस तरह फरमाते हैं कि पाँचसौ वर्ष पहिले नगर बीकानेर में इन्हीं महाराजाने जयन्ती महोत्सव किया था।

उत्तर—प्रियजनों! ध्यान देके सुनो जिस पृथ्वी पर इस समय आप लोग स्थित हैं। परमेश्वर की सृष्टि में यही एक पृथ्वी नहीं है; किन्तु अनन्त पृथिवियां हैं। देखो मनु अ० १ श्लोक ८०। और जितने हमको आकाश में तारे दिखलाई देते हैं वे सब ही पृथ्वियां हैं। और इनमें प्रकाश जो दीखता है सो सूर्य्यकी किरणोंके

पड़ने से है। इसी प्रकार चन्द्रमा में भी स्वयम् प्रकाश नहीं है, किन्तु यह चन्द्र भी स्वच्छ शुद्ध मृत्तिकाके गोले के समान है। और इसके जितने भाग पर सूर्य्य की किरणें पड़ती है उतना ही भाग प्रकाशित होता है और बाकी भागपर जो छाया है वो मलिन दीखता है इस से साबित होता है कि सर्वत्र सूरज का ही प्रकाश है।

प्रियजनों! अनेक पृथ्वियां होने पर भी इस भूलोक में इसी पृथ्वी के सदृश अर्थात् सूर्य्यादिकों से इतनी ही दूर रहने वाली और इतनी ही लम्बी चौड़ी और समुद्र पहाड़ नदी करके संयुक्त ८६४० पृथ्वियां गणित द्वारा सिद्ध होती हैं। इन सब पृथ्वियों का एक गोलाकार चक्र बना हुआ है। और सतयुगादि चारों युग इन पृथ्वियों पर हर समय रहते हैं। ऐसा न समझिए कि इन सर्व पृथ्वियों पर इस समय एक कलयुग ही है; किन्तु हर समय ३४५६ पृथ्वी पर तो सतयुग रहता है। २५९२ पर त्रेता युग, १७२८ पर द्वापर युग और ८६४ पर कलियुग रहता है।

अर्थात् इस समय पृथ्वी नम्बर एक से लेकर ३४५६ तक पर सत युग और नम्बर ३४५७ से लेकर ६०४८ तक पर त्रेता युग, नम्बर ६०४९ से लेकर नम्बर ७७७६ तक पर द्वापर युग और नम्बर ७७७७ से लेकर नम्बर८६४० तक पर कलियुग है। और यह युगादि काल रूप चक्र हमेशा इस तरह से उलटी चाल से घूमा करता है कि पाँच २ सौ वर्ष में एक २ पृथ्वीको छोड़ कर बदलेमें दूसरी पृथ्वी दबा लेता है। जैसे पाँच सौ वर्ष में सतयुग अपनी एक पृथ्वी अन्त की ३४५६ नम्बर वाली को बिलकुल छोड़ देगा। क्यों कि उन पर सतयुग आयेको पूरा समय १७२८००० वर्ष हो चुकेगा। जब उस पृथ्वीको सतयुग छोड़ेगा उसी समय उस पर त्रेता युग अपने अम

भाग से प्रवेश हो जायगा। जो कि त्रेताका अग्र भाग इस समय ३४५७ नम्बर की पृथ्वी पर है। जब त्रेताका अग्र भाग ३४५८ पर आवेगा तो इसके बदले त्रेता अपनी अन्तकी पृथ्वी ६०४८ नम्बर वालीको जिस पर अपनी पूरी समय भोग चुकने के कारण छोड़ देवेंगे। इस ६०४८ नम्बर पर द्वापर का अग्र भाग प्रवेश हो जायगा। परन्तु इसी तरह द्वापर को भी अपने अन्तकी पृथ्वी नम्बर ७७७६ को इसके बदले छोड़नी पड़ैगी। इस पर कलियुग के अग्र भागका प्रवेश हो जायगा जोकि इस समय ७७७७ नम्बरकी पृथ्वी पर है और ८६४० नम्बरकी पृथ्वी पर कलियुगका अन्त है। जब यह ७७७८ नम्बरकी पृथ्वी पर आरम्भ होगा।

उस समय अपनी अन्त की पृथ्वी ८६४० नम्बरकीको कलियुग बिलकुल छोड़ देवेगा। तो उस समय सतयुग इसी पृथ्वी पर अपने अग्र भाग से प्रवेश करैगा। जिस अग्रभागको इस समय नम्बर एक की पृथ्वी पर समझिये।

इस प्रकार से चलते २ चारों युग महाराज ब्रह्माजीके प्रातः काल से सायंकाल तक में सब पृथ्वीयों पर एक हजार चक्र लगा चुकेंगे और इन युग रूपी काल भगवान्के आसरे सब जीव रहते हैं इसलिये इस पृथ्वी पर इस समय कलियुगका जो भाग है सो पाँच सौ वर्ष में इसके आगेकी पृथ्वी पर चला जायगा। और जीव भी काल के आश्रय से घूमते हैं। इस लिए कलियुग के इस भागके जीव भी उसी पृथ्वी पर चले जायँगे। और गणित द्वारा इस पृथ्वी पर ७७८७ का नम्बर आता है। जब हम लोग इस पृथ्वी पर अपने जिम्मेके सब काम कर चुकेंगे, तो इस संसार रूपी नाटकसे छुट्टी पाकर परलोकमें जाकर पाँचसौ वर्षमें शेष रहे वर्षों तक आराम करैंगे। और अपने जन्मको पाँचसौ वर्ष समाप्त होने पर फिर ७७८६ नम्बरकी पृथ्वी पर जन्म

लेवेंगे। और इस पृथ्वी पर भी उतना ही और वैसाही काम करेंगे। जितना और जैसा कि इस समय इस पृथ्वी पर कर चुके हैं और कर रहे हैं। न्यूनाधिक कुछ भी न कर सकेंगे। इस प्रकार से एक चौकड़ी भर में पाँच २ सौ वर्ष में क्रम से एक २ पृथ्वी पर जन्म लेते हुए सब पृथ्वियों पर घूम चुकेंगे। और ऊपर यह भी कहा जा चुका है कि जीव काल भगवानके आश्रय से चलता है इस लिये जब हम इस पृथ्वीको छोड़ कर पाँचसौ वर्ष पश्चात् अन्य पृथ्वी पर चले जायँगे तो काल वहाँ भी यही रहैगा। जैसे इस समय कलयुगके प्रवेश को पाँच हजार वर्ष हुए और महाराज विक्रमादित्यकी चलाई हुई शताब्दि बीसवीं है वैसे ही दूसरी सब पृथ्वीयों पर जब२ हम जन्म लेंगे तो कलियुग के प्रवेशको वहां भी पाँच हजार वर्ष हो चुकेंगे। और राजा विक्रम की भी यही शताब्दी रहैगी। इससे आप यही समझ लीजिये कि जयन्ती महोत्सव इन्हीं महाराजाधिराजने इस समय से पाँच सौ वर्ष पहिले पृथ्वी नम्बर ७७८८ पर शहर बीकानेर में किया था, और भविष्यत में पाँच सौ वर्ष पश्चात् पृथ्वी नम्बर ७७८६ पर फिर भी इसी महोत्सव को शहर बीकानेरमें करेंगे। कि जिस पर इस समय यवन राज्य बहुत चढ़ा हुआ है और राठोड़ वंश शिरोमणी महाराज रिड़मलजी शहर मंडूरमें उसी प्रकार राज्य शासन कर रहे हैं। जैसे कि पाँच सो वर्ष पहिले इस पृथ्वी पर उसी शहरमें करते थे। और ग्रन्थ कर्त्ता के पुरखों में भी माहेश्वरी, राठी, मदोजी भी मौजूद है। जिनोंके पुत्र भाग्यशाली लालोजी होगा सो राव-बीकेजीके साथ आकर अपने नाम पर लाला सर गाँवको बसाते हुए बीकानेरमें बसेंगे और जिनकी औलाद चारसौ वर्ष में इतनी बढ़ जायगी कि शहर बीकानेरमें करीब तीन हजार घर माहेश्वरियोंके होते पर भी ऐसा कोई एक घर शायद ही निकलेगा

कि जिस घरमें सालेजीकी पुत्री या पुत्र न बसता होवे जैसा कि इस समय इस पृथ्वीके इसी शहर में मौजूद हैं। और उसी पृथ्वी नम्बर ७७८६ पर रिड़मलजी के पुत्र जोधाजी और उनके पुत्र राव बीकाजी होंगे। जब इस पृथ्वी पर विक्रम सम्वत् २०४५ होवेगा उस समय उस पृथ्वी पर राव बीकाजी शहर बीकानेर की नीव डालेंगे। और फिर जब इस पृथ्वी पर विक्रम संवत् २४६९ होगा उस समय उस पृथ्वी पर यही महाराजाधिराज श्रीजयन्ती महोत्सव करेंगे। इसी लिये कहते हैं कि यह श्रीजयंती महोत्सव जो इस समय हो रहा है नूतन नहीं है।

जब महात्मा इस प्रश्नका उत्तर दे चुके तब सज्जन गण मारे हर्ष के उछलने लगे और महात्मा कूँ बारम्बार धन्यवाद देते हुए कहने लगे महाराज आपने हम लोगों पर बड़ी कृपा की इस लिए आपका उपकार चिरकाल स्मरणीय रहेगा इतना सुन कर महात्मा उठ खड़े हुए क्यों कि उस समय रात्रि अधिक हो गई थी इस लिये उन्होंने जाने की इच्छा प्रकट की परन्तु उपस्थित सज्जनगणों के हृदय में इसी विषय पर कुछ और भी प्रश्न करनेकी इच्छा थी इस लिए उन्होंने दूसरे दिन महात्मा के स्थान पर जा कर उन प्रश्नोंके उत्तर पूछनेका निश्चय किया। जो कि दूसरे भागमें लिखे जायगे और महात्मासे भी इसके लिए निवेदन कर दिया। तत्पश्चात् महात्माने अपने स्थानको प्रस्थान किया और उपस्थित सज्जन गणोंने भी महात्माकी प्रशंसा करते हुए अपने २ घरोंकी राह ली।

अद्भुत विचार ग्रंथ

प्रथम भाग समाप्त।

अद्भुत विचार ग्रंथ ।

द्वितिय भाग प्रारंभः ॥
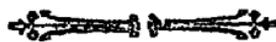
दूसरे दिन सायंकाल के समय जब यह मनुष्य महात्माके स्थान पर जा कर बाद नमस्कारादीके इस प्रकार पूछने लगे।

प्रश्न—महाराज शास्त्र वेताओं से तो ऐसा सुना गया है कि ईश्वर की माया अनन्त है। इसकी थाह कभी नहीं मिलती, तो फिर आपने यह किस तरह कहा कि सब पदार्थ सागी के सागी ही होते हैं

उत्तर—सुनो भाईयो ईश्वर की माया प्राकृत मनुष्योंकी दृष्टीमे तो अनन्त ही है, परन्तु योगियोंकी दृष्टी में ऐसी अनन्त नहीं है और ईश्वरकी दृष्टी में तो यही माया बिलकुल तुच्छ है। इस वास्ते इस विषयमें केवल दृष्टी का ही फेर है। अर्थात जैसी जिसकी दृष्टि होती है वैसी ही माया प्रतीत होती है इस लिए तुमारी शंका बन नहीं सकती।

प्रश्न—आपने कल कहा था कि कल्प भर में चौरासी लाख बार वैसा का वैसा ही शरीर होता है। इसमें कुछ शंका होती है क्यों कि शास्त्रों से चौरासी लाख जन्तुओंकी जाति तो पाई जाती है, परन्तु चौरासी लाख बार सागी ही शरीर का मिलना तो आज तक किसी से नहीं सुना। आप किस तरह कहते हैं।

उत्तर—सुनो सज्जनों! अपने शास्त्रों के वचन बहुत ही गंभीर हैं। यदि एक वचन पर भी पूरा २ मनन (विचार) किया जाय तो इन्हीं

एक वचन से कितने ही प्रकार के मतलब सिद्ध होते है । इसी वास्ते श्रवण के बाद मनन, करने की आज्ञा है । क्योंकि बहुत शूक्ष्म पदार्थ मनन करने से ही बुद्धी में आते है। अब देखिये एक ही वचन से कितने २ मतलब निकलते हैं और वे सब माननीय समझे जाते है। जैसे कि भगवद्गीता।

श्लोकः—

यानिशा सर्व भूतानां तस्यां जाग्रति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥

अर्थ—जो सर्व भूत प्राणियों की रात्री है उस में संयमी पुरुष जागते है और जिसमें सर्व प्राणी जागते है उसे योगी लोग रात्रिकी तरह देखते है बस यही इसका अक्षरार्थ है अब भावार्थकी तरफ ध्यान दीजिये।

कई फक्कड़ लोग धूनी तापने वाले इस श्लोकका आसय यह लेते हैं कि हम योगियोंको रात्रि में जागना और दिन में सोना चाहिये; और स्वरोदयके अभ्यास करने वाले संत इस श्लोक का आशय यह लेते हैं कि हम योगियों को रात्रि में सूरज का और दिनमें चन्द्रमा का स्वर चलाना चाहिये। क्योंकि सूरज स्वर जागना और चन्द्रमा का स्वर सोना माना जाता है। स्वरोदयके अभ्यासियों के इस, आशय को सिद्ध करने के लिए एक दोहा भी प्रचलित है। सो यह है।

दोहा।

दिन चलावें चन्द्रमा, रात चलावे सूर।
जोगी यह साधन करें, होय उमर भरपूर॥

और भी सुनिए वेदान्ती विद्वान लोग इसी श्लोक का आसय

यह लेते है कि परमार्थ सत्ता, अर्थात आत्म साक्षातकार सर्व भूत प्राणियों को रात्रि की नाई, अप्रत्यक्ष है। उस परमार्थ सत्ता में संयमी (योगी) लोग जागते है अर्थात् हर समय उपस्थित रहते हैं। और व्योहारिसत्ता में जो कि सर्व भूत प्राणी जागते हैं उसी व्योहार सत्ता को योगी लोग रात्रिकी तरह देखते हैं। अर्थात् स्मरण रहित रहते है और दूसरे भी सुनिये एक समय, दानव, देवता, और मनुष्य तीनों ही ब्रह्माजी के पास गये और उन्होंसे उपदेश की प्रार्थना की जिस पर महाराज ने एक दकार अक्षर से ही तीनोंको उपदेश किया। अर्थात् केवल 'द' इतना ही कहा।

इस 'द' का अर्थ दानवोंने यह समझा कि हम लोग निर्दई हैं। इस लिए मनुष्यादि जो कोई मिलता है उसे विना मारे नहीं छोड़ते इस वास्ते महाराजने हमे 'द' शब्द करके दया रखने के लिए ही कहा है।

देवताओं ने इसी 'द' शब्द का अर्थ यह समझा कि हम लोग स्वर्ग के दिव्य भोगों की प्राप्ती से संसारि विशयों में लम्पट हो रहे हैं। ओर विषय लमटोंका पुण्य क्षीण होनेके पश्चात् दुर्गति हुआ करतीहै।

इस कारण से महाराजने हमे 'द' शब्द करके इन्द्रियों को दमन करने का उपदेश दिया है। और मनुष्यों ने इसी 'द' शब्द का अर्थ यह समझा कि महाराजने हमें 'द' शब्द करके दान-देने का उपदेश दिया है। क्यों कि हम लोग द्रव्योपारजन करने में अनेक पाप कर लेते है। और द्रव्य के ही कारण सनातन प्रीती को छोड़ कर पिता पुत्र भ्राता २ परस्पर द्वेश कर बैठते हैं। इस लिए इस द्रव्य से मोह छोड़ कर दीनों के प्रती दान करने का और अपने कुटम्बी वा इष्ट मित्रादिकों के दुखोंको दूर करने के वास्ते द्रव्य खर्च करना इत्यादि महाराज ब्रह्माजीने 'द' शब्द करके दान का ही उपदेश दिया।

है। जब उदार चित्त से द्रव्य खचेंगा तो द्रव्य से मोह छूटने करके अनेक सद्गुणों की प्राप्ती भी होवेगी और अनेक अपगुणों का भंडार लोभ भी दूर हो जायगा। जिस लोभ को महाराज भर्तृहरिने भी अवगुणोंका भंडार कहा है।

"लोभश्चेद् गुणेन किम्।"

अर्थ :—जिसमें एक लोभ है उसको अन्य अपगुणों से क्या प्रयोजन है अर्थात् लोभ से सब ही अपगुण इकट्ठे हो जाते हैं।

अब विचारिए कि जैसे ऊपर लिखे अनुसार एक ही संकेत से कई आसय मिलते हैं और वे सब यथार्थ है। और अपने २ प्रकरण में ठीक घट भी जाते है। वैसे ही इन चौरासी लाख के एक संकेत से भी कई प्रकारके मतलब निकलते है। सो भी यथार्थ और अपने २ प्रकरण पर ठीक घटने वाले है। यही तो हमारे शास्त्रों की गंभीरता है। अब सुनो कोई तो कहते हैं कि चौरासी लाख प्रकारके नरक है जिनों में यमराजकी आज्ञानुसार पापात्माओंको यम किंकर अनेक प्राकार की यातना भोगा रहे हैं और कोई कहते हैं कि चौरासी लाख प्रकारकी जीवों की योनिया है। और हठयोगवाले कहते है कि चौरासी लाख प्रकार का आसन है। और मेरे अनुभव में यह आता है कि जीवों के चौरासी लाख एक से ही शरीर होते हैं सो कल्प पर्यन्त बारम्बार बदले जाते हैं। जैसा कि मै पहिले कह चुका हूँ परन्तु सूक्ष्म रीतिसे विचारा जावे तो शरीर तो एक ही है। उसी शरीर का समय २ पर प्रादुर्भाव तिरोभाव होता रहता है। कार्य होकर दृष्टी में आने वाले को प्रादुर्भाव कहते हैं। और कारण में लय होकर अदृष्ट होने वालेको तिरोभाव कहते हैं। सत॰ कार्य वादको मानने वाले होने से वेदान्त और सांख्य शास्त्र ने भी

ऐसा ही माना है। कि उत्पन्न होने से पहिले भी कारण में कार्य मौजूद था। और नाश होने पर भी कारण में कार्यलय हो कर के मौजूद ही रहता है। अर्थात किसी सतवस्तु का किसी काल में भी कदापि नाश नहीं होता। और जैसे सत वस्तु का अभाव तीनों कालो में नहीं होता तैसे ही असत वस्तु का भाव अर्थात् प्रकट होना कदापि नहीं होता। ऐसा ही श्रीभगवानने भी कहा है:—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्वदर्शिभिः॥

अर्थः—सत्य वस्तुका अभाव नहीं होता और असत्य वस्तुका भाव नहीं होता इन दोनों को तत्व दर्शी पुरुष अच्छी तरह जानते हैं इनसे भी सिद्ध होता है कि पहिले कारण में जो उपस्थित रहती है वही वस्तु प्रकट होती है। अन्य कदापि नहीं।

ऋग्वेद का मंत्रः—

सूर्या चन्द्र मसोधाता यथा पूर्वम् कल्प यत्।
दिवञ्च पृथिवीञ्चान्तरिक्ष मथोस्वः॥

अर्थः—बिधाताने पूर्व कल्प में जैसे सूर्यादिकोंको को रचा था वैसे ही इस कल्प में भी रचे हैं।

इस मन्त्र से भी यह सिद्ध होता है कि अन्य कल्पोंमें भी इस कल्प के सदृश ही सृष्टी होवेगी। जब इसी प्रकार सृष्टी होवेगी तो इन ही शरीरों का जो इस कल्प में स्थित है फिर प्रादुर्भाव होता रहेगा।

प्रश्न—शास्त्र कथित परोपकारादि शुभ कर्म करने वालों को स्वार्गादि सुखों का भोग मिलना और परपीड़ादि निषेध कर्म करने वालोंको नरकादि दुःख मिलना इत्यादि कर्मानुकूल कर्म फलों का होना आप मानते हैं या नहीं।

उत्तर—एक चार वक अर्थात् (नास्तिक) को छोड़ कर अन्य सर्व मत मतान्तरों वाले कर्मानुकूल धर्मफलको मानते हैं ऐसे ही मैं भी मानता हूँ।

प्रश्न—जब आप शास्त्र कथित कर्मानुकूल फलों का होना मानते हैं तो फिर वैसा का वैसा मनुष्य शरीर और वैसा का वैसा भोग मिलना किस प्रकार कहते हैं। क्यों कि शास्त्रानुकूल चलने वालों को तो देश काल शरीर और भोगादि उत्तर शरीरमें उत्तम मिलने चाहिये। और निषेध कर्म करने वालों को नीच शरीर और दुष्ट भोगादि फल मिलने चाहिये। और सर्व मनुष्योंका एकसा कर्म ता कभी हो ही नहीं सकता कि जिससे सब ही को फिर मनुष्य और वैसा का वैसा ही शरीर मिले। इसी कारण से आपके कथनानुसार सागी नाटक का होना क्यों कर माना जावे।

उत्तर—मै भी तो यह नहीं कहता कि सारे ही मनुष्योंका एकसा कर्म होता है; जिस कर्मों के फल करके फिर पीछे सागी का सागी ही मनुष्यादि शरीर मिलता है। क्यों कि मनुष्य शरीर से किए हुए कर्मों के फलों से ही तो पशु, पक्ष्यादिकनकी योनि मिलती है। परन्तु पहिले इस बात का निश्चय होना आवश्यक है कि किये हुए कर्मोंका फल कितने वर्षोंके पश्चात् भोगने में आता है। कर्म भी दृष्ट और अदृष्ट भेद करके दो प्रकार के होते हैं। जिसमें दृष्ट कर्मोंके फल तो किंचित् काल में ही हो जाता है। जैसे कि भोजन किया तृप्ती आई, गाली दी थप्पड़ की खाई और दूसरा अदृष्ट कर्म जिसके वास्ते कदाचित कोई कहे किसी शास्त्र में तो ऐसा लेख देखने में नहीं आया कि किये हुए कर्मों का फल इतने वर्षोंके बाद भोगने में आता है। परन्तु अनुमान से जाना जाता है कि इस शरीर से किये हुए कर्मों के फल को कोई तो इसी शरीर से भोग चुकते हैं जैसे कि किसीने

मनुष्य हत्या की और उसके फल में फाँसी पाई। और कोई ऐसा भी कर्म होता है जिसका फल इस शरीर को छोड़ देनेके बाद स्वर्ग अथवा नरक पाते हैं। और कई कर्मोंके फलोंको दूसरे वा तीसरे जन्मोंमें भोगते हैं। ऐसा कोई नेम नहीं है कि किए हुए कर्मों का फल इतने वर्षोंके बाद ही भोगने में आता है।

यह अनुमान करना ठीक नहीं और कर्मों के फल भोगने में कोई नेम नहीं ऐसा कहना भी उचित नहीं है। क्यों कि यह जगत सर्वज्ञ ईश्वर की रची हुई है। इसमें सब बातोंका नेम है यहां तक कि नियम के विरुद्ध वृक्ष का एक पत्ता भी नहीं हिल सकता। तो फिर कर्म तो बहुत ही बड़ी बात है जिसके वास्ते नियम नहीं ऐसा कभी नहीं हो सकता क्यों कि संसार के चलने की जड़ ही तो यह कर्म है। जैसे २ कर्म किये जाते हैं वैसे ही वैसे शरीर वा भोगादि मिलते रहते हैं यही तो सृष्टि के चलने का क्रम है। इस लिये यही कहना चाहिये कि नियम तो जरूर है परन्तु शास्त्रोंमें कहीं प्रगट रीति से ऐसा नहीं देखने में आया कि इतनी अवधि तक में कर्मोंका फल पक कर भोग देने के योग्य होता है। इसी कारण से हम लोग नहीं जानते कि कर्मों का फल कितने समय से मिलता है।

और कदापि कोई हठ पूर्वक कहे कि कर्मोंके फल भोगने में समय का नियम हैही नहीं तो उनसे पूछना चाहिये कि आज किसीने शुभ वा अशुभ कर्म किया उस कर्म का फल कर्म कर्ताको कैसा और कब समय में मिलेगा ऐसा ईश्वर को मालूम है या नहीं।

यदि ऐसा कहा जाय कि ईश्वरको भी विदित नहीं है तो ईश्वर के त्रिकालदर्शी और सर्वज्ञ होने में शंका होती है व शास्त्रों में भी दोष आवेगा। क्यों कि शास्त्र में ईश्वर को सर्वज्ञ और त्रिकालदर्शी कहते हैं। और यदि कहा जाय कि ईश्वरको विदित है कि इस कर्म का

यह फल कर्म—कर्ताको उस काल में मिलेगा। तो कर्म कर्ताको कर्मोंका फल इतने समय के पश्चात् मिलता है ऐसा नियम का होना भी निश्चय हो चुका। निसंदेह यही कहना पड़ेगा कि नियम तो है परन्तु हम नहीं जानते। कि कितने समय के बाद कर्मोंका फल मिला करता है।

और यह जानना कि किसीको तो कर्म फल इसी शरीर करके शीघ्र ही भोगने में आजाते हैं जैसे कि राज्य दंडादि करके और किसी को देर से मिलता है सो जानना ठीक नहीं। क्यों कि जब पाँच मनुष्योंने एक समय में एकसा ही कर्म किया फिर उसमें एक को तो इसी जन्ममें फल मिलै दूसरे को मरने के बाद। अन्यों को दूसरे तीसरे जन्मों में मिले ऐसा अँधेर ईश्वरके नियम में क्या कभी हो सकता है? नहीं २ कभी नहीं। किन्तु उन सब को कर्मोंका फल एक ही काल में और एक साही मिलैगा। क्यों कि जब उन सबोंने एक ही कालमें एक साही कर्म किया था।

और इसी शरीर से किये हुए कर्मों का फल इसी शरीर करके राज्य दंडादि द्वारा मिलता है ऐसा भी जानना ठीक नहीं है क्यों कि "गहना कर्मणांगति" इस बचन से जाना जाता है कि कर्मोंकी गति गहन अर्थात् बहुत शूक्ष्म है। तत्ववेत्ता पुरुषोंके और देवों के भी समझने में नहीं आती तो प्राकृत मनुष्योंकी तो बातें ही क्या जो कुल कर्मों का फल कर्मानुकूल दे सके। राज्य दंड इस समय के किये हुए कर्मोंके फलों को नहीं भोगाता किन्तु राजा अपनी प्रजा को निषेध कर्म करने से भय दिखला कर रोकते हैं। और कानून द्वारा यह भी शिक्षा देते है कि अमुक कर्म करोगे तो ऐसे २ दंड पावोगे।

अब सुनिए कर्मोंका फल इतने समय में पक कर भोग देने

योग्य होता है। ऐसा तो मै नहीं कह सकता, परन्तु शास्त्रोंके आशय को लेकर गणित द्वारा यह तो ठीक जचता है कि एक कल्प अर्थात् आठ अर्ब चौसठ करोड़ वर्षों तक की समय से पहिले तो किए हुए कर्मों का फल कोई भोग ही नहीं सकता। क्यों कि विचार करके देखिये यदि एक हजार वर्ष तक की अवधी में यदि कर्म फल भोगना माना जावे तो महा प्रलय से दो सौ वर्ष पहिले किये हुए कर्मोंका फल प्रलय के शुरू से आठ सौ वर्ष पश्चात् अर्थात् प्रलय के बीच ही में भोगने में आना चाहिये। परन्तु महा प्रलय मे कोई जीव कर्म फल भोगही नहीं सकता। क्यों कि पूरी समय के बीच में प्रलय भी टूट नहीं सकती और फल देने के योग्य हुआ कर्म भी अपना कार्य्य किए बिना नहीं ठहरता। इस लिए यदि एक कल्प से पहिले कर्मों का फल मिलना माना जाय तो महा प्रलय आदि बाधाएं पड़े बिना कदापि न रहैगी। इस लिये यही सिद्ध होगा कि एक कल्प तकका समय अर्थात् आठ अरब चौसठ करोड़ वर्षों से पहिले कर्मोंका फल होना असम्भव है।

और यह भी सिद्ध होता है कि इस कल्प के जिस भाग में जो कर्म किया जायगा उसका फल अन्य कल्प के उसी भाग में भोगने में आवेगा। और महा प्रलय के समय न तो कोई कर्म करता है और न किसी को कर्म फल भोगने में आता है।

कदाचित कोई कहे कि महा प्रलय के बीच में तो कर्मोंका फल भोगा नहीं जाता इस लिए महाप्रलय के बीचमें पड़ने वाले कर्मोंका फल महाप्रलय से पहिले या अन्त में क्यों न भोगा जावे और एक कल्प के बाद इतनी देर से कर्मों का फल होना क्यों माना जावे। तो सुनिए-कि शास्त्रों में यह सुस्पष्ट रीति से लिखा है कि जब जीवोंके कर्मों का फल भोग देने के सन्मुख होता है उसी समय ईश्वरकी यह इच्छा होती है कि जीवों के कर्मों का फल भोगनेके वास्ते

सृष्टि उत्पन्न होवे। इस से यह सिद्ध होता है कि जीवोंके कर्मोंके फल भोगनेके सन्मुख होने के निमित से ही सृष्टी की रचना होती है। बस इससे यह भी सिद्ध हो चुका है कि कर्मोका फल पूरे समय से पहिले वा पश्चात् भोगाया नहीं जाता किन्तु जिस समय जीवोंका कर्म फल देने लायक होता है उसी समय ईश्वरको भी जीवोंके कर्म फलों को अवश्य ही भोगाना पड़ता है। इससे यह ठीक सिद्ध हो चुका कि इस कल्प मे किए हुए कर्मोंका फल तो इस कल्प में भोग ही नहीं सकता। इस वास्ते कर्मोंकी विचित्रता होने से तो मेरे माने हुए नाटकमें किसी प्रकार का दोष नहीं आता।

प्रश्न—महाराज गणित और युक्ती द्वारा तो यह सिद्ध हो गया कि किये हुए कर्मोंका फल आठ अर्ब चौसठ करोड़ वर्षोंसे पहिले नहीं मिल सकता। परन्तु इसी विषय में यदि शास्त्रोंका आशय भी कोई मिल जाय तो आपके कथन में पूरा विश्वास हो जाय। यदि स्मरण है तो बतलाइए।

उत्तर—हाँ है सुनिये:—शास्त्रोंका आशय भी एसा ही पाया जाता है कि कर्म कर्ताको कर्म फल देनेके सनमुख दीर्घ काल में ही हुआ करता है देखो वेदान्त शास्त्रमें कर्म तीन प्रकार के कहे हैं; प्रालब्ध, क्रियमाण (आगामी) और संचित इन तीनों में प्रारब्ध कर्म उसको कहते हैं कि जिन कर्मोंका फल पक कर भोग देनेके सनमुख हो चुका हो और इसी शरीर करके तमाम भोग लिया जायगा। जिन कर्मोंके भोग करके नष्ट होने से शरीर भी नष्ट हो जायगा। इसीको प्रारब्ध कर्म कहते हैं। और जो कर्म इन बर्तमान शरीर करके कर चुके हैं वा कर रहे हैं वा करते रहेंगे। इन्हीं कर्मों को आगामी कर्म कहते हैं। अब संचित कर्मोंको ध्यान पूर्वक सुनिये। अनन्त कोटि जनमोंका किया हुआ शुभाशुभ कर्म आज तक पक कर अपना फल सुख दुखादि देने के सन्मुख नहीं हुआ और अनन्त

कोटि जन्मों तक में इन संचित कर्मों का फल सुखदुखादि भविष्यत् काल में भोगा जायगा उनको संचित कर्म कहते हैं। यह तो आप सुन ही चुके अब एक स्मृतिको भी सुनिए।

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभा शुभम्,
नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्प कोटि शतै रपि।

अर्थ किए हुए शुभाशुभ कर्मों का फल, अवश्य ही भोगना पड़ेगा। बिना भोगे सो कोटी कल्पों तक भी कर्म क्षीण नहीं होता।

अब देखिये कर्मों का फल शीघ्र ही मिलना माना जाय तो संचित कर्म के विधान में ऐसा कभी नहीं कहा जाता कि अनन्त कोटी जन्मों का किया हुआ कर्म अभी तक फल देने के सनमुख नहीं हुआ किन्तु आगे अनन्त कोटी जन्मों में ही फल देनेके सनमुख होवेगा। इनसे और उपरोक्त स्मृती वचन से यह सुपष्ट है कि किये हुए कर्मोंका फल बहुत समयके पश्चात् ही मिलता है। क्यों कि जिस शरीर करके जिस समय कर्म किया जाता है उस समय तो थोड़ी कर्म आगामी गिने जाते हैं। फिर शरीर पातके अनन्तर, वही कर्म, संचित कर्मों में मिलने करके संचित कर्म कहलाते हैं। जब फिर उन्हीं कर्मोंका फल पक कर भोग देनेके सन मुख होता है तब उन्हीं कर्मोंको प्रारब्ध कर्म कहते हैं। इन्हीं प्रारब्ध कर्मों के भोगने के वास्ते ही शरीर की उत्पत्ति होती है। और भोगों करके कर्मोंके क्षीण होने से शरीर भी नष्ट हो जाता है। यही शास्त्रोंका सिद्धान्त पाया जाता है। अब इस विषय में यह विचार उपस्थित है कि अनन्त कोटी जन्मों तक संचित कर्मोंका फल भोगनेमें नहीं आता है इसमें कोई निमित्त है या स्वाभाविक।

कदाचित कोई कहे कि किसी निमित्त से संचित कर्म दबे रहते होंगे इस वास्ते फल देने के सनमुख जल्दी नहीं होते सो तो बन

नहीं सकता । क्यों कि जीव तो कर्मोंके फलोंको भोगनेमें स्वतंत्र नहीं है। इस लिए जीव सम्बन्धी तो कोई निमित्त बन नहीं सकता। किन्तु ईश्वर ही सर्व जीवोंको समय २ पर कर्मानुकूल फल प्रदान करते हैं। जो सर्वज्ञ होने से ईश्वर में ऐसा दोषा रोप कोई भी कर नहीं सकता कि भूलजाने आदी किसी निमित्त को ले कर के जीवों को ठीक समय पर ईश्वर कर्मोंका फल न दे सकता हो।

इस लिए यही माना जायगा कि स्वभाविक ही कर्म फल बहुत समय से पक कर फल देनेके सन्मुख होते हैं परन्तु शुभाशुभ कर्मोंका साधारण फल वा मुख्य फल इन भेद करके दो प्रकारके होते हैं जैसे कि वृक्ष लगाने का फल साधारण छाया रूप फल तो थोड़े ही कालमें होजाता है परन्तु आम आदि मुख्य फलोंकी प्राप्ति तो दीर्घ काल में ही होती है तैसे ही शुभ कर्मी पुरुष कूँ इस लोक परलोक में अगे २ धन्यवाद मिलना और निषेध कर्म करने वालोंकू उभयलोक में धिकारादि मिलना यह तो छाया कि तरह साधारण फलका मिलना तो तुरन्त ही सुरु हो जाता है और कल्पों पर्य्यन्त इज्जतमें कामल रहता है तब तककी मुख्य फल न भोगने में आया हो और मुख्य फल एक कल्प तक की समय से पहिले नहीं मिल सकता इस को सिद्ध करनेके लिये यह शास्त्र का आशय भी आपको बतला चुके अब और कुछ पूछना हो सो निसन्देह पूछिए।

प्रश्न—महाराज! आपके कथन से तो यह सिद्ध होता है कि इन चौरासी लाख जन्मों के शरीरोंकी चेष्टा सांगी ही रहती है क्यों कि यदी चेष्टा अन्यान्य जन्ममें अन्यान्य प्रकारकी होनी मानी जाय तो सांगी नाटक भी नहीं हो सकता इसलिए पहिले जन्म के सदृश ही दूसरे जन्ममें चेष्टा के होनेमें कोई प्रमाण याद होवे तो बतलाइये।

उत्तर—हाँ यहाँ पर जन्म के सदृस चेष्टा होने में बहुत से प्रमाण पाये जाते हैं परन्तु समय अधिक जानेके भयसे गीता का एक ही प्रमाण देता हूँ सुनिए।

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥

अर्थ—प्रकृति ज्ञानवान को भी सदृश अर्थात वैसी की वैसी सारी चेष्टा करा देती है। तो फिर प्राकृत मनुष्य उस प्रकृती को किस तरह रोक सकेंगे। इससे आप समझ लीजिये कि कल्प भरके सर्व जन्मों में चेष्टा एकसी ही होती है।

प्रश्न—महाराज यह भी तो बतलाइए कि प्रकृती सारी चेष्टा सर्व जन्मोंमें किसीकी प्रेरणा से कराती है वा स्वयं।

उत्तर—प्रकृती स्वयं तो जड़ है इस लिए वो स्वतः सारी चेष्टा नहीं करा सकती परन्तु ईश्वर की प्रेरणा से ही वो वैसीकी, वैसी चेष्टा कराती है। जैसा कि गीता में लिखा है।

श्लोक—

ईश्वरः सर्व भूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्व भूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

अर्थ—जैसे कोई यन्त्र में अपने बलको आरूढ करके यन्त्रको घुमाता है तैसे ही ईश्वर सर्व भूत प्राणियोंके हृदय देश में स्थित हो कर माया रूपी यन्त्र से सर्व प्राणियोंको घुमारहा है। अर्थात् चेष्टा करा रहा है।

और पाँडव गीताके श्लोक से भी यही साबित होता है कि कोई अन्तर्यामी हृदय में स्थित है वो जैसी प्रेरणा करता है वैसा ही हम लोगोंको करना पड़ता है।

सो यह श्लोक है—

(महाराज दुर्योधन का बचन)

जानामि धर्मं नच मे प्रवृत्तिः
जानाम्यधर्मं नच मे निवृत्तिः ॥
केनापि देवेन हृदिस्थितेन
यथा नियुक्तोस्मि तथा करोमि ॥

अर्थ—मैं धर्मको सुख का हेतु जानता भी हूँ परन्तु धर्म पूर्वक आचरण करनेमें मेरी प्रवृत्ति नहीं होती और अधर्म को दुःख का हेतु भी जानता हूँ परन्तु अधर्म करने से मेरा चित्त नहीं हटता इस लिये मैं निश्चय कर के जानता हूँ कि कोई देव अर्थात् अन्तर्यामी मेरे हृदय देह में विराजमान है वह देव मेरे चित्त विषय जैसी प्रेरणा करता है वैसा ही मुझ को करना पड़ता है।

प्रश्न—महाराज सर्व जीव परमात्माकी प्रेरणानुसार ही चेष्टा करते हैं तो परमेश्वर में भी पक्षपातादि दोषारोप करना पड़ेगा। क्यों कि परमेश्वर किसी को तो अच्छी प्रेरणा द्वारा सुख का भागी बना देते है और किसी के हृदय में बुरी प्रेरणा करके अथाह दुख में डुबा देते हैं। और शास्त्र वेत्ता विद्वान् तो परमेश्वर को न्यायाधीश, दयालु कहते हैं। सो प्रेरक और न्यायाधीश व दयालु यह सर्व परस्पर विरुद्ध बातायें एक परमेश्वर में किस तरह घट सक्ती हैं। यह शंका दीर्घ काल से ही हमारे चित्त को क्षोभित कर रही है इस लिये कृपा करके हम लोगों की यह भी शंका आप निवारण कर दीजिए।

उत्तर—प्रियजनों विद्वानोंका कहना बहुत ठीक है परमेश्वरमें कोई भी किसी प्रकार का दोषा रोप हो ही नहीं सक्ता जिसका कारण यह है। परमात्मा अन्तर्यामी सर्व जीवों की बुद्धि रूपी

गुहा में विराज मान होकर प्रेरणा करता है, परन्तु प्रारब्ध कर्म के अनुसार ही प्रेरणा करता है अपनी इच्छा से नहीं करता इस वास्ते पक्ष पात रहित है। और जैसा जिस जीवका पूर्व जन्मोंका संग्रह किया हुआ कर्म है उसी के मुताबिक उस जीवको फल प्रदान करने से ही परमात्मामें न्यायाधीश पना सिद्ध होता है और जिस कर्म का फल उस समय पक कर फल देने के सन्मुख होवेगा तो ठीक उसी समय ही फल दान करने कर के अथवा वेदादि द्वारा शुभ सुख का हेतु उपदेश करने करके ईश्वर में दयालुता भी सिद्ध होती है। इस प्रकार एक ही ईश्वर में प्रेरकता और न्यायाधीशता और दयालुता तीनों ही लक्षण घट सक्ते हैं।

प्रश्न—महाराज यदि वारंवार साणी ही नाटक हुआ करता है तो फिर मनुष्योंको इष्ट पदार्थों की प्राप्ति के लिये कोई पुरुषार्थ करने की जरूरत ही नहीं रहेगी क्यों कि कोई पुरुषार्थ करो या मत करो बातें तो वही होवेगी जो पहिले नाटक में हो चुकी थी इस लिये साणी नाटकके मानने से पुरुषार्थ में शिथलता रूपी दोष आता है सो शास्त्रों से विरुद्ध है।

उत्तर—प्रियजनों! पुरुषार्थ कोई फल रूप नहीं है किन्तु पुरुषार्थ-ता केवल फलका द्योतक (चिन्ह है) अर्थात् फलको जताने वाला है और विद्वान लोग चिन्ह को देख कर ही अनुमान द्वारा भावी ज्ञान का अनुभव किया करते हैं।

दृष्टान्त—जैसे जल पूरत बादलों को देख कर के ही अनुमान होता है कि बारष आने वाली है क्यों कि बादल वारिष का द्योतक (चिन्ह) है जब बादलादि वारिष के चिन्ह ही नहीं दीखते तो वारिष का होना असम्भव है।

दृष्टान्त—तैसे ही पुरुषार्थ करने वाले मनुष्यों को देख कर के

अनुमान होता है कि पूर्ण पुरुषार्थ होने से इन लोगों को इष्ट फल की प्राप्ति जरूर होवेगी और जो मनुष्य पुरुषार्थ हीन हैं उस के लिये इष्ट फल प्राप्ति की शंका भी नहीं होती।

इन से यह सिद्ध होता है कि जिस पुरुष को इष्ट फल की प्राप्ति पूर्व नाटक में हुई है और अब होने वाली है उस मनुष्य की बुद्धि में तो पुरुषार्थ करने की ही प्रेरणा हुआ करती है और जिस मनुष्य को पहिले नाटक में इष्ट फल नहीं प्राप्त हुआ है और अब भी प्राप्त होने वाला नहीं है उस की पुरुषार्थ करने में रुचि भी नहीं होती इस लिये सागी नाटक को मान कर के पुरुषार्थ में किसी प्रकार की शिथलता नहीं आसक्ती।

प्र० महाराज सागी की सागी चेष्टा व नाटक का होना तो आपने अच्छी तरह से सिद्ध कर दिया और हम लोगों की बुद्धि में भी ठीक जच गया। परन्तु आप कहते हैं कि पांच पांच सौ वर्ष से यह सागी नाटक हुआ करता है सो पांच पांच सौ वर्ष से इस नाटक का होना। अभी तक हमारी बुद्धि में नहीं जचा इस लिये कृपया किसी प्रमाण के जरिये से यह भी हमारी बुद्धि में ठीक जचा दीजिये जिस से कि इसी विषय में भी हमारे चित्त विषय कोई शंका न रहे।

उत्तर—प्रिय जनों पांच पांच सौ वर्ष से सागी नाटक का होना गणित द्वारा इस प्रकार सिद्ध होता है सो चित्त देकर सुनिये।

महाराज ब्रह्माजी के एक दिन में मनुष्योंका चार अरब बतीस करोड़ वर्ष होता है जिसमें बारह करोड़ वर्ष जगतकी रचनावस्थामें लग चुकने पर शेष चार अरब बीस करोड़ वर्ष रहते हैं यह हम पहिले ही कह चुके थे सो आपको स्मरण ही होगा। इन चार अरब बीस करोड़ वर्षोंमें चोरासी लाख जन्म होना तो पांच पांच सौ वर्ष से ही एक एक जन्मका होना सिद्ध होता है क्योंकि चार

अरब बीस करोड़ (४,२००००००००) को चौरासी लाख (८४०००००) का भाग निकालने से पांच सौ (५००) ही मिलेगा बस इसी हिसाब से ही पांच पांच सौ वर्ष से पुनर्जन्म होना सिद्ध होता है और जो बात हिसाब से सिद्ध होती है वह बार्ता कदापि शास्त्रों में स्पष्ट रीति से न भी मिले तो भी उस को प्रत्यक्ष प्रमाण के सदृश सिद्ध ही समझनी चाहिये क्यों कि बहुतसी बातें शास्त्र में स्पष्ट रीति से नहीं मिलतीं केवल विचार द्वारा ही सिद्ध की जाती है। इसी लिये श्रवण के पश्चात् मनन करने की शास्त्र आज्ञा देते हैं मनन विचार दोनों पर्याय शब्द अर्थात् एक अर्थ बाचक हैं। और जैसे किसीने पूछा कि चौरासी लाखको पांच सौ का गुणा देने से कितना होता है। तो इसका जवाब देनेके लिये कोई भी विद्वान् शास्त्रोंका पन्ना नहीं सभालता, क्यों कि किसी शास्त्र में भी इसका जवाब स्पष्ट रीति से लिखा हुआ नहीं मिलता, किन्तु गणित द्वारा विचार से ही इसका जवाब देता है कि चार अरब बीस करोड़ होवेगा। और इस जवाबको शास्त्रोंमें नहीं मिलने पर भी सब लोग मंजूर करते हैं वैसे हीं गणित रूपी विचार से सिद्ध हुआ पांच २ सौ वर्षों से एक एक नाटक का होना अर्थात् पुनर्जन्म होना किसी शास्त्र में स्पष्ट रीति से नहीं भी मिले तो भी मंजूर करने योग्य है क्योंकि गणित (ज्योतिष) वेदों के षट अंगों में से एक अंग होने करके वेदोंके सदृश ही मान्य है, इसलिये और कोई प्रमाण इस विषय में ढूंढने की आवश्यकता नहीं है।

प्रश्न—महाराज ! कल्प तक के समयमें चौरासी लाख जन्मोंके होने से तो हिसाब द्वारा पांच २ सौ वर्षों से पुनर्जन्म होना ठीक मिलता है, परन्तु सर्व समयोंके सर्व मनुष्योंका पांच २ सौ वर्ष से ही पुनर्जन्म होता है, ऐसा मानना शास्त्रों से विरुद्ध मालूम पड़ता

है, क्योंकि पुराणादिकनमें कहीं ऐसा भी लेख सुनने में आता है कि सतयुगमें मनुष्योंकी एक लाख वर्षकी आयु होती थी, सो ही त्रेता युगमें दस हजार, द्वापर में एक हजार और कलियुगमें एक सौ वर्ष की रह गई।

इसी लेखके अनुसार ही श्रीवालमीकजी ऋषिने रामायणमें कहा है कि श्रीरामचंद्रजीने त्रेता युगमें अवतार होनेके कारण ग्यारह हजार वर्ष राज्य किया था, और आप कहते है कि सर्व युगोंके सर्व पृथ्वियोंके मनुष्य पांच २ सो वर्षसे दूसरी पृथवी पर जाय कर जन्मते हैं अर्थात् पांच सो वर्षसे अधिक आयु कोई भी किसी समयमें नहीं पाता इसलिये शास्त्रों से विरुद्ध होने करके आपका कलपा हुवा सांगी नाटक कपोल कलपितसा ज्ञात होता है, किन्तु मानने योग्य विदित नहीं होता।

उत्तर—सभ्यजनों! क्या तुम लोगोंने मेरे वाक्योंको शास्त्र विरुद्ध मन गढ़ित गपोड़े ही समझ रक्खे हैं। नहीं; नहीं; ऐसा समझना तुम लोगोंकी विलकुल भूल है क्योंकि आज तक जो कुछ मैंने तुम लोगोंके सामने कहा है सो अपनी बुद्धिके अनुसार शास्त्रोंके आशयको समझ कर ही कहा है। इस लिये मेरे वचनोंमें अविश्वास करना योग्य नहीं है। अब मैं इस विषय पर सत शास्त्रोंके आशय को आप लोगोंके सामने प्रकाशित करता हूँ जिस से विदित हो जायगा कि सत युगादिकनमें मनुष्योंकी कितनी कितनी आयु हुआ करती है।

आप लोग भी अच्छी तरह से ध्यान देकर सुनिये जिससे कि, आप लोगों के चित्त विषय उत्पन्न हुई जो प्रबल शंका उसकी निवित्ति हो कर मेरे कहे हुए वचनोंमें पूर्ण विश्वास उत्पन्न हो जाय।

श्रुति स्मृती ममै वाइ ॥

श्री वेद भगवान्‌की इस श्रुति सर्वांतर्यामी सर्व शक्ति मान् ईश्वर कहते हैं कि, श्रुति और स्मृती दोनों ही मेरी आज्ञा है अर्थात् हुकम है। यहाँ पर यह शङ्का होती है कि दो श्रुतियों में परस्पर विरोध होवे या श्रुति और स्मृती में परस्पर विरोध होवे अर्थात् श्रुति अर्थ से विपरीत स्मृति का मतलब निकलता होवे यहाँ पर किसका वचन ग्रहण करना और किसका वचन त्यागना चाहिये। इस शंका के निवार्णार्थ हमारे परम पूज्य महर्षियोंने यह निर्णय किया है।

श्रुति द्वैधंतु यत्रस्यात् तत्र धर्मा वुभौ स्मृतौ ॥
विरोधत्वेम पेक्षं स्यादसति ह्यनु मान के ॥

अर्थात जहाँ दो श्रुतियों में विरोध प्रतीत होवे वहां दोनों ही धर्म समझना चाहिये, और जहां श्रुति और स्मृति के वचनों में विरोध होवे वहाँ श्रुति वचनको ग्रहण करके स्मृती के वचनको त्याग देना चाहिये, क्योंकि श्रुति से विरुद्ध स्मृति को वचन मान्य नहीं होता और जब स्मृति और पुराणों के वचनोंमें परस्पर विरोध दीखे तो स्मृतीके वचनों को मान्य और पुराणों के वचनोंको अमान्य समझना चाहिए क्यों कि स्मृतीके विरुद्ध पुराणोंका वचन मानने योग्य नहीं होते। इन वाक्यों से यह सिद्ध होता है कि पुराणोंसे तो स्मृती बलिष्ठ है और स्मृती से श्रुति बलिष्ट है। अब सुनिये श्रुति और स्मृतीके तो वचन ऐसे कहीं भी देखने में नहीं आये कि सतयुग में मनुष्योंकी आयु एक लाख वो त्रेतायुगमें एक हजार वर्ष की होती थी। किन्तु वेदों वा उपनिसदोंकी श्रुतियां अथवा आर्ष पुस्तकों से तो इनसे विरुद्ध चारों युगों में मनुष्यों की आयु एक सौ वर्षोंकी ही सिद्ध होती है। देखो सो वचन यह है।

पश्येम शरदः शतं जीवेमशरदः शतम् [यजुः]
एधीन्धानास्त्वा शातिहिमा ऋधमे—
शतसंवत्सरं दीर्घमायुः ऋक्-शतायुर्वै पुरुषः कठ०
एति जीवन्त मानन्दो नरं वर्षशः तादपि ।
वाल्मी-युद्ध कांड सीता वचन ।

और ईशा वास्योपनिषद्में लिखा है कि मनुष्य कर्म कर्ता हुआ ही सौ वर्षजीनेकी इच्छा करे ऐसे कर्म करता हुआ मनुष्यको कर्मोंके बन्धनमें आना नहीं होता इससे दूसरा प्रकार बन्धन रूप कर्मसे छूटनेका नहीं है और कठ उपनिषद्में यमराज और नचिकेताका संवाद है वहां यमराज नचि केताके वैराग्यकी परीक्षा करते हुए कहते हैं कि तुम मेरे से आत्म विद्या मत पूछो और इस आत्म विद्या के बदले तेरेको सोलह १६ वरदान देता हूँ जो यह बहुत उत्तम हैं उनको ले कर प्रसन्न हो जावो वे सोलह वर यह हैं ।—सौ वर्ष की आयु वाले—पुत्र, पौत्र, बहुत पशु, हस्ती, स्वर्ण, अश्व, मंडलाधिपत्य, चिरं जीवन, धन, अपनी स्थिर जीविका, चक्रवर्तिराज्य, मनुष्य लोक में काम प्राप्ति, सत्य, कामना, स्त्रियाँ, दासी, नृत्य, वादित्र, विषय, कुशल पुण्य यह १६ वर माँगे जो तुम्हारे आनन्दके हेतु हैं न कि आत्म विद्या इस पर महात्मा नचि-केतानें इन सोलह वरोंको तुच्छ समझ कर नहीं लिये किन्तु आत्म-विद्या को ही यमराज से मांगे । और संध्या करते समय भी द्विज प्रमाण से १०० वर्ष जीने की ही प्रार्थना करते । अब विचारना चाहिये कि वेदक ग्रंथों से तो चारों युगों के लिये केवल १०० वर्ष की ही आयु सिद्ध होती है, तो फिर सतयुग में एक लक्ष त्रेतामें दश हजार वर्षकी आयु का परमाण होता तो वेदोंमें ऐसा वर्णन कदापि नहीं होता कि कर्म कर्ता हुआ पुरुष सौ वर्ष जीनेकी इच्छा करे ।

फिर भी सुनिए यमराज ने नचकेता को सब से उत्तम वर समझ कर ही सौ वर्ष जीने वाला पुत्र पौत्र देना कहाथा। यदि उस समय हजारों वर्ष की आयु होती तो क्या नचकेता इसे वर समझता और यमराज उसे देने के लिये कहता कदापि नहीं क्यों कि इसी समय में कोई मूर्ख भी ऐसा बेहुदा आशीर्वाद किसी को नहीं देता कि तुम्हारे दस वर्ष जीने वाला पुत्र हो। तो फिर जो यमराज जैसा विद्वान् और नचकेता जैसे महर्षि में ऐसी वार्ता जो कि उस समय मनुष्य की आयु हजारों वर्षों की होती तो होनी असम्भव थी इस से स्पष्ट ज्ञात होता है कि मनुष्योंकी आयु चारों युगों में सौ वर्ष की ही होती है। और युग युग के प्रति अलहदा २ वेद तो होता ही नहीं किन्तु चारों युगों में यही वेद रहता है जो इस समय उपस्थित है और सन्ध्या का मंत्र भी जो ईश्वर से १०० वर्ष जीने की प्रार्थना की जाती है चारों युगों में यही रहता है। इस लिये श्रुति प्रमाण से तो हर समय सौ ही वर्ष की आयु सिद्ध होती है।

कदाचित कोई कहे कि चारों युगों में आयुका प्रमाण तो सौ ही वर्ष का था परन्तु अन्य युगों में योगाभ्यास करके आयु बढ़ा कर हजारों वर्षों तक जीते रहे थे। सो वार्ता बन नहीं सकी क्यों कि किसी समय में भी सारी सृष्टि के मनुष्य योगाभ्यासी नहीं हो सके अलबता इतना फर्क तो हो सक्ता है कि इस समय कोटी मनुष्यों में एक या दो योगी होंगे और सतयुगादिकों में प्रती हजार एक मनुष्य योगी होता होगा। बस इतने ही समय का फेर हो सक्ता है यह नहीं हो सक्ता कि उस समय सब ही योगाभ्यासी थे। और यह भी समझ लीजिये कि योग कर के इतनी आयु भी नहीं बढ़ सक्ती कि एक सौ की जगह हजारों वर्ष जीते रह सकें। क्यों कि शास्त्रोंमें इन स्थूल शरीरों की स्थिती प्रारब्ध कर्मके ही आश्रितमानी

है। सो प्रारब्ध कर्म शरीरकी उत्पत्तिकालमें बन चुकता है और फिर योग करके घटबध नहीं सकता किन्तु प्रारब्ध तो भोग करके ही क्षीण होता है। और इनके क्षीण होनेसे शरीर भी नष्ट हो जाता है। इस लिए योग करके इतना आयुका बढ़ाना भी तो मानना योग्य नहीं है। जो कि एक सो वर्षका जुग है हजारों वर्ष तक जीता रहा। कदाचित कोई कहे कि सो वर्षकी आयुका तो एक सामान्य संकेत है अर्थात् इन से तो केवल पूरी आयु पानेका तात्पर्य है। यह नहीं कि चारों युगोंमें केवल सो ही वर्षकी आयु होती है। किन्तु आयु तो सतयुगमें एक लाख और त्रेतामें दस हजार वर्षकी ही होती है। ऐसा भी कहना ठीक नहीं क्यों कि मनुमें साफ लिखा है सो उसी व मुजिब। स्मृतिके वचन भी सुनिये

श्लोक—

आरोगाः सर्व सिद्धार्था श्चतुर्वर्ष शतायुष
कृत त्रेतादिषु ह्येषामायुर्ह्रसते पादशः॥

प्रथम अध्या श्लोक ८

अर्थ—सतयुगमें धर्मके प्रभाव से सब मनुष्य सम्पूर्ण सिद्धियों वाले और चारसो ४०० वर्षकी आयु वाले होते भये और यह आयु त्रेता, आदि युगोंमें एक एक पाद हीन होती गई जैसे त्रेतामें तीन सो (३००) द्वापरमें दोय सो (२००) कलियुगमें एक सो (१००) वर्षकी रह गई। इन मनुस्मृतिके वचन से ही हजारों वर्षकी आयुका मानना खंडन होता है और आप लोगोंने पुराणादिकोंमें हजारों वर्षकी आयु सुनि सो प्रथम तो श्रुति स्मृतिके विरुद्ध किसीका वचन माना नहीं जाता। इसके बारेमें

(८६४०) पृथ्वीयांका होना हिसाब द्वारा इस प्रकार सिद्ध होता है कि एक चौकड़ीमें मनुष्योंके तेतालीशलाख बीस हजार (४३, २००००) वर्ष होता है और पांच पांच सौ वर्षका एक २ नाटक होता है, इस लिये इनको पांच सौ का भाग निकालना चाहिये। जब तेतालिश लाख बीस हजार (४३, २००००) वर्षोंको पांच सौ का भाग निकाला तो आठहजार छसौ चालीस (८६४०) ही मिलेगा बस इतनी ही पृथ्वीयां हैं क्योंकि एक चौकड़ी के पश्चात ही सागी पृथ्वी पर सागी समय आजाया करती है अर्थात् एक चौकड़ीके बाद फिर इसी पृथ्वी पर यही समय आजायगा जिसमें की तुम्हारे इन्द्री महाराजाधिराज के कर कमलन से श्रीजयन्ती महोत्सव का होना तत पश्चात् तुम्हारा हमारा भी समागम होना।

यदि आठ हजार छ सौ चालीस (८६४०) से कम बेशी पृथ्वीयों को माना जाय तो एक चौकड़ी के बाद सागी समय का आना भी ठीक नहीं मिलता और एक चौकड़ी के पश्चात् सागी समयका आना नहीं मानना शास्त्रों से विरुद्ध है इस लिये आठहजार छसौ चालीस (८६४०) ही पृथ्वीयाँ इस भूलोक (मृत्युलोक) में मानने योग्य है।

प्र०—महाराज इस प्रश्नकी उत्तर हम खूब समझ गये परन्तु एक और भी बात है जिसको हम अभी तक नहीं समझे सो भी आप कृपा करके समझा दीजिए।

आपने कहा था कि हर समय तीन हजार चारसौ छपन (३४५६) पृथ्वीयां पर तो सतयुग और दो हजार पांच सौ बाणमें (२५९२) पृथ्वीयां पर त्रेतायुग, और एक हजार सातसौ अठाईश (१७२८) पृथ्वीयां पर द्वापरयुग और आठसौ चौसठ (८६४) पृथ्वीयां पर कलयुग रहा करते है।

है। सो प्रारब्ध कर्म शरीरकी उत्पत्तिकाल में बन चुकता है और फिर योग करके अटबध नहीं सकता किन्तु प्रारब्ध तो भोग करके ही क्षीण होता है। और इनके क्षीण होनेसे शरीर भी नष्ट हो जाता है। इस लिए योग करके इतना आयुका बढ़ाना भी तो मानना योग्य नहीं है। जो कि एक सो वर्षका जुग है हजारों वर्ष तक जीता रहा। कदाचित कोई कहे कि सो वर्षकी आयुका तो एक सामान्य संकेत है अर्थात् इन से तो केवल पूरी आयु पानेका तात्पर्य है। यह नहीं कि चारों युगोंमें केवल सो ही वर्षकी आयु होती है। किन्तु आयु तो सतयुगमें एक लाख और त्रेतामें दस हजार वर्षकी ही होती है। ऐसा भी कहना ठीक नहीं क्यों कि मनुमें साफ लिखा है सो इसी व मुजिब। स्मृतिके वचन भी सुनिये

श्लोक—

आरोगाः सर्व सिद्धार्थाश्चतुर्वर्ष शतायुषः।
कृत त्रेतादिषु ह्येषामायुर्ह्रसति पादशः॥

प्रथम अध्या श्लोक ८

अर्थ—सतयुगमें धर्मके प्रभाव से सब मनुष्य सम्पूर्ण सिद्धियों वाले और चारसो ४०० वर्षकी आयु वाले होते भये और यह आयु त्रेता, आदि युगोंमें एक एक पाद हीन होती गई जैसे त्रेतामें तीन सो (३००) द्वापरमें दोय सो (२००) कलि- युगोंमें एक सो (१००) वर्षकी रह गई। इन मनुस्मृतिके वचन से ही हजारों वर्षकी आयुका मानना खंडन होता है और आप लोगोंने पुराणादिकोंमें हजारों वर्षकी आयु सुनि सो प्रथम तो श्रुति स्मृतिके विरुद्ध किसीका वचन माना नहीं जाता। इसके बारेमें

(८६४०) पृथ्वीयां का होना हिसाब द्वारा इस प्रकार सिद्ध होता है कि एक चौकडीमें युगोंके तैतालिश लाख बीस हजार (४३, २००००) वर्ष होता है और पांच पांच सौ वर्षका एक २ नाटक होता है इस लिये इनको पांच सौ का भाग निकालना चाहिये। जब तैतालिश लाख बीस हजार (४३ २००००) वर्षोंको पांच सौ का भाग निकाला तो आठहजार छवसौ चालीस (८६४०) ही मिलेंगी बस इतनी ही पृथ्वीयां है क्योंकि एक चौकड़ी के पश्चात ही सारी पृथ्वी पर सारी समय आजाया करती है अर्थात् एक चौकड़ीके बाद फिर इसी पृथ्वी पर यही समय आजायगी जिसमें की तुम्हारे इन्हीं महाराजाधिराज के कर कमलन से श्रीजयन्ती महोत्सव का होना तत पश्चात् तुम्हारा हमेरा भी समागम होना।

यदि आठ हजार छ सौ चालीस (८६४०) से कम बेशी पृथ्वीयों को माना जाय सो एक चौकड़ी के बाद सारी समय का आना भी ठीक नहीं मिलता और एक चौकड़ी के पश्चात् सारी समयका आना नहीं मानना शास्त्रों से विरुद्ध है इस लिये आठहजार छवसौ चालीस (८६४०) ही पृथ्वीयाँ इस भूलोक (मृत्युलोक) में मानने योग्य है।

प्र०—महाराज इस प्रश्नका उत्तर हम खूब समझ गये परन्तु एक और भी बात है जिसको हम अभी तक नहीं समझे सो भी आप कृपा करके समझा दीजिए।

आपने कहा था कि हर समय तीन हजार चारसौ छपन (३४-५६ पृथ्वीया पर तो सतयुग और दो हजार पांच सौ बाणमें (२५९२) पृथ्वीयां पर त्रेतायुग, और एक हजार सातसौअठाईश (१७२८) पृथ्वीयां पर द्वापरयुग और आठसौ चौसठ (८६४) पृथ्वीयां पर कलयुग रहा करते हैं।

महाराज! इनका कौनसा हिसाब है सो अभी बतलाइये क्यों कि आप जैसे महत्पुरुषोंके समागम होने से ही गूढ़ विषय समझमें आया करते हैं।

उत्तर—सुनो भाईयो यह तो ऐसी कोई गूढ़वार्ता नहीं है जो तुम्हारी समझमें न आसके क्यों कि शास्त्रोंमें सतयुगका प्रमाण सतरह लाख अठाईस हजार (१७२८०००) वर्षोंका कहा है जिस को पांचसोका भाग निकालनेसे तीन हजार चारसो छप्पन (३४५६) होता है अर्थात् सतयुगके सर्व वर्षोंमें पांच पांचसो वर्षोंका एक एक भाग किया जाय तो सतयुगका कुल तीन हजार चारसो छप्पन ही भाग होवेगा सोई एक २ भाग एक २ पृथ्वी पर उपस्थित होने से ३४५६ ही पृथ्वीयों पर सतयुगका होना सिद्ध होता है। इसी तरह त्रेता युगका प्रमाण बारह लाख छानमें हजार (१२९६०००) वर्षोंका है।

उसको पांचसो का भाग निकालने से दो हजार पांचसो बानमें (२५९२) ही मिलेगा बस इन दो हजार पांचसो बानमे (२५९२) पृथ्वीयों पर त्रेता युग हर समय रहा करता है। द्वापर युगका प्रमाण आठ लाख चौसठ हजार (८६४०००) वर्षोंका है जिस को पांचसोका भाग निकालनेसे एक हजार सातसो अट्ठाईस (१७२८) ही मिलेगा इससे आप समझ सक्ते हैं कि एक हजार सातसो अटाइस पृथ्वियों पर द्वापर और चार लाख बत्तीस हजार (४३२०००) वर्षोंका कलियुगका प्रमाण है इनको पांचसोका भाग निकालने से आठसो चौसठ (८६४) ही मिलेगा इसलिये आठसो चौसठ पृथ्वीयों पर ही कलियुगका रहना सिद्ध होता है। इस तरह हिसाबकी राह से इतनी २ पृथ्वियों पर अमुक २ युगका हर समय रहना साबित होता है इन सर्व पृथ्वियोंको मिलानेसे वही आठ हजार छःसो चा-

लीस (८६४०) ही होवेगा जितनीकी मैं इस मृत्युलोकमें कल्पना कर चुका हूँ।

यह सब पृथ्वियां आकाशमें गोल नारंगीके समान है और जलों के सूक्ष्म अणूवों से मिली हुई वायुके आधार पर ठहरी हुई हैं और एक चक्कर प्रति दिन खाया करती है जिससे कि दिन रात हुआ करता है। नक्षत्रादिक भी चलते रहते हैं परन्तु पश्चिम से पूरबकी ओर जाते हैं और पूरबसे पश्चिमको जाते हुए दृष्टि पड़ते हैं। सो पृथ्वीके घुमाव से ही ऐसा प्रतीत होता है जैसे कि रेलगाड़ी वा जहाजमें चढने वाले यात्रियोंको दूरके मकान वा वृक्षादि चलते हुये नजर आते हैं वास्तवमें वे नहीं चलते तैसे ही पृथ्वीके घुमनेकरके सूर्यादि चलते हुये नजर आते हैं वस तरह कदापि नहीं चलते।

प्रश्न—महाराज पहले तो आपने पृथ्वियोंको अचल कहा था और युग रूपी कालको वा कालके आश्रित सब जीवोंको चल कहा था अब कहते हो कि पृथ्वीयां भी चलती हैं और एक चक्कर हमेशा खाया करती है। इस लिये आपके वचनोंमें भी पूर्वा पर विरोध आता है।

उत्तर—हाँ ठीक है परन्तु पहिले हमने केवल सर्व पृथ्वीयोंके चक्करको ही तो अचल कहा था भिन्न भिन्न पृथ्वीयोंको तो अचल नहीं कहा था। इस लिये पूर्वा पर विरोध मेरे वचनोंमें नहीं आता है।

और यदि सर्व पृथ्वीयोंके चक्करको ही घूमना माना जाय और सतयुगादि कालरूप चक्कर और कालके आश्रित जीवोंको अचल माना जाय तो भी मेरे माने हुये नाटकमें कोई तरहका फरक नहीं आ सकता इस वास्ते ऐसा माननेमें भी मुझे कोई उज्र नहीं है। क्योंकि ज्योतिष शास्त्रके जानने वाले कई विद्वान

तो एक सूर्यको अचल मान कर नक्षत्रादि सहित पृथ्वीको चल मानते है और कई विद्वान एक पृथ्वीको ही अचल मानते हुये सूर्य को नक्षत्रादि सहित चल मानते है। इन दोनोंमें से चाहे जिस एकको चल और दूसरेको अचल मानने से गणितमें किसी प्रकारका फर्क नहीं आता। इस लिये ऐसा भी मान सके है कि चारों युग रुपी काल और कालके आश्रित सर्व जीव तो अचल है और ८६४० पृथ्वीयोंका एक गोल चक्कर इस तरहका घूमा करते हैं कि पांच सो वर्षोंमें एक पृथ्वीकी जगह दूसरी पृथ्वी आजाया करती है। अर्थात् (४३२००००) वर्षोंमें इस चक्करका एक गुडका पूरा होता है। जैसे ७७८७ नम्बरकी जो यह पृथ्वी है इसकी जगह पांच सो वर्षोंमें ७७८६ नम्बरकी पृथ्वी आ जायगी और आपसमें इन सब पृथ्वीयोंमें जितना बीच है उतना ही बीच हर समय बना रहेगा। ऐसा माना जाय तो भी बहुत ठीक है। क्योंकि मुख्य पांच सो वर्षमें अलमदादिकोंका ७७८६ नम्बरकी पृथ्वीके साथ सम्बन्ध होना चाहिये। जिसमें चाहे हम लोग कालके साथ चल कर उस पृथ्वी तक पहुँचे चाहे वो पृथ्वी अपने चक्करके आश्रय से चलती हुई हमारे पास पहुँचे। सज्जन गणों इतना कह कर महात्माने निम्न लिखित सर्व पृथ्वीके चक्करका चारों युगादिकोंके सहित एक नकशा खींच कर सर्व सभ्यगणोंको अच्छी तरह से समझा दिया तत्पश्चात महात्मा कहने लगे प्रिय जनो इस समय रात्रि अधिक आ चुकी है इस लिये अभी तो आप लोग अपने अपने घरको जाइये मैं भी आराम करना चाहता हूं और फिर भी कुछ पूछनेकी इच्छा हो तो कल उसी समय चले आना जिस वक्त आज तुम लोग आये थे। मैं तुम्हारे संशयोंका निवारण भली प्रकार कर दूंगा कि जो तुम्हारे हृदयमें उपस्थित है।

इतना सुनते ही सभ्यगणोंने प्रसन्नता पूर्वक महाराजको नमस्कार करते हुये दूसरे दिन आनेकी प्रतिज्ञा करके प्रस्थान किया।

इति श्रीअद्भुत विचार ग्रंथे
द्वितीय भाग समाप्तः।

अथ अद्भुत विचार ग्रंथे

तृतीय भाग प्रारम्भ ।

तीसरे दिन फिर भी सायंकाल करीब ७॥ बजेके सब सभ्यगण एकत्रित होकर महात्माके आसन पर जाय नमस्कारादि करके इस प्रकार प्रश्न करने लगे महाराज इस ७७८७ सात हजार सात सौ सित्यासी नम्बरकी पृथ्वीके आश्रित रहने वाले अस्मदादिकनका ठीक पांच सौ वर्षोंमें ७७८६ सात हजार सात सौ छियासी नम्बर की पृथ्वी पर जन्म लेना आपने माना है । परन्तु इसमें आपकी भूल है क्योंकि जैसे कोई मन ही के लड्डू खाया करते हैं उन लड्डुओंमें मीठेकी कमी कभी नहीं करते तैसे ही आपने भी इन सर्व पृथ्वीयों पर मन वांछित नम्बर लगाया है जिसमें उलटा पन नहीं आने देना चाहिये था । अर्थात ७७८७ नम्बरकी पृथ्वीके जीवोंका पांच सो वर्षोंमें ७७८८ नम्बरकी पृथ्वी पर जन्म मानना वाजिब था लेकिन आपने इनके विरुद्ध ७७८६ नम्बरकी पृथ्वी पर जन्म गो किस वास्ते माना ।

उत्तर—वाहजी वाह यह तुम क्या कहते हो क्या आज तुम लोगोंने भंग तो न पी ली है क्योंकि इस देश निवासी भंगका बहुत ही आदर किया करते हैं इसीके प्रताप से ही तो विदेशियोंके मुँहके सामने ताकते रहते हैं फिर भी विदेशियोंको सभ्य और अपनेको असभ्य समझते हुवे अपनी संतान और अपने देशकी उन्नतिका कोई भी उपाय नहीं सोचते, सोचे कौन धनाढ्योंको तो देश आराम से

ही फुरसत नहीं मिलती और गरीब विचारा कर ही क्या सकता है कि जिसको पेट पूरा नहीं भरता खैर इन झगड़ोंको जाने दीजिये परन्तु तुमने हमारे लगाये हुवे पृथ्वीयों पर नम्बरोंको मन घड़ित कैसे समझा, क्या कोई विद्वान इन पृथ्वीयों पर मन घड़ित नम्बर लगा सक्ता है! नहीं, नहीं, कदापि नहीं; और यदि कोई मन घड़ित नम्बर लगा भी दे तो क्या गणितको जानने वाले विद्वान उनका उपहास न करेंगे? किन्तु करेंहींगे इस लिये मेरे ही लगाये हुए नम्बर को मन घड़ित समझना तुम्हारी नादानीके सिवाय और क्या है।

प्रिय जनों! गणित द्वारा जिस प्रकार नम्बरोंका लगाना चाहिये था उसी तरह नम्बर लगाया गया है जभी तो उलटा नम्बर आया है।

हां एक रीति से तो गणित द्वारा भी सीधा नम्बर भी आ सक्ता था। परन्तु उस रीति से नम्बर लगानेमें शास्त्रों से विरुद्ध चारों युगोंकी गढना भी उलटी करनी पड़ती अर्थात् कलियुगके अन्तमें एकका नम्बर लगा कर उल्टी रीति से चलते हुये कलियुगके आदिमें ८६४ का नम्बर लगना फिर द्वापरके अन्तमें ८६५ और द्वापरके आदिमें २५९२ का नम्बर लगता है इसी तरह से त्रेतायुग वा सतयुगके नम्बर भी समझ लेना।

यदि मैं भी इसी प्रकारसे नम्बरोंको लगाता तो इस पृथ्वी पर ७७८७. की जगह ८५३. आता फिर इस पृथ्वीके जीवोंका ठीक पांच सो वर्ष पश्चात् ८५४. नम्बरकी पृथ्वी पर जन्मना मान सकते थे इस प्रकार सीधा नम्बर भी आ जाता परन्तु शास्त्रोंने सतयुगके आदि से ले कर ही सर्व युगोंकी गणना की है उसीके अनुसार हमने भी पृथ्वीयों पर नम्बर लगाया है, अर्थात् इस समय जिस पृथ्वी पर

सत्युगका आदि है उसी पृथ्वी पर एकका नम्बर और जिस पृथ्वी पर कलियुगका अन्त है उसी पृथ्वी पर ८६४० का नम्बर लगाया है। लेकिन गणितको जानने वाले तो लगाये हुवे नम्बरोंको मन घडित कदापि नहीं कहेंगे जैसा कि तुम लोगोंने समझ रखा है।

पाठक गणों जब इस प्रकार महात्माके वचन सुन कर सभ्य जन लज्जित होते हुवे हाथ जोड़ कर क्षमाकी प्रार्थना करके परस्पर कहने लगे कि स्वामीजी गणितके हिसाबको भी खूब जानते हैं देखो पृथ्वीयों पर लगे हुवे नम्बरोंको कैसे स्पष्ट रीती से समझा दीया और पहले भी बहुत से प्रश्नोंका उत्तर हिसाब से ही समझा चुके थे अब हम लोगोंको पहिले ऐसे प्रश्न करने चाहिये कि जिसका उत्तर हिसाब द्वारा ही दीया जाय क्योंकि तरह २के हिसावोंको समझ लेना हम वैश्योंका मुख्य कर्तव्य है ऐसा विचार कर यह प्रश्न करने लगे।

प्रश्न—महाराज आपने पहिले कहा कि इस कल्पकी सृष्टीमें कुल ८४००००० चौरासी लाख वार श्रीजयन्ती महोत्सव हो चुकेंगे अब हम यह जानना चाहते हैं कि यह महोत्सव भूत कालमें कितनी बार तो हो चुका है और भविष्यत कालमें कितनी वार फिर होने वाले हैं कृपया इसका हिसाब भी आप हम लोगोंको अच्छी तरह समझा दीजिये क्योंकि शास्त्रोंमें वहुत सी जगह ऐसा लेख मिलता है कि श्रेष्ठ पुरुषोंके साथ समागम होने से ही पुरुष संशय रहित हुवा करते है इस लिये हमारा यह भी संशय दुर कीजिये।

उत्तर—प्रिय जनों! इस प्रश्नका उत्तर तो आप लोग स्वयं ही गणित द्वारा समझ सक्के हैं, कि सृष्टिकी आदि से ले कर आज पर्यन्त इतनी वार तो यह महोत्सव हो चुके है और आज से ले कर सृष्टिके अन्त तककी समयमें इतनी वार फिर होने वाले हैं

क्योंकि सन्ध्या करते समय द्विज इस संकल्पका नित्य प्रति उच्चारण किया करते हैं जिस से देश और कालका हर समय ज्ञात रहता है सो संकल्प यह है-यथा—

ओं अद्येत्यादि ब्रह्मणो द्वितीयप्रहरार्द्धे श्रीश्वेत वराह कल्पे जंबू द्वीपे भरत खंडे आर्यावर्तांतर्गत आह्मावर्तैक देशे कुमारीका पीठे वृहस्पति नद्ये अष्टा विंशतित्तमे कलियुगे कलि प्रथम चरणे श्रीमहा विष्णो बुद्धावतारे शाकेंद्र शालीमानभूपाले श्रीमन्नृपति विक्रमा दित्यराज्यात सम्वत देकोन विंशति तमेशत मिते नव षष्ठी तमोन्धिकेत्यादि ।

इस संकल्प से इतना तो सिद्ध हो ही चुकता है कि इस कल्पके आदिको एक अरब पचानवे करोड़ अठावन लाख पिच्यासी हजार तेरह वर्ष १,९५,५८, ८५,०१३) आज विक्रम सम्वत् १९६९ में हो चुके हैं इस संकल्पको सनातन धर्मावलम्बी आर्या वृत्तके द्विज लड़के भी जानते हैं इस लिये धन्य है इस सनातन धर्मको की जो वेद विहित है।

अब सुनीये इन (१९५५८८५०१३) वर्षोंमें से बारह करोड़ वर्ष वह निकाल देना चाहिये जो सृष्टीकी रचना वस्थामें लग चुका था पस इनको निकालने से शेष (१८३५८८५०१३) ही रहेंगे इसको पांच सो का भाग निकालना चाहिये क्योंकि पांच २ सो वर्ष से ही यह महोत्सव अर्थात् सार्गी खेल हुवा करता है। जब १८३५८८ ५०१३ को पांच सो का भाग निकालने से ३६७१७७० ही मिलता है पस समझ जाईये कि छत्तीसलाख इकत्तर हजार सातसो सत्तर वार

तो गत समयमें यह जयन्ती महोत्सव हो चुका है और २३६४११ ४९९७ वर्ष इस सृष्टीका बाकी है क्योंकि ४३२००००००० में से १९५५८८५०१३ निकालने से इतना ही रहता है जिसको पांच सो का भाग निकालने से सताळीस लाख अठाइस हजार दो सो तीस (४७२८२३०) मिलता है तो समझ लो कि सैताळीस लाख अठाइस हजार दो सो तीस वार ही इस कल्पकी सृष्टीमें यही महोत्सव फिर होने वाला है। इन गत और आगामी महोत्सवोंका मिलान करने से ठीक चौरासी लाख ही मिलता है। सभ्यगणों यह जो श्रीजयन्ती महोत्सवके हो चुके वा होने वालोंका हिसाब तुम लोगों को बतलाया गया है सो सूर्य सिद्धान्तादि जिन से कि सालदर साल पत्रे निकाले जाते हैं उन ज्योतिषके ग्रन्थों से ही कल्पके आदिको मान कर बतलाया है परन्तु हिसाब से विचारा जाय तो कल्पके आदिको एक अरब छानवे करोड, चौरानवें लाख तेरानवें हजार तेरह (१९६९४९३०१३) वर्ष हो चुके है। क्यों कि चार अरब बतीस करोड़ (४३२०००००००) वर्षोंका ब्रह्माका एक दिन होता है जिनमें चौदह मन्वान्तर हुवा करते है। तो पाया गया कि एक मन्वान्तरका तीस करोड़ पिच्यासी लाख इक-त्तर हजार चारसो अठाइस (३०८५७१४२८) महीनोंके समीप होता है। इस समय सातवें मनवान्तरका अठाइसवा कलियुग प्रचलित है इसलिये छव मनवान्तरोंके भोग चुकने से (१८५१४२८५-७१) वर्ष पांच महीने तो व्यतीत हो चुके। अब रहा प्रचलित वैवेश्वत मनवान्तर जिसके भी इस समय ग्यारह करोड़ असी लाख चौसठ हजार चारसो साढा ब्यालीस (११८०६४४४२॥) वर्षोंके समीप हुवा है। क्योंकि ६ मनूवोंके भोग चुकनेमें (४२८) चोकडी व एक सतयुग और त्रेतायुगके, सात लाख चालीस हजार

पांच सो साढे इकत्तर वर्ष बीत चुके थे इस लिये इन सप्तम मनुका ग्यारह किरोड छ्यासठ लाख चालीस हजार वर्ष तो कुछ सताइस (२७) चौकडीके होते हैं और पांच लाख पचवन हजार चार सो साढे अठाइस (५५५४२८॥) वर्ष त्रेतायुगके बाकी रहे थे, और आठ लाख चौसठ हजार (८६४०००) वर्ष द्वापरके व पांच हजार तेरह (५०१३)वर्ष इस वर्त्तमान कलियुगके इन सबोंको मिलाने से वही ग्यारह करोड़ अस्सी लाख चौसठ हजार चारसो साढ़ा ब्यालिस वर्ष ही इस मनुके आदिका होता है और भूत ६ मुनवों के बर्षोंको इसमें मिलाने से वही एक अरब छियानवें करोड़ चौरानवें लाख तेरानवें हजार तेरह (१९६९४९३०१३) वर्ष इस कल्पके व्यतीत हो चुके जिसको पांचसोका भाग निकालने से छतीस लाख अठानमें हजार नो सो छियासी (३६९८९८६) ही मिलता है। सो समझलो कि इतनी वार तो यही महोत्सव भूत कालमें हो चुका और सैतालीस लाख एक हजार चौदह (४७०१०१४) महोत्सव भविष्यत कालमें होने वाले बाकी है। पाठक सज्जनों जब इस प्रकार से सभ्यजनोंको महात्मा पहिले हो चुके और भविष्यात में होने वाले श्रीजयन्ती महोत्सवोंका हिसाब समझा कर फिर कहने लगे। प्रिय जनो! जिस प्रकार जितने जयन्ती महोत्सव भूतकाल में हो चुके है उसी प्रकार उतने ही आप लोगोंके जन्म भी भूतकाल में हो चुके है अर्थात् जयन्ती महोत्सवके साथ साथ तुम लोगोंके जन्म भी हुवा करते हैं और भविष्यात् कालमें जितने महोत्सव बाकी हैं उतने ही जन्म आप लोगोंके भी होने वाले है इन सब चौरासी लाख जन्मोंमें एक ही से खेल करते आये हैं वा करते रहेंगे जैसा कि इस जन्ममें इस शरीर करके कर रहे हैं। इस प्रकार प्रश्नका उत्तर पा कर सभ्यगण बहुत ही प्रसन्न हुये फिर हाथ जोड़ कर यह प्रश्न करते भये।

प्रश्नः—महाराज इस संसारको ईश्वरके देखने लायक परमात्माके रचे हुए एक प्रकारका नाटकके खेल रूप से आपने वर्णन किया है परन्तु जैसे हम लोगोंके देखने लायक नाटकका एक खेल चार या पांच घन्टेका हुवा करता तैसे ही ईश्वर है दृष्टा जिसका ऐसे जगत रूपी नाटकका एक खेल कितने समय तकका हुआ करता है यह भी कृपा करके बतलाईये।

उत्तर—सुनो भाइयों इस परमेश्वरी नाटकका एक खेल मनुष्योंके पांच सो वर्षों तकके समयका हुआ करता है। क्योंकि पांच पांच सो वर्षोंका ही एक २ समय हुआ करता है। इस वास्ते एक चौकड़ी अर्थात् तेतालीस लाख बीस हजार वर्षोंमें ८६५० समय हिसाबकी रूह से सिद्ध होता है और इस भूलोंकमें भी इतनी पृथ्वीयां हैं इस वास्ते एक एक पृथ्वी पर एक २ नूतन नूतन समय उपस्थित है और समयके ही आधीन नाटकका खेल होता है इस वास्ते हर एक खेल पांच सो वर्षकी समयका ही मानने योग्य है।

प्रश्न—महाराज इन परमेश्वरके रचे नाटकोंके खेल सर्व कितने प्रकारके हैं और किस २ प्रकार रीती से हुवा करते है। सो सर्व कृपा करके सुनाइये।

उत्तर—प्रियजनों जगदीश्वरके रचे हुए असंख्य ब्रह्मांड है इस से कहा जाता है कि (प्रभू पुर्ण ब्रह्म अखंडा, जाके रोम कोटि ब्रमंडा)

अर्थः—प्रभू अखंड पूरण ब्रह्म है जिनोंके रोम रोम प्रति कोटि २ ब्रमांड उपस्थित है। प्रिय जनों ! इन असंख्य ब्रमांडोंमें ब्रह्मा, विष्णु शिव आदिक देव भी असंख्य ही है इसलिये सृष्टियोंका कोई पारावार नहीं है इन ब्रमाडोंके बीच एक यह भी ब्रमांड है जिसमें चतुरदश लोक है इस वास्ते असंख्य ब्रमांडोंके असंख्य लोकोंकी असंख्य

सृष्टियोंके होने से नाटकोंका खेल भी असंख्य ही है इनकी संख्या कोई भी लगा नहीं सक्ता परन्तु इन चतुरदश लोकोंके भीतर ही यह एक भूलोक है इन भूलोंकमें आठ हजार छय सो चालीस पृथ्वियोंके होने से था सर्व पृथ्वीयों पर एक ही कालमें एक २ नूतन २ नाटकी खेलके होने से ८६४० प्रकारके ही नाटकके खेल मानने योग्य है। यह सर्व खेल सृष्टिके आदिमें शुरु हो कर अन्त पर्यन्त इस प्रकार से होते रहते हैं। सृष्टिके आदिमें एक एक पृथ्वी पर एक २ नूतन २ नाटकी खेल एक ही साथ शुरु हो जाते हैं फिर पांच सौ वर्ष पश्चात् इन सर्व खेलोंकी इस प्रकार बदला बदली होती है कि नम्बर दो (२) की पृथ्वी वाला खेल नम्बर एक (१) की पृथ्वी पर और नम्बर (१) एक की पृथ्वीका खेल नम्बर (८६४०) की पृथ्वी पर शुरु से आखिर तक पांच सौ वर्ष पर्यन्त होता रहता है इस प्रकार सर्वत्र समझ लेना। पांच २ सौ वर्षोंसे नाटकी खेलोंकी बदला बदली इस प्रकार होनेके हिसाब से एक चौकड़ी तककी समयमें एक २ पृथ्वी पर एक २ वार सर्व खेल हो चुके हैं।

इस लिये एक भूलोंकमें पृथ्वी भरकी सृष्टिका एक ही नाटक मानने से आठ हजार छयसौ चालीस नाटक सिद्ध होता है और यदि देस २ वा ग्राम २ अथवा घर २ प्रति अलहदा २ नाटक माना जाय तो भूलोंकको छोड़ कर एक इसी पृथ्वी पर असंख्य नाटक मान सके हैं इस वास्ते सर्व कितने प्रकारके नाटक है इसका उत्तर तो सिवाय ईश्वरके और कोई भी नहीं दे सक्ता परन्तु फक्त एक ही भूलोंकमें एक २ पृथ्वी पर एक २ नाटक मान करके ही आठ हजार छय सौ चालीस नाटक है और इस प्रकार अन्यो-अन्ये पृथ्वीयों पर बदल बदल होते रहते है सो सब आप लोगोंको बतला चुके अब और इच्छा हो सो पूछिये।

प्रश्न—महाराज एक ही कालमें सर्व पृथ्वीयों पर भिन्न २ समय और समयानुसार भिन्न २ नाटकका होना आपने कहा है सो तो हम समझ हो चुके परन्तु, यदि एक कालमें सर्व पृथ्वीयों पर एक ही समय माना जाय अर्थात् इस समय सर्व पृथ्वीयों पर यही एक समय जो कि कलियुगके आदिका है मानी जाय तो इसमें कोनसा दोस आता है।

उत्तर—सुनो भाईयों यदि इस कालमें सर्व पृथ्वीयों पर एक ही समय अर्थात् फक्त कलियुगका आदि ही मानना विचार द्वारा सास्तरों से विरुद्ध मालुम होता है क्योंकि शास्त्रकारोंने परमेश्वरमें निरअतशय भोग वा सुख माना है। जो सुख एक दूसरेकी अपेक्षा से इतने गुन न्युनाधिक है ऐसा वतलाया जाता है वो सुख अतस्यता दोस करके असित कहा जाता है और जो सुख सर्वकी अपेक्षा से अनन्त गुना अधिक कहा जाता है वही सुख निरअतशय कहलाता है जैसे कि यजुर वेदकी तैत्तरीयोपनिषदकी श्रुतियां कहती है। जैसे हजार पति से लख पतिको सुख अधिक है और लख पती से करोड़ पतीको सुख अधिक है और जिनकी आज्ञा इन लोगों पर चलती है सो इन से भी अधिक सुखी समझा जाता है क्योंकि धनाढयोंमें भी हुकूमतकी तृष्णा पाई जाती है तैसे ही युवा अवस्था वाला होवे और वलिष्ठ निरोग सुन्दर रूप वाले कला कौशलयमें निपुण बुद्धि वाले पण्डित और धन धान्य सम्पन्न ऐसे निस्कंटक चक्र वर्ति राजाको बुद्धिमान लोग मनुष्य सुखके अंतवाला कहते हैं। लेकिन ऐसे भूपति से भी मानव गंधर्वोंको सतगुण सुख अधिक है और मानव गंधर्वों से देव गंधर्वोंका शत गुण सुख अधिक है। देव गंधर्वों से पितरोंको सौगुना सुख अधिक है इन से अजान देवोंको और अजान देवों से कर्म देवोंको सोगुना

सुख अधिक है कर्म देवों से मुख्य देवोंको सौगुन सुख अधिक है और मुख्य देवों से भी देवराज इन्द्रको सौगुन सुख अधिक है देवराज से भी देव गुरु बृहस्पतिको सौगुन सुख अधिक है बृह-स्पति से भी प्रजापतिको सौगुन सुख अधिक है प्रजापति से ब्रह्मा जीको सौगुना सुख अधिक कहा है इस रीती से न्यूनाधिक सुखों की व्यवस्था कही है सो यह सर्व सुख अपेक्षित होने से अतश्यता दोष करके ग्रसित ही जानिये और परमेश्वरको इन सबोंकी अपेक्षा कितना गुन सुख अधिक है इसकी कोई संख्या नहीं है इस वास्ते निरअतश्य आनन्दकी प्राप्ती एक परमेश्वरमें ही घटती है अन्योंमें नहीं इस लिये परमेश्वरको सर्व कालमें सर्व भोगोंकी प्राप्ती है ऐसा शास्त्रोंमें स्पष्ट लेख पाया जाता है।

जब सर्व पृथ्वीयों पर एक यही समय अर्थात् कलियुगका आदि ही माना जाय तो पूर्वोक्त शास्त्रोंके वचनोंमें दोष आवेगा। क्यों कि जब सब पृथ्वीयों पर इसी समय एक कलियुग ही माना जाय तो परमेश्वरको इस समय अन्य युगोंकी सर्व समयके तमाम खेलों से वंचित ही मानना पड़ेगा सो ऐसा मानना ठीक नहीं। किन्तु इसी एक ही कालमें सब पृथ्वीयों पर चारों युगोंकी सब समय और समयानुसार सर्व खेलोंकी उपस्थित होना ही मानने योग्य है।

क्योंकि ऐसा मानने से ही ईश्वरके वास्ते सर्व कालमें सर्व भोगों की प्राप्तीको कहने वाले शास्त्र चरितार्थ होते हैं और सर्वशक्तिमान व सर्वज्ञ होने से ईश्वर एक ही कालमें सर्व पृथ्वीयोंके सर्व खेलों को देख रहे हैं और सर्व नाटकोंके खिलाड़ी जीवोंके सुख दुख वा कर्त्तव्य आदिकोंको भी एक ही साथ अनुभव कर रहे है। बोलीको सुन रहे हैं और पाप पुण्यको भी समझ रहे हैं इस लिये सब कोई मानते है कि चाहे जहां छिप कर पापादि बुरे कर्म

करे परन्तु वह्व कभी परमेश्वर से अविदित नहीं रहते इस प्रकारके विचार द्वारा सर्व पृथ्वीयों पर एक ही कालमें चारों युगोंकी नूतन नूतन समयका होना ही सिद्ध होता है और भी सुनिये सर्व जीवोंको कर्मोंके आधीन ही देस मिलता है अर्थात् नगर वा ग्रामादिकोंमें जन्म होना और कर्मोंके अधीन ही काल मिलता है अर्थात् सत्युगादि चारों युगोंमें से अमुक युगकी अमुक समयमें जन्म वा और कर्मोंके अनुसार ही मनुष्य वा पशु पक्षी आदिका शरीर मिलता है और न्यूनाधिक वा दुख सुखादि भोग भी कर्मोंके अनुसार ही मिलता है। इस वार्ताको सर्व आस्तिक विद्वान मानते है। अब सर्व पृथ्वीयों पर एक काल में ही एक ही समय माननी अर्थात् इस समय सर्व जगह कलियुगका आदि ही माना जाय तो सत्युग आदि चारों युगों की अन्योअन्य समयमें जन्मने लायक कर्मों वाले जीवोंकी इस समय सतयुगादिकनकी समयोंके अभाव से जन्म रहित ही मानना पड़ेगा और इस समयमें जन्मने लायक कर्मों वाले जीवों को अन्य सर्व समयोंमें जन्म हीन मानना पड़ेगा। जब ऐसा ही माना जाय तो एक चौकड़ी तककी समयमें एक ही बार जीवों का जन्म होना सिद्ध होवेगा परन्तु ऐसा लेख भी कहीं देखनेमें नहीं आया और युक्ती वा अनुमान द्वारा भी यह नहीं घटता कि एक चौकड़ी तककी समयमें अर्थात् तेतालीस लाख वीस हजार (४३२००००) वर्षों तक की समयमें सर्व जीवोंका एक एक बार जन्म हो कर शेष वर्षोंमें सर्व जीव जन्म हीन ही रहते हैं।

इस वास्ते सर्वत्र एक समयको न मान कर भिन्न भिन्न पृथ्वीयों पर भिन्न २ समयका ही मानना विचार द्वारा सिद्ध

होता है। क्योंकि ऐसा मानने से सर्व कालके युगादिकोंकी समयोंके सर्व जीवोंको पांच सौ वर्षमें सागी समय मिल जाती हैं और समयानुकूल पांच पाच सो वर्षों से ही पुनः जन्म हो जाता है।

प्रश्न—महाराज आपने कहा था कि कल्पके आदि से लेकर कल्पान्त तककी समयमें मनुष्य पूर्व जन्म वाले सागी ही सरीरको पाते रहते हैं और भोग भी वही भोगते हैं जो पूर्व जन्ममें भोग चुके थे और चेष्टा भी वही होती है जो पूर्व जन्ममें हुई थी सो पूर्व जन्मके सदृश ही चेष्टा होनेमें भगवद्गीताका प्रमाण भी आपने दीया था सो ठीक ही है परन्तु वैसाका वैसा पुनर्जन्म होना अभी तक हमारी बुद्धिमें नहीं जचता इस वास्ते कृपा करके और भी किसी युक्ती द्वारा हम लोगोंको समझाइये कि जिस से आपके कहने से पूरा विश्वास हो जाय।

उत्तर—परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ॥
धर्म संस्थाय नार्थाय संभवामी युगे युगे।

गीता अ: ४ श्लोक ८ वाँ।

अर्थ-साधू अर्थात् श्रेष्ठ (धर्मज्ञ) पुरुषोंकी रक्षाके लिये व दुष्कृति अर्थात नीचों (दुष्टों) के विनाशके वास्ते और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र यह चार वर्ण हैं व ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वान प्रस्थ, सन्यस्त, यह चार आश्रम कहलाते हैं। इन वर्णाश्रमोंके भिन्न २ धर्म, मनु आदि धर्म शास्त्रोंमें विस्तार पूर्वक वर्णन किये हैं उन वर्णाश्रमोंके धर्मका तिरो भाव होने से पुनः वर्णाश्रमोंके धर्मकी मर्यादा स्थापन करनेके अर्थमें. (भगवान्) श्रीकृष्णावतार बारम्बार धारण किया करता हूं यही इस श्लोकका भाव है।

भगवान्‌के इस वाक्य से यह सिद्ध होता है कि कृष्णावतार अनेक वार तो पहिले हो चुके और अनेक वार फिर भी होते रहेंगे। क्यों कि प्रवाह रूप से जगत् अनादि और अनन्त है। इसी लिये समयानुकूल बारम्बार कृष्णावतार भी होते रहते हैं।

अब इस विषय पर विचार करना चाहिये कि असंख्य वारके कृष्णावतारों की असंख्य प्रकारकी लीला अर्थात् अवतार, अवतारमें भिन्न भिन्न लीला होती है या श्रीकृष्णमें सर्व अवतारोंमें एक की ही लीला होती है जैसी कि पांच हजार वर्ष पहिलेके समयमें इस पृथ्वी पर हुई थी। कदाचित कोई कहे कि प्रति अवतार श्रीकृष्ण महाराजकी भिन्न २ लीला हुआ करती है सो तो असंभव है क्यों कि सद्‌ग्रन्थोंमें केवल यही देखनेमें आता है कि श्रीकृष्णजी द्वापर युगके अन्तमें वसुदेव देवकीके यहाँ मथुरामें जन्म कर नन्द यशोदा के घर गोकुलमें पाले गये थे इत्यादि सब लीलाका स्मरण कर लेना चाहिये। इन से विपरीत यह लेख तो कहीं नहीं देखनेमें आया कि अमुक कल्पमें या मन्वन्तरमें कृष्णावतार द्वापर युगको छोड़ कर सत्य युगमें वा त्रेता युगमें अमुक ब्राह्मण वा वैश्यके घर हुआ था और वह लीलाकी थी जो इन लीलाओं से विपरीत थीं इसलिये भिन्न २ लीलाका होना कदापि सिद्ध नहीं होता। फिर भी सुनिये इस समय इस कल्पकी सृष्टिकी लग भग ४५० साढ़े चार सौ चौकड़ी वीत गई हैं और एक चौकड़ीके पश्चात् पहिले वाला वही समय आ जाया करता है इसलिये इस कल्पकी सृष्टिमें भी इस भूमि पर ४५० चार सौ पचास वार कृष्णावतार हो चुकना सिद्ध होता है। यदि प्रथम अवतार से द्वितीय अव- तारकी लीला विलक्षण होती होवे तो एक श्रीकृष्ण महाराजके साढ़े चार सो प्रकारके जीवन चरित्र होने चाहिये सो तो दो या

तीन प्रकारके भी देखनेमें नहीं आते इस लिये प्रति अवतार भिन्न २ लीलाका होना न मान कर महाराजके सर्व अवतारोंमें एक सी ही लीलाका होना अर्थात् पहिले अवतारके सदृश ही द्वितीय अवतारकी लीलाका होना मानने योग्य है । सो लीला यह है—चन्द्र वंशी क्षत्रियोंमें महाराज यदुकी सन्तान यदु वंशी नाम से कही जाती थी जिन यदु वंशियोंमें शूर सेनके पुत्र वसुदेवजीका विवाह मथुरा नरेश महाराज उग्रसेनके कनिष्ठ भ्राता देवककी पुत्री देवकी के साथ हुवा था, जिनके उदर से श्रीकृष्ण महाराजका अवतार हुवा है । जिस समय महाराजका अवतार हुवा था उस समय वसुदेव व देवकी दोनों ही उग्रसेनके पुत्र कंसके हुक्म से एक अलहदे स्थान में कैद थे । परन्तु बालकोंकी हत्या करने वाले कंसके भय से वसुदेवजी श्रीकृष्णको प्रकट होते ही छिपा कर यमुना पार लेजा गोकुलमें अपने मित्र नन्दकी रानी यशोदाके पास जा सुलाया और यशोदाके भी उस समय एक पुत्री उत्पन्न हुई थी उसे इस विचार से ले आया कि कन्याको देख कर कंस नहीं मारेगा । परन्तु देवकीके आठवें गर्भ से अपनी मृत्युको समझने वाले निर्दयी कंसने उस कन्याकी हत्या करने से भी मुँह नहीं फेरा किन्तु एक और भी आज्ञा जारी करवा दी कि हालके जन्मे हुवे तमाम बालकोंको मार डालो । भर्तृहरिने ठीक ही कहा है कि दुरात्मावोंको अन्य प्राणियों पर करुणा (दया) नहीं आती उसी आज्ञाका पालन करनेके लिये पूतना राक्षसीने गोकुलमें आ कर अनेक बालकोंको हनन किया, पश्चात् जब महाराजको भी जहर लगे हुवे स्तनों से दुध पिलाने लगी तो महाराजने दुधके साथ ही उसी राक्षसीके प्राणोंको भी खींच लिये । इसी तरह कंसके

भेजे हुवे तृणावर्तादि अनेक राक्षसोंको महाराजने बाल्यावस्थामें ही मार गिराये।

वसुदेवजीकी दूसरी रानी रोहिणीजी जो कुछ दिन पहिले से ही नंदके घर रहती थीं उनके उदर से श्रीबलदेवजी पहिले से ही उत्पन्न हो चुके थे, धन्य व्रज वासियोंके भाग्यको जो उस समय श्रीकृष्ण बलदेवके बाल चरित्रोंको निरीक्षण करते हुए तुतली बोली को सुन कर जन्म सफल करते थे। अहा! उस समय समग्र व्रज मण्डलमें प्रभु श्रीभक्ति साक्षात् अपना स्वरूप धारण करके यमुनाके प्रवाहकी तरह बढ़ती हुई वृन्दावनको आच्छादन कर रही थी गोपियाँ मक्खनके लोभ से महाराजको अपने घर बुला कर आनन्दित होतीं थीं, महाराज भी गोप कुमारोंके साथ बच्छा वा गौ चराते, बांसुरीको बजाते, यमुनाके तीर रास विलास करके व्रज भक्तोंको इतना सुख देते थे कि जिनकी सोलवीं कलाका सुख भी स्वर्गमें नहीं है।

यमुना से काली नागको निकालना, गोवर्धन पर्वतको उठा कर इन्द्र वृष्टि से व्रज वासियोंकी रक्षा करना, फिर दोनों भाईयों का अक्रूरके साथ मथुरा पधार कर राजा कंसको चाणूर मुष्टिक आदि पहिलवानोंके सहित मारना, उग्रसेन महाराजको पीछे राज सिंहासन पर बैठाना, माता, पिताको कारागार से मुक्त कर आनन्दित करना, फिर नन्दादिकोंको धैर्य बँधा कर पीछे लौटना इत्यादि लीलायें की।

एक समय व्रज भक्तोंके प्रेमका चिन्तवन करके जल पूरित नेत्रों से महाराज उन्होंकी प्रशंसा करते हुए ऐसा स्मरण करने लगे।

चौ० कहाँ नवल व्रज गोप कुमारी, कहाँ राधे वृष भान दुलारी।

सो० कहँ सखन को संग कहाँ खेल वृन्दावन विपिन ।
कहाँ यह प्रेम तरंग, वंशीवट यमुना निकट ॥

आह ! यह कैसा स्नेहका वाक्य है इसका भाव समझने से हृदय पानी पानी हो जाता है इसलिये धन्य है व्रजको और व्रज भक्तोंको कि जिनके साथ महाराजका ऐसा प्रेम था । यह नियम ही है कि जो प्राणी ईश्वरके साथ जितना प्रेम करता है तो ईश्वर भी उस प्राणीके साथ उतना ही प्रेम करता है न्यूनाधिक नहीं ।

व्रज वासियोंने महाराजकी लीलाका निरीक्षण करके अति आनन्द लाभ किया था परन्तु जब महराज मथुरा से द्वारका पधार गये तब महाराजके वियोगका दारुण दुःख उन्हीं व्रज वासियोंको हुवा था इस से यह उपदेश मिलता है कि विषय जन्य सुख चाहे जैसा उत्तम क्यों न हो परन्तु संस्कार दुःख व परिताप दुःख व परिणाम दुःख इन तीनों प्रकारके दुःखों करके मिश्रित (मिले हुए) ही हुआ करते हैं और विषय सुख अनित्य भी होता है सदा एक रस कदापि नहीं रहता इसी लिये विद्वान लोग विषय वासनाको त्याग कर नित्यानन्द की प्राप्तिके लिये ब्रह्म विद्याका अनुसरण किया करते हैं ।

पश्चात् दोनों भाई सान्दीपनि पण्डितके घर विद्याध्ययन करने को गये वहाँ पर सुदामा ब्राह्मण से मित्रता होने से कालान्तरमें सुदामा द्वारिका आये तो उसको अटूट धन दे कर उसका दारिद्र दूर किया और गुरु दक्षिणामें समुद्रमें डूबे हुए गुरुके पुत्रको जीवित ला दिया । फिर मथुरा पर चढ़ आने वाले जरासिन्धकी सेनाका कई बार हनन किया और काल यवनको मुचुकन्दकी दृष्टि से भस्म करवा दिया पश्चात् राजधानीको मथुरा से उठा कर समुद्रके बीच द्वारिका पुरीमें स्थापन की । फिर शिशुपालादि अनेक राजाओंका

मान भंग करके कुन्दनपुरमें राजा भीष्मकी कन्या रुक्मिणीको अम्बा के मंदिर से उठा लाये इन से विवाह करके फिर सत्यभामादि सात पटरानियोंके साथ विवाह किया। पश्चात् जरासंधको भीमसेनके हाथ मल्ल युद्धमें मरवा कर अनेक राजाओंको कारागार से मुक्त किया और भौमासुरको मार कर सोलह हजार एक सौ राज कन्याओंको छुड़ाया और उनकी इच्छाके अनुसार उन से भी महाराजने एक ही साथ विवाह किया इस लिये महाराजकी असं-ख्य सन्तान बढ़ गई थी।

जब अनेक योद्धाओं सहित दन्तवक्र या मिथ्या वासुदेव आदिकों जो द्वारका पर चढ़ आये थे तो उनको मार कर महाराज युधिष्ठिरके राज सूर्य यज्ञके आरम्भमें शिशुपालको भी मारा। और जब कौरव पाण्डवोंके बीच ईर्षा द्वेष करके विरोध उत्पन्न होने से महाभारतका युद्ध आरम्भ हुआ तो उस समय मोह करके कर्मा-धर्मके विचार से रहित बुद्धि वाले अपने प्रिय सखा अर्जुनको युद्धमें पर भगवतगीताका उपदेश करके उनका मोह रूपी कार्पण्य दूर किया और विजय प्राप्ति करवा कर पाण्डवोंको पुनः राजा बना छत्तीस वर्ष निष्कण्टक राज्य भोग सुख प्रदान किया। जब महर्षि दुर्वासाके शाप के प्रभाव से देखमें कुल यदुवंशी परस्पर लड़ मरे और एक भीलके हाथ से पैरमें बाण लगनेके निमित्त से श्रीकृष्ण महाराज भी पीछे गोलोक धामको पधार गए तब पाण्डव भी उस समय बीर सन्यास धारण करके हिमालयमें द्रौपदी सहित जा गले।

अब जब कृष्णावतार होता है तब तब यही लीला हुआ करती है जो मैं संक्षेप से वर्णन कर चुका हूँ। इस से यह आपको मानना पड़ेगा कि जब जब कृष्णावतार होता है तब तब नन्द यशोदा गोपी

ग्वाल वसुदेव देवकी कंस कौरव पाण्डव आदिक असंख्य मनुष्य अरूर ही उत्पन्न होते हैं क्योंकि इन लोगोंके जो कि महाराजकी लीलामें सम्बन्ध रखते हैं उत्पन्न हुए बिना महाराजकी वही लीला कदापि हो ही नहीं सक्ती। जब नंदादि असंख्य मनुष्योंका महाराज के साथ साथ उसी समय पर उत्पन्न होना आप स्वीकार करेंगे तो यह भी आपको मानना पड़ेगा कि नन्दादिककी तरह हम लोग भी अपने उसी समय पर उत्पन्न हुआ करते हैं क्योंकि जैसे उस समय पर असंख्य मनुष्य थे तो अनुमान होता है कि उस से पहिले उन लोकोंके पुरुष भी थे तैसे ही इस समय पर उन्हींके सन्तान भी हैं जब यह असंख्य नन्दादि पहिले की तरह ही हुवा करते हैं तो उनके पुरुष वा सन्तान वा अन्य कोई किस तरह उसी रूप से उत्पन्न नहीं होंगे। कहनेका मतलब यह कि सबके सब उसी रूप में जरूर उत्पन्न होते हैं क्योंकि सृष्टिका कर्म सर्व जातियोंके वास्ते एकसा ही हुआ करता है।

जैसे एक वर्तमें बहुत से चावल पकाए जाते हैं उन चावलों में से एक वा दो चावल पके हुए देख कर अनुमान होता है कि यह सब चावल पके हुवे हैं। ऐसा अनुमान सर्वत्र माननीय होता है तैसे ही उन नन्दादिक असंख्य मनुष्योंका पूर्व जन्मके सदृश ही उत्तर जन्म होना अर्थात् उसी ही स्वरूप से उत्पन्न होना मानने से यह भी आपको अनुमान द्वारा मानना पड़ेगा कि अस्मदादि सब मनुष्योंका भी नन्दादिकोंकी तरह पूर्व जन्मके सदृश अर्थात उसी ही स्वरूप से उत्तर जन्म धारण किया करते हैं यह अनुमान भी पूर्व अनुमानके सदृश ही मान्य है। क्योंकि सब मनुष्योंका भी परस्पर सजातीय सम्बन्ध है।

इतना कह कर महात्मा फिर कहने लगे, प्रिय जनो! तुमने

युक्ति प्रमाणके वास्ते हम से पूछा था जिसके उत्तरमें बहुत सी युक्तियां हैं परन्तु यह युक्ति बहुत ही उपयोगि है सो कह सुनाई अब तुम लोगोंकी जो इच्छा हो सो पूछिये। इतना सुन कर सभ्यगण फूले न समाये और महात्माकी ओर इस युक्तिकी बहुत सी प्रशंसा करके इस प्रकार कहने लगे।

महाराज! इस युक्ति व प्रमाणों द्वारा व अनुमान करके उसी नाटकका होना तो हम लोक अच्छी तरह समझ गए परन्तु आपके मुख से निकले हुए वचनामृतों से अभी तक हम नहीं अघाये इस लिये अन्य कोई कथा वा युक्तियाँ जो कि इसी विषय पर हों कृपा करके फिर भी सुनाईये जिस से हमारी इच्छा पूर्ण होनेके साथ उसी नाटककी पुष्टि भी हो।

महात्मा बोले। सुनो भाईयों! रात्रि तो अधिक आ जायगी परन्तु कोई चिन्ता नहीं। कहते हैं चित देकर सुनिये—यह अध्यात्म रामायणके अयोध्या कांण्डकी कथा है कि जिस समय श्रीरामचन्द्रजी महाराजको वनवास करनेकी आज्ञा हुई थी उस समय उसी आज्ञाको सुन कर महारानी जानकी भी वनवासके लिये तैयार हो गई जब महाराज रामचन्द्रजीने वनकी आपत्तियाँ वर्णन करके महारानीको संग चलने से वारम्वार रोकने लगे तब तो सती गरज कर बोली महाराज! क्या, आपने कभी रामायण नहीं सुनी? यह तो बतलाईये पहिले कभी ऐसा कौन राम वनको गया कि जिसके साथ जानकी न गई हो। इतना सुन कर महाराज तूष्णी भावको प्राप्त हुये और जगदम्बा महाराजके संग चल दीनी। और सुनिये! योग वाशिष्टमें लिखा है कि महाराज काक भुसन्डी ऋषीने कहा कि मैने २७ सत्ताईस वार पहिले भी रामायणको हुए देखा था।

महाभारतमें लिखा है कि, जब श्रीकृष्ण महाराजके गो लोक धाम पधारने वा द्वारिका पुरीका सिन्धुमें निमग्न होनेके पश्चात् पांडव गणोंने यह निश्चय कर लिया कि अब हम लोगोंका खेल समाप्त हो चुका इस लिये हमको चाहिये कि अब इस असार संसारको छोड़ कर अपने लोकको चले जांय ऐसा विचार करके मथुराका राज्य प्रद्युम्नजीके पौत्र अनिरुद्धजीके पुत्र वज्रको वा हस्तिनापुरका राज्य परीक्षितको सौंप कर उसका भार सुभद्राको देकर द्रौपदी सहित पांचों भाई वीर सन्यास धारण करके हस्तिनापुर से चल निकले उस समय बाकी चारों भाई तो शस्त्र रहित थे परन्तु एक अर्जुन गांडीव धनुष बाण धारण किये था। जब चलते २ समुद्रके पास गये तो वहां पर अग्नि देवताने आ कर अर्जुन से कहा महाराज! यह समय शस्त्र रखनेका नहीं है इस लिये आप भी अपना गांडीव धनुष व अक्षय तूणी हमको सौंप दीजिये, जब फिर आपका अवतार होगा उस समय फिर भी यही धनुष बाण आपके वास्ते मैं लाकर उपस्थित कर दूंगा। इतना सुन कर अर्जुनने भी शस्त्र छोड़ दिया। और देखिये।

श्लोक। नत्वेवाहं जातु नासं नत्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वय मतः परम्॥

गी. अ० २ श्लोक १२

भगवद् वाक्यके इस श्लोकका अर्थ यह है कि मैं श्रीकृष्ण इस समय से पहिले नहीं था ऐसा तू मत जान किन्तु मैं कृष्ण से पहिले ही था और तू अर्जुन पहिले नहीं था सो भी नहीं किन्तु तू अर्जुन भी पहिले था और यह राजे लोक जो इस समय रण भूमिमें लड़ मरनेके लिये उपस्थित हुए हैं सो सब पहिले नहीं थे ऐसा भी तू मत समझ किन्तु यह राजे लोक सभी इस समय से

पहिले भी थे और भविष्यत् कालमें मै श्रीकृष्ण और तू अर्जुन और यहं सब राजे लोग फिर भी जरूर होवेंगे।

इतनी कथा सुनाकर महात्मा कहने लगे—प्रिय जनो! यह वही कथायें हैं कि जिनको पाकर मैं बहुत आनन्दित हुआ था और तुम लोगों से शास्त्रीय प्रमाण कह कर फिर बतलाऊँगा ऐसी प्रतिज्ञा की थी। अब इनके भावको भी समझ लीजिये जो कि हमारे मान्य उसी नाटकके होनेमें कितनी पुष्टि कर रहा है।

अध्यात्म रामायणकी कथा से यह सिद्ध होता है कि जब जब रामावतार होता है तब तब रामचन्द्रजी बनवासके लिये जाया ही करते हैं और महारानी जानकी भी महाराजके संग रहा करती हैं इस लिये अनुमान होता है कि रावणको मारना इत्यादि सर्व लीला भी वही हुवा करती है। योग वाशिष्ठकी कथा से यह सिद्ध होता है कि कृष्णावतारकी नांई रामावतार भी वारम्वार अपना समय पा कर अर्थात् हर त्रेता युगके अन्तमें हुआ करता है क्योंकि महर्षि काक भुषन्डीने कहा कि अठाईस वार रामावतार हुएको मैंने देखा।

प्रियजनो! इस समय वैवस्वत मनु महाराजको अठाईस वीं चौकड़ी प्रचलित है, किन्तु अठाईस वार ही इस मन्वन्तरमें इस पृथ्वी पर त्रेता युग आ चुका है और इतना ही महाराजका अवतार हुवा इस लिये हर त्रेतामें रामावतारका होना सिद्ध होता है, और कृष्णावतारका हर द्वापरके अन्तमें होना पहिले भगवद्गीताके प्रमाण से सिद्ध हो ही चुका था। जब श्रीकृष्णचन्द्र व रामचन्द्रजी इस पृथ्वी पर हर चौकड़ीमें एक २ वार अवतार धारण करते हैं तो अनुमान द्वारा जाना जाता है कि विष्णूजीके अन्य अवतार भी इन्हीकी तरह हर चौकड़ीमें एक २ वार इस

पृथ्वी पर अवश्य होते हैं। यहां पर हमारे पाठकोंको इस बातके जाननेकी इच्छा होती होगी कि कुल कितने अवतार, किस २ नाम वाले होते हैं और क्या क्या क्रिया करते हैं। इसका वर्णन संक्षेप से पूर्वार्ध समाप्त होने पर चौबीस अवतारोंके भजनमें करूंगा।

प्रिय पाठकगण! अवतारोंका तो नियत समय पर बारम्बार होना आपके सन्मुख सिद्ध हो ही चुका है अब इन अवतारोंकी तरह ही अस्मदादि जीवोंका भी उसी स्वरूपमें होना अनुमान व अवतारोंके दृष्टान्त से समझ लेना चाहिये।

शंका—यदि कोई कहे कि हर त्रेतामें रामावतार व हर द्वापरमें श्रीकृष्णावतारका होना तो ठीक जंचता है और लीला भी वही हुआ करती हैं परन्तु अवतारोंके दृष्टान्त से राम, कृष्ण, की तरह अस्मदादि जीवोंका बारम्बार उसी स्वरूपमें होना व चेष्टा भी वही होनी, मानने योग्य नहीं क्योंकि अवतार तो भगवानके हुआ करते हैं सो भगवान् स्वतन्त्र हैं और अपने कृत कर्म्मानुकूल फल सुख दुःखादि भोगके निमित्त अवतार धारण नहीं किया करते। और जीव परतन्त्र हैं सो अपने किये हुये कर्म्मोंके फल सुख दुःखादि भोगके निमित्त से ही बारम्बार कर्म्मानुकूल शरीर धारण किया करते हैं। इस वास्ते केवल भगवानका दृष्टान्त तो जीवों पर नहीं घटता।

समाधान—इसी शंकाका समाधान महाभारतकी कथा से भली प्रकार सिद्ध होता है। देखो इस कथा से अर्जुनका फिर अर्जुन ही होना सिद्ध होता है क्योंकि अग्निदेवने अर्जुन से कहा कि आप अपना गांडीव धनुष इस समय मुझको सौंप दीजिये जब आपका अवतार फिर से होगा उस समय फिर भी आपको यही महान धनुष वापिस लौटा दूंगा। प्रियजनो! इस समय भी

यह अजय गांडीव धनुष व अक्षय तूणि का अग्निदेवने ही अर्जुनको दिये थे। इस से सिद्ध होता है कि बारंबार अर्जुनको अग्निदेव ही गांडीव धनुष दिया करते हैं और खेल समाप्त होने पर पीछे ले लिया करते हैं। अब जरा विचार कीजिये कि अर्जुन ईश्वर कोटि में नहीं है। किन्तु जीव कोटिमें ही है इस लिये भगवानके अति-रिक्त अन्य जीवोंका जन्म भी बारम्बार अवतारोंकी भांति वही होता उपरोक्त कथा से खूब ही सिद्ध होता है।

शंका—कदाचित कोई कहै कि अर्जुन भी प्राकृति जीवोंकी नांई साधारण जीव नहीं है किन्तु देवान्स है और अर्जुन व श्रीकृष्ण नर नरायणका अवतार भी है, इसलिये प्राकृति जीवोंकी इन से तुलना नहीं होती। इस वास्ते साधारण मनुष्योंका अर्जुनके समान वहीका वही होना अर्जुनके दृष्टान्त से नहीं बनता।

समाधान—इस शंकाका निवारण भगवद्गीताके इसी श्लोक से हो सकता है जो मैं अभी आप लोगोंको सुना चुका हूँ।

भगवानने कहा कि मैं श्रीकृष्ण और तू अर्जुन और ये राजा लोग पूर्व कालमें भी थे और इस समय प्रत्यक्ष हैं ही फिर भविष्यत्में भी अस्मदादि सर्व होवेंगे। प्रियजनों! इस वचन से साफ प्रतीत होता है कि श्रीकृष्ण व अर्जुनकी तरह अन्य समस्त अस्मदादि जीव भी वही ही हुआ करते है, क्योंकि "इमे जनाधिपा" इस वचन से महाराजने ससैन्य सर्व राजाओंको हाथके इशारे से बतला कर कहा यह सर्व पहिले भी थे और आगे भी होवेंगे।

इसका भाव केवल स सैन्य राजाओं पर ही नहीं किन्तु सभी पर पड़ता है क्योंकि यह तो हो ही नहीं सकता कि उस समयके तो असंख्य मनुष्य वहीका वही हुआ करें और अन्य समयके नहीं इस वास्ते अस्मदादि सबोंका महाराजके कथनानुसार अवतारकी

नाईं वही शरीर व चेष्टाका होना भली भांति सिद्ध होता है, जैसा कि पहिले जन्ममें था।

पाठक वृन्द! इस प्रकार शास्त्रोंके आशयको भी वही नाटकके उपयोगी समझ कर सभ्यगणोंके आनन्दकी सीमा न रही और महात्माको हार्दिक धन्यवाद देते हुए इस प्रकार पूछने लगे—

प्रश्न—महाराज! अन्य कथाओंको तो किसीने सुनी है और किसीने न भी सुनी हैं परन्तु भगवद्गीताके मूल व अर्थको तो हिन्दू जातिके वैष्णव व शैव आदि प्रायः सब ही विद्वान विचारते हैं क्योंकि यह ग्रन्थ सबहीके लिये यहां तक परम पूज्य है कि अन्त समयमें कुटुम्ब वाले अन्य कथाओंको छोड़ कर केवल इसी भगवद्गीताको पढ़ कर सुनाया करते हैं। बहुत से विद्वान नित्यकर्मकी नाईं नियम बद्ध इसका पाठ किया करते हैं। बहुत से अर्थको विचार करते हैं अर्थात् भगवद्गीता अति प्रसिद्ध है। इस पर बहुत से विद्वानोंने संस्कृत अंग्रेजी, लेटिन, जर्मन आदि भाषाओंमें टीकाएं व अनुवाद भी किया है और कई सज्जनोंने हिन्दी में भी अर्थ करके छपा दिया है। इस वास्ते उत्तम व मध्यम बुद्धि वाले पुरुष कोई इसको विचार रहे हैं। यह तो बड़ी आश्चर्यकी बात है कि ऐसे सुप्रसिद्ध ग्रन्थमें फिर भी स्पष्ट रीति से साफ बोध होने योग्य इस सेम (वही) नाटकका होना अन्य विद्वानोंने क्यों नहीं कहा क्या राईकी ओटमें पर्वत छिपा रहता है?

उत्तर—महात्मा बोले—सुनो भाइयो! हमारे परम पूज्य स्वामी शंकराचार्यजी महाराजने इसी भगवद्गीता पर भाष्य किया है, उसका तात्पर्य अद्वैतकी सिद्धिमें है और, शंकर मतानुयायी महापुरुष व विद्वानोंने वे जो टीकायेंकी है सो सब अद्वैत मतके अनुसार ही है और वैष्णव सम्प्रदायक परम पूज्य चारों आचार्योंने जो टीकायें की हैं उनमें क्रम से किसीने तो द्वैतको और किसीने द्वैता-

द्वैतको किसीने विशिष्टा द्वैतको किसीने शुद्धा द्वैतको सिद्ध किया है और जिस जिस सम्प्रदायके वैष्णवोंने जो टीका की है उन्होंने अपने अपने आचार्योंके मतानुसार ही अपने मतकी पुष्टिके लिये ही की है। इस प्रकार हिन्दु धर्मके जितने आचार्यों व विद्वानोंने इस श्रीमद्-भगवद्गीता पर जितनी टीकायें की हैं इसके अक्षरार्थके भावको अपने मतकी पुष्टिके लिये ही खींचा तानी करनेमें प्रवृत्ति रहे है, अन्य अर्थके खोजनेका इन्हें अवकाश भी प्राप्त नहीं हुआ।

फिर भी सुनिये सत शास्त्रोंने पारमार्थिक वा व्यवहारिक व प्राति भासिक इन भेद करके तीन प्रकारकी सत्ता मानी है। जहां चेतन भिन्न अनात्म पदार्थ जगदादि सबको स्वप्न नगर व नभनीलताकी नाईं मिथ्या वर्णन किया है वहां पारमार्थिक सत्ताका उपयोग है और जहां जगतको वा जगत्के व्यवहारोंको भी सत्य माना है वहां व्यवहारिक सत्ता मानी गई है और जहां रज्जुमें सर्प सुक्तिमें रजत आदिक विना हुए पदार्थोंका भी सत्य वस्तुकी तरह प्रतीत है वहां प्राति भासिक सत्ता है। भगद्गीता पर विद्वानोंने जो टीकायें की हैं वहां पर मुख्य पारमार्थिक सत्ताका ही उपयोग किया है। इसीलिये व्यवहारिक सत्ता से सम्बन्ध रखने वाले वही नाटकके होने पर उन्होंने ध्यान भी नहीं दिया।

वही नाटकके होने पर ध्यान न देनेका एक और भी कारण है कि जिस वस्तुके प्रादुर्भाव करनेका सौभाग्य देनेकी रचना परमेश्वरने जिस शरीरके वास्ते निर्मित की है वह वस्तु उसी शरीर करके ही प्रकट हुआ करती है अन्यों से नहीं। देखो तार रेल वा विद्युत (बिजली) को काममें लाना इत्यादि अनेक कौशल इस समयमें प्रकट हो चुके हैं और फिर होते रहते हैं क्या पहिले समयमें कोई ऐसा शिल्पी विद्याका विद्वान् नहीं था? वा इन विद्याओंका प्रादुर्भाव नहीं कर सकता था? नहीं! नहीं!!

कदापि नहीं ! विश्वकर्मा से आदि लेकर बहुत से विद्वान भी थे और इन विद्याओंका प्रादुर्भाव कर भी सकते थे, परन्तु ईश्वरको इन्हीं समयके विद्वानोंको ही तार रेलादि इलमोंके प्रादुर्भाव करनेका सौभाग्य देना स्वीकार था ; इसीलिये पहिले समयके विद्वानोंने तार, रेल पर ध्यान भी नहीं दिया इस वास्ते वही नाटकके होनेका अन्य विद्वानोंके ध्यानमें न आने से भी कोई आश्चर्य नहीं है क्योंकि जैसे परमेश्वर सूक्ष्म से सूक्ष्म व स्थूल से स्थूल है अर्थात् छोटे से भी छोटा बड़े से भी बड़ा है और सर्वत्र व्यापक होने से सर्वजीवोंके अति समीप भी है, परन्तु राईकी ओट से पर्वतके छिपे रहनेकी नाई ईश्वरका सिवाय चित्त निरोधी योगियोंके अन्य प्राकृत जीवोंको साक्षात् कार नहीं होता, तैसे ही हरसमय अनेक विद्याओं व पदार्थ इस जगत्में छिपे हुए हैं, परन्तु सिवाय अधिकारियोंके अन्य किसीकी समझमें नहीं आते। इसलिये जिन जिनके प्रादुर्भावका सौभाग्य जिस २ को मिलना परमात्माने रक्खा है उन उनका प्रादुर्भाव उस उस करके ही हुआ करता है अन्यों करके नहीं।

प्रियजनों ! इतना सुन कर सभ्यगण बोले—महाराज ! आपकी दया से यह तो हम समझ गये "नत्वे वाहं" इस श्लोकार्थका भाव अन्य विद्वानोंने तो पारमार्थिक सत्ताको लेकर केवल आत्मा पर लगाया है और कहा है कि आत्मा पहिले ही था और आगे भी रहेगा अर्थात तीनों कालोंमें आत्माका अभाव नहीं होता और आप इसका भाव व्यवहारिक सत्ताको लेकर शरीर विशिष्ट जीवात्मा पर लगा कर कहते हो कि इस शरीर सहित आत्मा पहिले ही था और आगे भी रहेगा किन्तु इस सृष्टिके आदि से लेकर अन्त पर्यन्त उपस्थित रहेगा।

महाराज ! अन्य विद्वानों से आपके विचारमें इतनी ही विल-

क्षणता है इसलिये आपका विचार अवश्यय नूतन है, परन्तु हम लोग इस पर अविश्वास नहीं करते क्योंकि इसी भगवद्गीता से विद्वानोंने अनेक प्रकारके भिन्न भिन्न अर्थ निकाले हैं वैसा ही आपने भी एक प्रकारका विचित्र अर्थ निकाला है सो सब अर्थ अक्षरार्थके अनुकूल ही हैं। यह आप पहिले ही सिद्ध कर चुके थे कि हमारे शास्त्रोंके एक संकेत से अनेक प्रकारका मतलब निकलता है इस लिये आपका वचन मान्य भी है, परन्तु केवल इसी श्लोक से वही नाटकका बारम्बार होना तो सिद्ध नहीं होता।

प्रश्न—महाराज! इस श्लोकका तो यही भाव है कि श्रीकृष्ण अर्जुन और अन्य राजे लोग जो युद्धस्थलमें उपस्थित थे सो सब वर्तमान काल से पहिले भी थे और पीछे भी होते रहेंगे। इस भगवद् वाक्य से तो यह भी मान सकते हैं कि केवल एक ही जन्म पहिले थे, यह तो सिद्ध नहीं होता कि अनेक जन्मों से कृष्ण अर्जुन होते हुए चले आये हैं। इस वास्ते कृष्ण अर्जुनके अनेक जन्म होनेमें अन्य कोई शास्त्रीय प्रमाणकी आवश्यकता है सो भी पूरी कीजिये।

उत्तर—प्रियजनों! "ऐसी ऐसी बहुत सी शंकाओंका समाधान एक भगवद्गीता से ही भली प्रकार हो सकता है इस वास्ते भगवद्गीता सेम (वही) नाटकके होनेमें प्रमाण देनेके लिये बड़ी उपयोगी है। बहुत से विद्वानोंने इसका लक्ष निवृत्तिमें [illegible]या है परन्तु प्रवृत्तिमें भी इनका तात्पर्य खूब ही घटता है। यदि कोई विद्वान इस तरफ ध्यान देकर नूतन प्रकारकी टीका करे तो बड़ी ही आनन्द दायक और जगत्की उपकारणी हो। क्योंकि यह कल्पवृक्ष अमृतमय है। इसका फल रूपी अमृत तो विद्वानोंने विख्यात कर ही रक्खा है, परन्तु इसका पत्र पुष्पादि रूप अमृत व्यवहारिक सत्ताको

लेकर प्रवृत्ति मार्ग से विख्यात होनेकी पूरी आवश्यकता है। मैं भी कभी कभी इच्छा करता हूं कि किसी पण्डित महोदयकी सहायता लेकर गीताके अक्षरार्थ पर अपने दिलका भाव प्रकट करूं, फिर भी शरमाता हुआ सोचता हूँ कि मुझ तुच्छ बुद्धि खद्योत समको ऐसे महत् कार्यमें जो सूर्य सम विद्वानोंके करने योग्य है हस्ताक्षेप करनेका साहस करना ठीक नहीं। अब सचित्त होकर अपने प्रश्नका उत्तर सुनिये जिसके लिये म भगवद्गीताका ही प्रमाण देता हूँ।

श्लोक—बहूनिमे व्यतीतानि जन्मानि तवचार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि नत्वं वेत्थ परं तप॥ अ० ४ श्लो. ५

अर्थ।—श्रीकृष्णजी कहते है, हे अर्जुन! हमारे और तुम्हारे आगे बहुत से जन्म व्यतीत हो चुके हैं उन भूतकालके सर्व जन्मोंको मैं जानता हूँ परन्तु तू नहीं जानता।

सभ्य जनो! इस से अधिक और प्रमाण क्या होगा? इसका तात्पर्य आप समझ ही गये होंगे, परन्तु यह भी मैं खोले देता हूँ कि पूर्वके सर्व जन्म महाराजको ज्ञात और अर्जुनको अज्ञात क्यों था इसका कारण यह है कि योगियोंको चित्त निरोधके प्रसाद से तीनों कालोंके दूरस्थ व समीपस्थ सर्व पदार्थ कर बिल्ववत् (हाथमें फलकी नाई) प्रत्यक्ष रहता है। युक्त व युञ्जान भेद करके योगी भी दो प्रकारके होते हैं। जो बिना किये किसी साधनके जन्म से ही योगी होता है वही युक्त योगी है। और जो साधन सम्पन्न हो कर अभ्यासके बल से सिद्धियाँ पाता है वह युञ्जान योगी है। युक्त योगी ईश्वर कोटिमें होते हैं और युञ्जान योगी जीव कोटिमें।

बाल्यावस्थामें ही यशोदाको मुखमें त्रिलोकी दिखलाना व रज्जू से बन्धनमें नहीं आना ऐसे ऐसे अलौकिक चमत्कार दिखलाने से श्रीकृष्ण महाराजको युक्त योगी समझना चाहिये इसलिये

महाराज त्रिकालज्ञ थे और अर्जुनमें किसी प्रकारका पूर्ण योग नहीं था इस लिये उनकी त्रिकालज्ञ दृष्टि नहीं थी परन्तु उत्तम अधिकारी जरूर थे।

सभ्य गण, अब तो आपको निश्चय हो गया होगा कि नन्दादिकोंकी भांति हम लोग भी कई जन्मों से यही होते हुए चले आये हैं जैसे कि पहिले जन्मोंमें थे।

इतना सुन कर सभ्यगण कहने लगे,—महाराज! आपके प्रसाद से यह शंका भी हमारी अच्छी तरह से निवृत्त हो गई और यह भी हम समझ गये कि भगवान्के अवतारों व नन्दादिकों की तरह हम लोग भी अपना समय पाकर वही शरीर धारण करते हुए वारम्बार उत्पन्न हुआ करते हैं। परन्तु इस विषय पर एक और भी शंका उपस्थित है कृपया उसका भी निवारण कीजिये।

प्रश्न—महाराज! वही समय तो, एक चौकडी के अर्थात् ४३,२०००० तैतालीस लाख, बीस हजार; वर्षोंके पश्चात ही आया करता है कृष्णावतार वो नन्दादिक भी एक चौकडीके पश्चात् ही पुनः वही समय आने पर उत्पन्न हुआ करते हैं और हम लोगोंके वास्ते पांच पांच सौ से ही पुनः जन्म होना आपने कहा है इसलिये ४३,२०००० वर्षों से उत्पन्न होने वाले नन्दादिकोंका दृष्टान्त पांच पांच सौ वर्षों से उत्पन्न होने वाले अस्मदादिकों पर ठीक नहीं जंचता।

उत्तर०—सभ्यगनो! आप क्या सोच रहे है? क्या इस भूलोक में आठ हजार छै सौ चालीस (८६४०) पृथिवियोंके होने पर इसी एक पृथ्वी पर तो सृष्टि और वर्णाश्रमोंके धर्मकी मर्यादा स्थापन व धर्ममें ग्लानिके कारण अवतारोंकी आवश्यकता है और अन्य

आठ हजार छे सौ उन्तालीस (८६३९) पृथ्वियों पर सृष्टि वा धर्मकी मर्य्यादा वा अवतारोंकी आवश्यकता नहीं है? नहीं। नहीं!! ऐसा कदापि नहीं हो सकता। क्यों कि यह सर्व पृथ्वियों एक ही लोककी होने से सजातीय धर्म वाली है। इस लिये सर्व एकसी हुई है और सृष्टि व धर्मकी मर्यादा व वारम्वार अवतारोंका होना सर्व पृथ्वियों पर समयानुकूल एकसा ही हुआ करता है इस लिये आप लोगोंको ऐसा निश्चय करना चाहिये कि जहां पृथ्वी है वहां सृष्टि अवश्य हुआ करती है और जहां सृष्टि होती है वहां धर्मकी मर्यादा भी हुआ करती है अतः मर्यादा प्रकृतिका धर्म होने से समयानुकूल बनती बिगड़ती भी रहती है सदा एक रस नहीं रहती क्योंकि प्रकृतिके कार्य परिणाम वादी हुआ करते हैं। इस लिये जिस २ पृथ्वी पर धर्मकी मर्यादा भंग होती है उस समय उस उस पृथ्वी पर महाराजका अवतार भी हुआ करता है। इस से यह सिद्ध होता है कि महाराजका अवतार भी अस्मदादिकोंकी भाँति पांच पांच सौ वर्ष से अन्य अन्य पृथ्वीयों पर होते हुए एक चौकड़ीके पश्चात् फिर दुवारा उसी पृथ्वी पर हुवा करता है। ऐसा नहीं होता कि एक बार अवतार होकर फिर तेतालीस लाख बीस हजार वर्ष (४३२००००) तक महाराज कृष्णावतार धारण न करें। नन्दादिक जो महाराजकी लीलामें सम्बन्ध रखने वाले हैं वह भी सर्व पांच पांच सौ वर्ष से ही पुनः हुआ करते है इस वास्ते अस्मदादिकों पर नन्दादिकोंका दृष्टान्त व नन्दादिकों पर अस्मदादिकोंका दृष्टान्त खूब ही घटता है इसमें कोई प्रकारकी शंका होने योग्य नहीं है।

पाठकगण! सच्चिदानन्द महात्मा से इस प्रकारका वचन सुन

कर कहने लगे, कि महाराज! आपने अति उत्तम और गूढ़ रहस्य को बतला कर हम लोगों पर बड़ा ही उपकार किया है इसलिये हम आपके ऋणी है हम लोगों से हो सके ऐसी कोई सेवा करनेके लिये आज्ञा दीजिये जिस से हमारा ऋण रूपी बोझ कुछ हलका हो।

महात्मा इन पुरुषोंकी श्रद्धा भरी वाणीको सुन कर कहने लगे—सुनो भाइयो! आप लोग हमारे ऋणी नहीं हैं किन्तु हम तुम सब परमेश्वरके ही ऋणी हैं सो ऋण रूपी दोष अपने २ कर्तव्य पालन करने ही से दूर होता है इस लिये हमने जो कुछ तुम्हारे प्रश्नोंका उत्तर दिया है अपना कर्तव्य समझ कर ही दिया है इसका आप लोगों पर मैंने कोई अनुग्रह नहीं किया है और आप लोग जो हमारा उपकार मान कर प्रत्युपकार करनेके लिये कटि बद्ध हुवे हो सो सज्जन पुरुषोंका यही कर्त्तव्य हुआ करता है कि जो कोई अपने ऊपर उपकार करे उसके साथ तन, मन, धन करके प्रत्युपकार किये विना, कदापि नहीं रहते। इसलिये मैं तुम्हारे हृदयमें सज्जनताका अंकुर उत्पन्न हुआ देख कर बड़ी प्रसन्नताके साथ तुमको धन्यवाद देता हूँ क्यों कि इस समयमें सज्जन थोड़े ही होते हैं अधिक तर तो ऐसे होते हैं कि किये हुये उपकार भी नहीं मानते, और कई ऐसे होते हैं कि उपकारको मानते हुए भी प्रत्युपकार करनेमें प्रयत्न नहीं करते, और किये हुवे उपकारको समझ कर प्रत्युपकार करने वाले तो बिलकुल ही कम होते हैं।

तन करके नमस्कारादि और मन करके मान सत्कारादि सेवा हुआ करती है सो तो आप लोग हमारी सेवा कर ही रहे हो अब, रही धन करके सेवा करनी सो धनकी तो गृहस्थियों को जरूरत रहती है हम साधुवोंको धनकी अभिलाषा नहीं है और होनी भी

नहीं चाहिये इस लिये सब प्रकारकी सेवा हमारे वास्ते आप लोग करही रहे हैं, अतः कोई तरहका संकोच न करके जो कुछ हम से पूछना हो कल इसी समय आकर पूछना । अब विलम्ब होगया है आप लोग अपने २ घर पधारिये ।

इतना सुनकर सभ्यगण महाराजको नमस्कार करके उठ खड़े हुए और रास्तेमें जब तक घर न पहुंचे परस्पर महात्माकी प्रशंसा करते रहे ।

इति श्रीअद्भुत विचार ग्रंथे तृतीय भागे पूर्वार्ध समाप्त

भजन लावनी ॥

चौबीस अवतारोंकी ॥

आदि पुरुष अविनाशी भक्त हितकारि धरया चौवीसों अवतार कथा न्यारे न्यारे ।

सनकादिक अरु यज्ञ रूप धर प्यारे है हय ग्रीव, वराह, भगवान् दैत्य संहार ।

नर नारायणका स्वरूप हरि धारे है तप किया । जाय बद्री-नाथ केदारे (उड़ावनी) कपिल देव महाराज ज्ञान अपनी माताको दीना दत्त अब धूर्त होय चौवीस गुरु कर ली......ना । ऋषभ देव अवतार आठवां राज छोड तपकी......ना (मे) राज छोड़ तप कीना जयन प्रचारे ॥ धरया ॥ प्रथु राजाने पृथ्वी रूप गोपाळे है सत व्रतको मच्छ बन प्रलय काल देखा......ले । कच्छप बन कर पहाड़ पीठ पर झाले है समुन्द्र मथ कर चौदह रत्न निकाले (उ०) वैद्य धनवन्तर ले कर औषधी सिंधुमें से आ...या । मोहनि रूप धर दैत्य मोय देवनको अमृत पा......या । खंभ फाड नरसिंह देव प्रह्लादका प्राण बचा...या । (मे) प्रहलादकाप्राण बचाया हिरणा कुस मारे ॥ धराया ॥ २ ॥ वामन बन राजा से छळ कीना । है तीन पगमें लिया सब लोक इन्द्रको दी......ना । ब्रह्माके कारण हँस रूप धर लीना । सतयुगमें हुवा है ध्रुव भक्त रंग भीना (उ०) धूजीकी भक्ति देख नारायण अपने लोक से आ...ए । गजकी पुकार सुनी हरिजुने गरुड़ छोड़ कर धा......ए । इकीस वार निक्षत्रि करके परशुराम सुख पा......ये (मे) परशुराम सुख पाये भू भार

उतार ॥ धरया ॥ ३ ॥ सद् श्याम महाराज गुरु सुख दाई। हे चारों भेद सगरे पुराणकौ साख चला......ई। राजा दशरथ गृह प्रगट भये चारु भाई सिया जनक सुता श्री रामचन्द्रको दया......ई (ट) नर्मद जाय सुग्रीव मित्र हित बालि मारा धं......का। सेतु बांध मन्या-पन ले कर तोड़ दिवी गढ़ लंका रावण मार अयोध्या पधारे हनु-मानका डं......का (भे) हनुमानका डंका अहिल्या तारे॥ धरया ॥४॥ शीश मुकट कानो बिच कुंडळ सोहे। श्रीनंद नंदन निरखो चितवन कर जोवे। बंशी बजा कर गोपिनका मन मोहे। गिरधर धर नख पर मान इन्द्रको खोवे (•ठ०) बुध कहे तुम यज्ञ करो मन असुरन को समझाने। कलयुगमें निकलंकी होवेगा श्रीमद्भागवत .गा'''ने। चोबीसों औतारकी लीला भक्तनके मन भावे (भे०) भक्तगाळ मन भावे श्रीकृष्ण विहारे॥ धरया चौबी सों अवतारके वया न्यारे न्यारे ॥ ५ ॥

अद्भुत लावनी ।

दोहा—साजन सभा रचायके प्रश्न कियो करि. जोर ।
किसको भज भव निधतिरूं संशय मेटो मोर ॥

विष्णु, शिव, गणपती, शक्ति अरु भानू । है कौन बड़ा देवनमें जिनको मानू ॥ हरि भक्त कहे सुन साजन बात हमारी । है सबमें शिरोमणि श्रीबैकुंठ विहारी । संख चक्र धर भक्तनके हितकारी । जाहि नेति नेति कर गावत सुरती सारी । जब जब भीड़ पड़त है देवनमें भारे । तब तब रक्षा करत है धर धरके अवतार । बड़े-बड़े दानव वा दैत्यनको मारे । ध्रुव प्रह्लाद आदि ले भक्तनको तारे । महालक्ष्मीजी चरनकी चेरी जानू ॥ १ ॥ है कौन बड़ा देवन में जिनको मानू ॥ अमंगल शिव हम इस कारण नहीं ध्यावें । गल रुंड माल तन चिताकी भस्म लगावें । संग भूति प्रेत गण आक धतूरा खावें । गणपत शिव पुत्र कुरूप चित नहीं चावें । अबला सदा मलीन है जानत खलक तमाम । नर से जो नारी हुवे अपे शक्तिको नाम । भानू नित भरमण करे पलक न ले विश्राम । कैसे अपने भक्तके सिद्ध करेंगे काम । इस लिये किसीके वचन सुनो मति कानू । है कोन बड़ा देवनमें जिनको मानू ॥ २ ॥ शिव भक्त कहे क्यों झूठ कहत है भाई । त्रिभुवनमें कोन है शङ्कर सम सुख दाई । विष्णु शिव भजके सारी सम्पदा पाई । तू बार बार क्या उनकी करत बड़ाई ॥ जलते देखे सबनको किया जहरका पान । शिव सब हीके पूज्य हैं गावत वेद पुरान । काशी पुरी निज धाम तहाँ देत मुक्तिको दान, आप सदा त्यागी रहे उत्तम अधम समान शिव पुत्र गणपती विघन हरन पहिचानू ॥ है कौन बड़ा० ॥ ३ ॥

जब गजानन्दका शिवको पुत्र बताया, गणपती भक्त कर क्रोध यह वचन सुनाया । है आदि देव गणेश सब से पहिले पुजाया, ढूँढी से ब्रह्म, विष्णु, शिव उप जाया । विघ्न हरण मंगल करण श्रीगन-

पत महाराज, ऋद्ध सिद्ध दे भक्तको सिद्ध करे सब काज, त्रिपुरा-सुर से युद्ध में हारी देव महाराज, एक दन्तको पूज शिव रखी सबनकी लाज। इन कारण श्रीगणपति सदा उर आनू ॥ है कौन० ॥ ४ ॥ भगवति भक्त कह वृथा यह क्यों बकते हैं, बिन शक्ति क्या कोई कारज कर सकते हैं। महा माया भजके सबका काम थकते हैं, ज्यों समय समय पर सारे फल पकते हैं। विष्णू उपासना कर के बन गया मोहिनी प्यारी, शिवजी भी धरके ध्यान हो गये अर्ध अंग नारी। कोटि अन्ड उत्पन्न किया जिनमें सृष्टि सारी। शिव,ब्रह्मा विष्णु आदि ल है सबकी महतारी। पुरुषारथ चाहो तो शक्ति गुन गानू ॥ है कौन बड़ा० ॥ ५ ॥ सूरजका भक्त सुन बचन चारोंके हाले, प्रत्यक्ष देव एक भानू सबकूं भासे। उत्पति पालना हेतु फिरत प्रकाशे, जब कोप करे हो परलय सभी विनाशे। दोय रूप सरगुण निरगुण एक भानूके जान, सगुण रूपसे तम नशत निर्गुण, नाशत अज्ञान शिव सनकादिक ऋषी मुनी धरत इन्हींको ध्यान भवसागर तिरनो चहे तो बचन हमारो मान। स्वयं प्रकाशका धर हिरदय बिच ध्यानू है कौन बड़ा ॥ ६ ॥ पुराण बेद-पांचोंकी महिमा गावें,भोळे भाई सुन २ के भरम उपजावें। है कौन बडा यह निश्चय होन न पावे। सत गुरुको ढूढ़ जो इनका भेद बतावें।

शिष्य वित्तके हरणमें चातुर गुरु अनेक, संशय भ्रम छेदन करे सो लाखन बिच एक। शिष्यमें भी होने चाहिये तिव्र वैराग्य विवेक षट संपत मुमुक्षुता दैवी लक्षण विशेष ॥

सच्चे गुरुवन पे तन मन धन कुरबानूजी सच्चे गुरुवनपे।
राम बक्स कुरबानु, है कोन बड़ा देवनमें जिनको मानू ॥

अवश्य पढ़िये

जैसा अद्भुत विषय इस पुस्तकमें समर्थन किया गया है
ही यों अद्भुत बातें सर्व साधारणके सन्मुख रखनेको मैं क्षमा म
हूँ और उन सवालोंको हल करनेके लिये सब से प्रार्थना करत
पहिले प्रश्नके उत्तर देने वाले अपना उत्तर जवाबी पोस्टकार्ड
दिसम्बर सन् १९१६ तक नीचे लिखे पते पर लिख भेजें।
विचार नामक पुस्तककी एक प्रति और क्षुद्र भेटके उनकी से
पहुँच जायगी और दूसरी बात जो महाशय करके दि
उनको भेट उक्त पुस्तककी पांच प्रतियां की जावेंगी यद्यपि
उस अद्भुत कार्यके योग्य यह कोई उचित भेट नहीं है।

प्रश्न चौपटके खेल सम्बन्धी।

तिर्रा (तीन) और चौक (चार) की चोटमें कितना अन्त
और उनका क्या र आप हैं। जैसे नीलाममें किसी भी आ
लगानेका भाव दशका और फड़का भाव सौका होता है।
प्रकार हिसाब से तिरीका क्या दर होना चाहिये और
का क्या?

जलमें तैरने वालोंके लिये

जल थोड़ा हो या बहुत गहरा हो उसमें मनुष्य इसे प्र
अद्भुत रीति से तैर सकता है। अर्थात् बिना हाथ पैर हिलाये
रहना और सो जाना और इच्छा सुख बैठ जाना पुस्तकको हा
लेकर पढ़ जाना और पास वालोंको भी सुनाते रहना। मेरे
प्रश्न असम्भवी नहीं है किन्तु मैं स्वयम् सिद्ध कर सकता हूँ।

मिलनेका पता—

माहेश्वरी रामबगस दमाणी।

बीकानेर